

है। मानों काल यही सिद्ध करता है। जिम्मा दखते हैं कि है, देखते-देखते वही भगले क्षण हमारे लिए अनहुषा हो जाता है। अर्थात् जिसकी उत्पत्ति है उसका विनाश है। फिर वह क्या है जिसमें यह सब उत्पत्ति विनाश की लाना चलती रहना है, इसलिए जिसका अणना आदि है न अत है? न जिसकी उत्पत्ति है न विनाश है?

यह केवल और अक्षण्ड सत्य पाया क्या तय? जाना कैसे जाय?

इसलिए लगता है कि जानन में अणन अज्ञान आता है और पान में केवल नाशवान्। इसलिए जहां तक पान का सम्बन्ध है अनिश्चितता और व्ययता ही उसका सार रह जाता है और दुःख, विरह वियोग अथा ही एक उपलब्धि अण आती है।

मैं देख रहा हू कि मेरा मैं ही सबसे बड़ी बाधा है। उसी अर्थ पर मुझे जीना होता है। पर वही सबसे बड़ी अर्थता है। इस तरह अणन प्रति ही लौटकर मान वाला जीवन भार सरीखा हो जाता है। मैं अणन का पाऊ करने वाला ने यह अणिगिग अहद की है। हाथ उनके क्या आया है, मामूम नहीं हो सका है। मैं का बिंदु इस अक्षण्ड सत्ता के सागर में से मानो पृथक छिटकी हुई अण के मानिद है। उसमें सत्यता है ही नहा। इसलिए मैं को पान की कोशिश अत में वही नहीं जायगी, पछाठ सावर अणन पर ही लौटकर सिखती रह जायेगी। यही मैं की सबसे बड़ा अक्षतापता है कि वह अणने को मान रहता है और अणन से छू नहीं पाता।

सब पूछिए तो यह अियगता मैं के लिए अनिवाय नहीं है। अन्कि अनिवाय उसमें उलटी अवस्था है अर्थात् मुक्ति की अवस्था। यहां जगत में कोई या कुछ भा नहीं है जो सम्बद्धता से रहित हो। अणनपण और परस्परअणन पर समस्त मृष्टि टिकी है। कोई उस भाव और प्रभाव से अणित नहीं है। अर्थात् अणन के अण अण मुक्ति का आदान अुता फना है। अणन में अणना ही अणन हर कोई मुक्ति में जी सकता है।

दाए रहते हुए प्रतीत और अनागत को भी वतमान में ले आने की क्षमता अब चेतना में होती है तब मानों उसको जीना कहा जाता है। बिनाय जीवन समय का अधीन नहीं होता। अधिक-से-अधिक समय का सगी यह होता है अथवा तो मुक्त एवम् विभू होता है।

यान् सबको समाता खाता चला जा रहा है। फिर भी परम्परा आज जीवित है। उस परम्परा का द्वारा ऐतिहासिक के पार अतिहासिक तब जीवित है। इस प्रकार मुद्गर प्रतीत वतमान से मित जाना है। माहित्य द्वारा उसी प्रकार मुद्गर भविष्य को भी चेतना के जोर से खींचकर हम आज में बांध लत हैं। इस पद्धति में धीरत और वितत हुए आस को मानो स्थिरीभूत करने की क्षमता हममें आ जाती है। हम मोचते हैं और इस मोचन का जरिय मानों अपन ही धीरते हुए जीवन से अलग होकर मात्र सांगी बन जाते हैं। तब आज हमारे सामने में बहता हुआ चला जाता है हम पर उसका बल नहीं चलता। जीनवाला प्राणी अपनी आयु की समाप्ति पर समाप्त हो जाता है पर उस द्वारा सोचा हुआ विचार और देखा गया दृशन ज्या-का-त्यो कायम बना रह जाता है। यह मानों समय को चुनौती देता हुआ अमर बनता है।

तो यही चरम है नित्य और अनित्य का चरम। हमारे जीवन में अथवा ही कुछ नित्य है। किन्तु जिसमें उच्च नित्यता का बीज को सुरक्षित बनाकर रखा गया है वह अनित्य और अस्थायी है। उसी को लेकर सायद यह सकार है जो मूल और प्रत्यक्ष है। इसमें वह जो नित्य है अमृत और परोक्ष बना रहता है। उसे कगे पाया देखा जाय यह मापना और समस्या का ही विषय बन रहता है।

मैं जब तक हूँ मेरे लिए इतर भी है। अर्थात् मैं हूँ ही ही हो सकता है। दूसरा उपाय नहीं है। हाना मात्र स्थित है। कुछ क्षण से अलग किया जा सकता है इसी क्षण में वह ही मरता है। यह अलगपन अन्त में माना हुआ ही तो है। इस तरह सब हाना अन्त ही जाता है अब बाधा बन जाता

है। मानों काल यही सिद्ध करता है। जिसका देगने है कि है, देखते-देखते वही भगते धरण हमार लिए भनहुभा हो जाता है। अर्थात् जिसकी उत्पत्ति है, उसका विनाश है। फिर वह क्या है जिसमें यह सब उत्पत्ति विनाश की सीमा चलती रहती है, इसलिए जिसका अणना भादि है, न अण है? न जिसकी उत्पत्ति है न विनाश है?

वह केवल और असंख्य सत्य पाण कम पाय / जाना कैसे जाय ?

इसलिए लगता है कि जानन में केवल अज्ञान आता है और पाने में केवल नाशवान्। इसलिए जहाँ तक पान का सम्बन्ध है, अनिश्चितता और ध्ययना ही उसका सार रह जाता है और दुस विरह बियाग व्यथा ही एक उपलब्धि धन आता है।

मैं देख रहा हूँ कि भरा में ही सबसे बड़ी बाधा है। उसी क्षण पर मुझे जीना होता है। पर वही सबसे बड़ी व्यथता है। इस तरह अणन प्रति ही सौन्दर्य आन आता जीवन भार सरीला हो जाता है। मैं आन को पाऊँ, करने वालों ने यह बोलिया बहद की है। हाथ उनके क्या आया है मामूम नहीं हो सता है। मैं पा बिन्दु इस असंख्य सता के सागर में से माना पृथक् छिटकी हुई धूल के मानि है। उसमें सत्यता है ही नहीं। इसलिए मैं को पान की बोलिया अत में कहीं नहीं जायगी, पछाड सावर अणन पर ही सौन्दर्य सिखाती रह जायगी। यही मैं की सबसे बड़ी अवृत्तायना है कि वह अणने को मान रहता है और अणन से छूट नहीं पाता।

सब पृष्ठिए तो यह विवगता में के लिए अनिवाय नहीं है। अस्मि अनिवाय उससे उलटी अवस्था है अर्थात् मुक्ति की अवस्था। यहाँ जगत में कोई या कुछ भी नहीं है जो सम्बद्धता से रहित हो। आकषण और परस्परआकषण पर समस्त मृष्टि टिकी है। कोई उस भाव और प्रभाव से बचिठ नहीं है। अर्थात् प्रत्येक के अणु और मुक्ति का आह्वान गुला घना है। अणन में जनमा हो लेकिन हर कोई मुक्ति में जी सता है।

उमम से ना केवल प्रकृत और आग्नि और अतस्त्वृत ही खुद
 फलन की रह जायगा सस्कारिता का नाग हो जायेगा ।
 इसलिये इच्छा के निरोध का तप मानना होगा और उम तप
 के तेज स ही जीवन प्रकृत बोगा । इच्छामात्र के प्रति सगम
 से खना होगा और निर्भ्रिगपी निष्काम बनकर बनना
 होगा ।

उन समाजहितपी व्ययस्थापक का बाग बनत नही है ।
 लेकिन जो सारे जगत् गोषा पर भगवान् की बाग लिखी
 हुं निम्नार्द्ध दसी है क्या उनकी बात उमसे भी अधिक्त सही
 है ? नाति नियमो स मयत्ता रेग्मासां स निपयो से अकुच
 से और दस से हम निरद्व बिसरा क्या करना चाहत है ?
 निम्नवा रोचना चाहते हैं वह अमत् बनने स ही कम आया ?
 कहा एना तो नही कि अमत् क नाम पर सत ही रोचन की
 पला म स ही उग अमत् भव की सृष्टि हो आ रही हो ?
 हमारे रोच-याम के माग्रह प्रयत्नों के कारण हा अमत् न
 बनत रहा हो ?

भगवान् की सृष्टि अमत् है । एसा नही कि वहां विप
 अनुास्थित है । लेकिन विप क माय अमत् भी मिल जाता है ।
 कुन मिलाकर हम उग पर विद्यास रखें । अर्थात् इच्छा मात्र
 म भोग है तो माय ही यन और योग भी है । इसलिये
 जब इच्छा की मूल से रोका जाता है तो योग और यन की
 सभायनाएं भी समाप्त म म मूलो लग जाती हैं । तब है तो
 समाप्त तो नहा होना लेकिन संस्कार बनने की जगह घुटकर
 वह विचार अक्षय बन सकता है । विद्यास की प्रक्रिया म मनुष्य
 क बनत ही अतमव हा गया कि वह सीकर पनु बन सके ।
 उगम अतरण विवक पना हो गया । उम विवेक के मथ से हीन
 कोई व्यक्तित्व ही सगता नही है । अन्धेन इच्छा को उस मत्र में
 से छनकर घाना होता है । किन्तु जब हम मनुष्य की प्रकृति
 का ही अधिष्ठापक करत हैं तो मानीं उसमें अतर्भूत दवरव
 का भी अधिष्ठापक कर जात हैं । परिष्काम होता है कि इच्छा
 हंस और तप कर दामना बन जाती है और उसमें क गूढ़ मत्र
 तन्व का वहां हास और सोप होने सगता है । तब भावना

की प्रफुल्लता नष्ट हो जाती है और वहा वाग्ना की वामत्सता बसने लग जाती है। जो यज्ञ रूप हो सकता था वह निरा भाग रूप पकड़ लेता है और जिसमें न्यि फलित हो सकता था वहा हा दत्य दीसने गग जाता है।

हमारे प्रयासों में नम्रता और स्वीकारता जब नहीं रहती हृदय और नियंत्रकता आ जाती है, तो माना भगवत धतना के विराध में हमारी महम् धतना खो हो जाती है। प्रवृत्त तब भद्दृष्ट और विकृत हो जाता है और जीवन को संस्कृत बनाने की संभावना से हीन हा जाता है।

मैं जो लिखा है उत्तम इसीलिए यथाथ की ऊपरी यथा यथा के साथ न्याय नहीं हो पाया है। अर्थात् उसमें प्रति में अपनी ओर से नमस्तक नहा ही सजा हू। मैं नहीं मान पाता कि कोई बबल दुष्ट है या बबल साधु है। सब स्वयं है और समाज व्यवस्था के नाते अथवा ऊपरी भय के हिसाब में जो हमने खान बना न्यि है उसमें कोई भी बध या गतम हो रहने के लिए नहीं है। हम अपनी समझ पर ही डाट लगाते हैं जब किसी को लबिल केवर अपना से दूर हटा देते हैं। प्रत्येक चरित बनने में धुनौती है और किसी न किसी रूप में सत्य के अमुक पक्षों का उद्घाटन भी है। यदि कुछ अनिष्ट उत्तम दीयता है तो नापद इसी कारण कि इष्ट को वही बदाचित् मुक्त धयन्तर नहीं मिल पाया है। अथवा मरा अग्रह है कि भाग यत् सत्य प्रत्येक के चरित में से हटात् अपनी पूति और अभिव्यक्ति खोज रहा है। यदि हममें से हरेक भयता दीयता है तो इसका कारण कि उत्तम में का दम है और समष्टि के विधान में उसका योग नहा सप पाया है। याग की चट्टा अनिवाय है और हममें से कोई इससे मुक्त नहीं है। यदि इस चट्टा के स्रोत की सत्य हमारी निगाह हा तो मुझ प्रताप हाता है कि सान में भागोषना और निग पा सत्य कम हागा गवेन्त ताव हो गबगा और परिणाम स्याया और धनत धयन्तर होगा।

अनुक्रम



- ✓ राष्ट्रीयता ६
राम की युद्ध-नीति २०
✓ वेद और जाति २४
✓ समाज दंगन ३०
नेतृत्व समय और प्रलय ३५
साहित्य घम और साम्प्रदायिकता ४२
राष्ट्रभाषा का प्रश्न और
भावनात्मक एकता ४७
राष्ट्रभाषा कमे बने ५६
भारतीय साहित्य ६२
✓ युग गमस्यार्थे व साहित्यिक ६६
साहित्यकार का व्यक्तित्व स्वातन्त्र्य
और सामाजिक दायित्व ७७
○ हिन्दी और राष्ट्र ८१
साहित्य में नविकता ८६
✓ शतय-भूम्य की प्रतिष्ठा ९४
हिन्दी साहित्य सम्मेलन में : १०२
में कौन ? १०७

- भाग्य और पुरुषार्थ १११
 नीतिक राजनीति ११५
 सच्ची सत्ता ११८
 प्राक्त निर्माण १२१
 राज्य-सत्ता और नीति सत्ता १२५
 निर्माण और मृष्टि १३४
 जन-वत्याण १४०
 राजा और प्रजा १४३
 चीनी साम्राज्य और हम १४७
 स्वतंत्रता और एकता १५५
 भारतीय राजनीति किञ्चर १५८
 भारतीयता को खतरा १६६
 भारत का मौलिक माग १७२
 स्वत्व सम्पत्ति और सत्ता १ १७५
 स्वत्व सम्पत्ति और सत्ता २ १८०
 विसर्जन का अर्थ १८५
 अहिंसा का पुनरुज्जीवन १९०
 अहिंसा और सामाजिक समस्या १९५
 खादी और उसके फलिताय १९८
 अपरिग्रह और स्वत्व वि-सर्जन २०२
 राजनीति का प्रश्न राष्ट्र
 निर्माण की समस्या २ ४
 गान्धि का निर्माण और भारत २०९
 एक बख्तिय २१४
 सुनी बानी । २१७
 कांग्रेस तत्र अर्थ और भागे । २२०
 संस्कृति का प्रश्न २२७
 भारत के सन्देशाधिकारी नेहरू । २३२
 गांधी नेहरू और हम २३८

राष्ट्रीयता

वर्ष १९३१ की बात है कि एक पुस्तक देखी थी 'राष्ट्र धर्म । प्रचार व साधन' विचार के लिए भी वह लिखी गई मालूम होती थी । कुल मिलाकर उसमें राष्ट्र को अपने इष्ट देव की तरह मानने की सीख थी और सब धर्मों का धर्म बताया था—राष्ट्रीयता ।

उसके बाद एक विवाह हुआ । वहाँ वेदी की जगह भारत का मन्त्रा बना था । वेद मन्त्रों की जगह राष्ट्र गीत ने ली थी । अग्नि देवता के बजाय भारत माता की सांगी पवित्र समझी गई थी । और दूसरे कुछ इस तरह के सुधार थे । उस विवाह को बताया गया था—राष्ट्रीय ।

और अभी थोड़े दिन पहिले बालिकाओं की एक शिक्षण-संस्था देखी । वह संस्था सिर्फ गिनती बटाने वाली नहीं थी । उसका ध्येय था और वहाँ जिन्दगी मजदूरी जाती थी । उसकी ओर मैं उनकी शिक्षा के आदर्श की व्याख्या में एक पृष्ठिका भी लिखी है । उसमें देगा कि उनके दा बुनियादी सिद्धान्त हैं उनमें एक है—राष्ट्रीयता ।

या तो अपनी वापस राष्ट्रिय है । नाम ही है 'इण्डियन नेशनल काँग्रेस' । पर काँग्रेस के साथ के राष्ट्रिय गठन में मन में कुछ सवाल नहीं उठता । माना वह सही है और अपनी जगह है । पर ऊपर के उदाहरणों में काम में आने वाली राष्ट्रियता पर मन में सवाल उठता है । जो राष्ट्र और राष्ट्रियता पूजी जाती है विवाह में मध्यस्थ होती है क्या शिक्षा में बुनियादी सिद्धान्त का काम देती है उस राष्ट्रियता पर मन कुछ ठहरता है ।

फिर सामान्य विनियमता में सटार्ड चली है । लड़कें मायक जाग वहाँ जिस बिना पर पना होता और बिना जाता है उसको भी हम सामान्य राष्ट्रियता कह सकते हैं । अमन सोन जमनी व नाम पर और इंग्लैंड के नाग इग्निसतान व नाम पर अपनी रंगा के दर में या अपनी यदनी की आर्काटा में एक दूगर की धान व प्यागे दीग रह है । उनका जगिया धर्म क्या है ?—राष्ट्रीयता ।

इसमें राष्ट्रीयता गलत पर कुछ घटकना देखा नहीं है। चाहिए कि देखें उस शब्द की उपादेयता पर कुछ हदें हैं या नहीं? हदें हैं तो वह क्या हैं? या कि वह शब्द ऐसा आखिरी है कि उसके आगे ख्याल को जाना ही नहीं चाहिए?

ज्ञान की हा तो बात है कि अपने हिन्दुस्तान में कांग्रेस और गांधी दो अलग-अलग रास्तें जानें दिखाई दिये। अब क्या नहीं है। सन १९२० से शायद कभी वह बात नहीं थी। पर कुछ देर के लिए वह अंतर रह चलत के लिए भी साफ हो गया। हिन्दुस्तान के मामूली आत्मा के लिए तो यह बात ऐसी अनहानी हुई कि यह उस पर भीतर रह गया और ठीक तरह कुछ समझ नहीं सका। लकिन मूर्खता के लिए बात साफ हो गई। कारण कांग्रेस सिर से पाय तक राष्ट्रीय थी। गांधी पर वह पाबंदी नहीं थी।

गांधी इमर बीस वर्ष से अधिक से हिन्दुस्तान की समूची राष्ट्रीयता की गति और दिशा दे रहे हैं। अर्थात् राष्ट्र उनके कारण कुछ सच्चे ही अर्थों में राष्ट्रीय हुआ है। फिर भी गांधी हर अवसर पर कह देते हैं कि राष्ट्रीय कहीं में तो धार्मिक है। धर्म की निगाह से सब बातों को देखता और उन पर फलता करता है।

इसलिए खुद राष्ट्र को और उसकी राजनीति का धराने और अपने निजी और समाजों जीवन को सुधारन की दृष्टि में हम मुहकन राष्ट्रीयता का सेवा से उन की उम्मीद है। देखना चाहिए कि कितनी उससे हम मदद मिलती है और कहा पर गेव धाम चाहिए हम कहीं पहुँचना है और राष्ट्रीयता व-अंगाम हमको कहा से जा सकता है यानी आदमी राष्ट्रीयता को ने तो किन मर्यादाओं के साथ ये सारी बातें सोचने का हैं।

कहा जाता है कि मानवता एक है। आदि दिन से यह कहा जाता है। विरोध इसका नहीं सुना गया। सब मनुष्य भाई भाई हैं और मानव जाति एक परिवार है—सब जातियाँ एक साहित्य और धर्म में यह पुकार मिल जायगी।

इसलिए यह बात गूँथ तो नहीं है। पर सचमुच क्या हमारे काम देखत हुए भाँ वह सच है?

धरती पर निगाह डालते हैं तो वह क्या-क्या है। राष्ट्र बट है प्राँठ बट है। फिर अनेक जातियाँ अनेक बरग अनेक धर्म-सम्प्रदाय और गिरोह हैं। उनमें आपस में अनेकत्व है और खून खराबी होते हैं। अर्थात् धरती के व्यवहार में मनुष्य जाति एक नहीं है।

फिर भाँ मानवता तो एक है। और स्पष्ट है कि वह बाहर से नहीं तो भीतर में यानी ईश्वर (आदमा) में एक है।

और धरती ही सब नहीं बल्कि भासमा भी सब है। चायद मानमान ज्यादा सब है। कनादि घात्मा वा बिगाड वहा नहीं है और स्वर की अछूनी बुदरत वहा है।

इसलिए धरती पर की स्वाय की अनेकता न परमाय की एकता ज्यादा सब है। कनादि वही मच्चा सब है।

गिना एवम् उम सच्ची मचाई न अपना काम वहा चलता है? वह काम धरती का जो है। तो भी यह निमित्त है और निश्चित रहे कि मानयता का बछ गत्य है तो वह उस पारमार्थिक एका का पाना है। उसम ह्दक वई गति प्रगति नहीं और बोई कम द्रष्ट नहा है।

घात्मा व्यवहार न भिन्न है। इसीलिए व्यवहार क वारे न उलभन और पेंच हा सब आदता की याद कर बना ग्ट है क्योंकि भाप वही है। व्यवहार को परपन की कमीकी सु व्यवहार ही कम हो सकता है? और आदता न यदि हम कुछ काम है तो वह यहा काम है कि व्यवहार म गिना भूल हान पर घात्मा हम राह बताय।

मानव जानि का इतिहास वहां से चलता है, जहा हर एक अवेला और हर एक अपन न मान गी था। समान ही था अवित ही था। अपनी गदी उसके लिए सब था हर दूसरा उम दुमन था। आपस न नाता रिदना की बल्पा न थी और भोग और भूष का ही उनम सम्बन्ध था। प्यार जगा मित लिए। भूष लगा ता डाना। अर्थात् कनि अपन न इनाद था और हर दूसरे स अलग था। परिणत भा न बना था बनने को था।

वहा न हम पन। परिवार दा। जनपद वने नगर बना। आपसीपन पदा हुआ। सामाजिकता उपजा। जातिया बन चला। राज उत्य न भाये। इस तरह आदता न ह्द-वान नाता जोना सु किया। उमका अपनापन पना। उगी लग घनमान को मांघ कर घाति और भविष्य स भी उमन अपना रिदना दगा। बात न भी उमन अपन को फनाया और गम्हनि न जा परटी। चतन पनन मनुष्य जानि आज इस भूमिता पर है कि उमका घात्मा व्यवहार राष्ट्र को इना माननर गम्भय बनता है। आज न। जाकित राजनीति का घन (unit) राष्ट्र राज्य (Nation state) है।

मै इगता विराम मानता ह्द हाग नहा। घात्मा मनुष्य का कायावत घात्र के मनुष्य न नही है यह ठास डोन नहा है वह चपलता नही है। यह अवित ही है। धर घबसा है और जगन न रहता है। इगमे उन वग का गिपन भी उगमे है। पर घात्मी घगर धर नहीं है तो इस पर अपनोम करने की अगाह

नहीं है।

आज के दिन राष्ट्र की भाषा में हम सोचते हैं। जनता का मन राष्ट्र को अपना कहकर अपनाते में आज समय है। यह छोटी बात नहीं है।

जन तीर्थङ्कर महावीर ने अहिंसा धर्म पर जोर दिया। पर वह धर्म ध्यनित के शायर में दिया गया और पाता गया। आज अहिंसा को राष्ट्र की परिभाषा में सोचा जाता है। सोचा नहीं भ्रमल में साने का भावग्रह रखा जाता है। यानी राष्ट्र और राष्ट्रीयता की धारणा मनुष्य जाति के विकास का सक्षम है।

पर धारणा का क्या भिन्न किया है और विकास पर क्या छतम हुआ है? इसलिए राष्ट्र हमारे राजनीति-व्यवहार की धरती की इराई बनने में अधिक उसके उत्थान की परिधि भी बनना है तो वह मनुष्य जाति के विकास में अक्षर है। हम आज राष्ट्रीयता पर हा पर वहा एक नहीं सक्त हैं। भाग भी बनना है। यदि राष्ट्रीयता धारण के जान में उपयोगी नहीं होती है तो वह बाधा है। ऐसी अवस्था में वह जनक है जिसको तोड़ बिना गति सम्भव नहीं। यही राष्ट्रीयता प्रतिनिधिता का अर्थ है।

मनुष्यता बन्ती आई है और बढ़ती चलेगी। सर्वेक तक उसे उठने ही चलना है। इस यात्रा में हर कदम की सावधानता हा यह है कि वह अगले कदम को प्रेरणा दे। जिस जमीन पर अक्ष हैं अगर चलना है तो वह जमीन छूटेगी। एक काम तभी सच है जब कि भाग दूसरा भी हा। जिसके भागे दूसरा नहीं वह काम मौत का हो जाता है। इस तरह कोई कदम और कोई मजिल अपने आप में सच नहीं। राष्ट्रीयता भी अपने आप में सच मान ली जायगी, तो वह झूठ पड़ जायगी। क्योंकि तब वह मानवता को बचाने में नहीं रोकने में काम आने लगगी। तब वह अगति का साधन होगी। किन्तु मानवता को तो सब के समय तक उठ बिना रुक रहना नहीं है इससे उमकी राह में अक्ष बनने वाली राष्ट्रीयता को गिरना होगा।

इतिहास यही है। वीर धाय उन्होंने जीवन की विजय साथी। तब वह काल के मह पर खले। पर काम हुआ कि वह काल के गाल में सा गृह। इतिहास उनको समा कर भाग बढ़ गया। राष्ट्रीयता भी हमारे विकास की विजय है। पर पराजय बने इससे पहले ही उसे मानवता में समा जाना चाहिए। अथवा मानवता का विरोध सिर लेकर राष्ट्रीयता कलविनी होगी।

यानी राष्ट्रीयता अपनी जगह सामयिक रूप में सही है। पर जो सामयिक नहीं ऐसे विचार और भावना पर भी वह यदि आरोप की भाँति गढ़ी जाती है तब वह सही नहीं रह जाती क्योंकि अपने अक्ष और काल की मर्यादा का

उत्पन्न करती है। अहंकार शुभ नहीं और उग्र राष्ट्रीयता उसी का लक्षण है।

पर अहंकार हवा में धाँस उड़ जाता है। साधना में उस धीमे धाम इनका और व्यापक बनाना होता है। यहाँ उसमें छुटकार की पद्धति है। राष्ट्र को लेकर हम अपने स्वायत्त और अहंकार के विसर्जन की प्रेरणा पायें तब तब वह इष्ट है। पर उसका मतलब अतिरिक्त अहंकार की भाँति हममें राष्ट्रीय अहंकार का भर जाना हो तो उसको इष्ट नहीं बना जा सकता और जब जब हम राष्ट्रीयता के उपयोग को सामयिक संधि और अलग देखते हैं तो कुछ उसी प्रकार के अहंभाव के विकार में पड़े हो सकते हैं। या तो कोई वस्तु सिरजनहार की या बनकर पूज्य है पर उपासक की उपासना उसमें अटक रहे तो वह पूजा की नहीं विडम्बना की बन्तु हो जायगी। इसी तरह राष्ट्रीयता यदि सब की एकता का नमूना बनकर उसी धारणा की भावना जगान में मग्न होती है तो ठीक पर अगर वही वह दूसरे राष्ट्र या राष्ट्रवादियों की तरफ बर या विरोध को सह दती है तो वहना हाँगा कि वह अपने हृत् से बाहर पाव रखता है और यह उसकी उच्छ्रिता है।

हमने देखा कि एनय विस्तार में हम बन्त ही आते हैं। बढ़कर राष्ट्रीयता तक भी पहुँचे हैं। यहाँ में अंतर्राष्ट्रीयता की धार भी बन्त रखना है। जब तक हमारा हित मुन दुनिया में साथ मिला हुआ हम नहीं लग आता तब तब हमारी मुक्ति वहाँ ? अंतर्राष्ट्रीयता बन्त ही चलता है।

सेविन बनना सपना स नहीं अन्तर्गत है। सपन के पर लगा कर तो धाँस मूँद छन में हम आसमान पहुँचेंगे। सविन धरता से आसमान की धार उड़ने के लिए एवाँई जहाज बनाने में मानवता का दगवा की बीसवाँ न। तब धीरज रगना और मिहनत करना पड़ी।

इसी भाँति कविता पर अंतर राष्ट्रियता में आने बड़ा सम न हाँगा। कविता में कल्पना तो उड़ता पर पर धिर रहा है। सभी कवि को समाज अपनी यागदोर नहीं प्रगसा हाँगा है। पर कवि मनुष्यता का आन्त की धीरजी रखता है। रात संधा है और दुनिया नीचे में या नग में है तब भी कवि मनुष्यता की निधि यानी प्रेम का आदान पर पहरा यि गाय्य बना है।

कवि का काम अन्तर्गत है। पर उगा उतर काम भी है जो कम अन्तर्गत नहीं है। कवि स कुछ उतरा एक अन्तर्गत रूप—मागत। जमना और पान की मनहारी और उनका पराग विरोध उगाद मन में नग पर कर गया। राष्ट्रीयता को बर नग गमन पाया जो एक कविता केगा का उधर का आन्तर्गत

यो पराया बनाती है। इस विधान की वृत्तिमत्ता पर वह भांख नहीं मूद सना। उसे भाग-पास के लोग म फाँव नहीं नजर आई कोई बुनियादी प्रक नहीं समझ आया। इनमें राष्ट्र के नाम पर की चलहट्टी से वह अपने विचार में समझीता नहीं कर सका।

पर भावस उतना सेलक या वधि नहीं था। यानी अन्तिम अमद की निष्ठा उसे प्राप्त न थी। इससे वह सत्य ना नहीं समाज ना दागनिष बना। उस समाज म उसे विषमता लीसी। उसका मस्तिष्क विषमता के साम जूझने म लग गया। वह ऊपर की सत्र उगभना के भीतर पतुच वर विग्रह की असल गाठ को पकटना चाहता था। यानी उस मालिक विरोध को जो दूसरे मव विरोधा को धामता और उपजाता है। फोणिग के बाद उसे एक चीज नजर आई—धन यानी पूजा। उसन वही अपना सब विन्नेपण गाह दिया और तक की राह चलत चलते जमन समाज के सारे विरोधो को एक अन्तिम मूल विरोध के रूप म जा हुना। वह था—पूजा और ऽम का विरोध।

इस अपनी खोज पर पहुच कर उसने पाया कि मनुष्यता क्षडित है। भूगोल से (Vertically) नहीं बकि धरिया म (Horizontally) वह घटी हुई है। अमन विरोध इन ऽरिया का आपसी विरोध है। उस विरोध को नष्ट करना होगा और उम्के लिए जो ऊपर की अली अपने स्वाय साधन म उस विरोध का बाधम रखती है उसी को नष्ट कर दना होगा। पर कैसे? वह ऐसे कि पहने उस विरोध को ही तीव्र करना होगा। वग विग्रह की भावना को चेताना होगा। उस चतन्य स नीचे की धरणी का जहा सच्ची जनता और मानवता का निवास है बल मिलगा। इतना बल मिलगा कि ऊपर से उसको दवान यानी तह उन असह्य हो जायगी। तब वह तह विग्रर रहेगी नष्ट भ्रष्ट कर दी जायगी और इम तरह समाज रेणिया से छत्कारा पाकर परिवार के मानिद एक हा जायगा। तब ब्यवित्त समाज का और समाज क लिए हागा और परस्पर का हित विरोध और स्वाय सधय नहा रहेगा। भावम की इस तक-वदति ने समूच विकास को विग्रह मूलक परिभाषा में देखा और दिखाया।

राष्ट्रीयता को ज्यो का त्या न अपनाते वाले लोग ता या सब देश और वालो म हुए पर व धार्मिक जन थ या साहित्यिक। राजकीय व्यवहार के घरातल पर लोग उमको स्वगार करके हा चलते थ। राजनीति विचारक दासन तथा क दासनिष विचार म पाह कुछ भी वह राष्ट्र के दापरे और विभाजन को जाने अनजान थे मानत हा थ। भावस ने उसी घरातल पर रहकर पहल-पहल राष्ट्र विधान क अस्वीकार म अपनी आवाज ऊची की।

मानस से पहिल भी कुछ सद विचारक राष्ट्र-सत्ता (मरकार) स धिना सघष म ध्राय समाजवादा ध्याश के गठन और प्रयोग म लग थ पर उस धादन को ध्रमली सकल देन की जितनी उनकी योगिता थी उतनी उसको शास्त्रीय बज्ञानिक और व्यापक रूप देने की नही थी । व लोग सामाजिकता का यथा सम्भव अपने ध्यवहार म उतारन की चेष्टा म रह । उम एक बाध एक जीवन शास्त्र का रूप देन म नही लग । मानर्म न यहा किया । स्वय मानन सामाजिक नही बने धम-धमाल और मित्रबोन नही बने सस्था नही बन नता नही बन । एकांता एकाग्र और स्वय प्रसामाजिक रहकर भा समाजवादी शास्त्र और स्वप्न का ढाचा पूरा करन म वह लग रह ।

यह समय गगान का पानी सामूहिक उद्योग का था । अपने धसग धसग धम से काम चलन की सम्भावना नागा के मना स नष्ट हो चकी था । बाना के वक्त पर भीमोधोग धन रहे थे और धावादी नगरा म धन्द्रित हानी जाती थी । उम घटनात्मक यथाय क धागे व्यक्तगत स्वाधनम्बन म यिध्वाम रखने वाला धादश टिय नही सकता था । यानी केन्द्रित उद्योगो क कारण समाज वाद नहा तो एक प्रकार के समूहवाद की जरूरत ता म्थिति म भरी ही थी । मानस न उसे सान द दी । जस भाव को भापा द दी । मानस के ज्वरन्त और तीस तांत्रिक प्रतिपादन न उस विषय के चारो ओर विवाट और विवचन का धातावरण पना कर लिया । इस विषय से वस्तु को धार मित्नी ।

यह समाजवाट राष्ट्रीयता को पहली सगमन धुनौती था । पर राष्ट्रीयता का भेद या धृत्रिम हो लकिन उसके भीतर राष्ट्र का एकता का तथ्य भी धमाया है । यह छोटे घट्टे धम म एकता क प्राकृतिक विकास के धनुष्प है । मानो भौगोलिक विभाजन प्रकृति की ओर स हा धाम्य है । जने वह परिम्पिति गत साधारी है एक मजिल एव रियाधत है ।

इनकी तुलना म मानस का श्रेणीगत विभाजन उतना धनिवाय और साक्र नहा है । उगरी माना धनार समाज के धरर फधी हुई वग धुर्भावना स ही बस मितता है ।

पर वह जो हा मानस क इस वग विभाजन की नई भावी म ग लोगा ने हठान् मानवता की एकता के धाश का भी ताजा और समीप धनाकर दगा । रग दग की हालत उग विचार धारा क प्रधाग क विसकुन धनुष्प पढा । यहाँ जनता पर धामन का जुधा घट्टे भारी था । मनाभायना की जमीन यहाँ सीपाव थी । उग दग म मानस क समाजवाट को वन पनहन और धनने की धाधमान का धवगर मिला ।

जहाँ तक बग-चेतना की धार को तेज करके शक्ति उपजाने और सत्ता के तल्ल को पनट देने और उस पर हावी हो जाने का सम्बन्ध था मानस का नक्शा ठीक उतरता चला गया। वहाँ उससे वे ठीक होने का प्रश्न भी नहीं था। क्योंकि मानवता की एकता का सपना सनातन था और त्रस्त जनता की दबी भावना उभरने को तयार ही थी। समाजवाद ने पुराने शासक की जगह नये धाने वाले शासकों को पार्टी में संगठित होने के लिए नाम का और भादोलन प्रचार का सुभीता दे दिया।

परिणाम हुआ कि क्रान्ति हो गई। यानी शासन बदल गये। पर जिस राष्ट्रीयता नाम के साँचे में मनुष्य-जाति की राजनीति और राजकाज ठसकर चलाए जाने थे और जिस साँचे से उद्धार पाने की भाशा समाजवाद के रोमांटिक साहित्य से लोगो में पनप चनी थी उस साँचे का क्या हुआ ?

रूस की क्रान्ति रूस के इतिहास के लिए एक बड़ी घटना है। उस दायरे में वह एक बड़ा सबक है और गहरा इशारा है। पर उस दायरे के बाहर मनुष्य जाति के इतिहास में क्या वह किसी नये मानसिक मूल्य (Category of consciousness) का दान है ? मेरे विचार में नहीं। क्रान्ति से समाजवाद बोते इतिहास और शास्त्रीय दिल्चस्पी का विषय रह गया जीवन और वर्तमान राजनीति से वह निक्षेप होगया।

यूरोप के और देशों के बराबर रूस को लाने का काम क्रान्ति ने किया यूरोप की बदलन या बढाने का नहीं। क्या राष्ट्रीयता नाम के जिस साँचे (Category of Political consciousness) के द्वारा राजनीति का व्यवहार चलता था उसमें कुछ अन्तर आया ? सुधार हुआ ? विस्तार हुआ ? शायद नहीं।

माक्स के समाजवाद पर राष्ट्रीयता आयद नहीं हो सकती, लेनिन का समाजवाद सीमित रूसी राष्ट्रीयता से समझीता निवाह सथा और स्टालिन का समाजवाद रूस की वंशिक नीति में समाजवाद रहा यह उससे दुस्मन भी नहीं कह सकेंगे। हा ट्राटस्का के समाजवाद ने भौगोलिक परिधियों को नहीं स्वीकार करना चाहा। परिणाम हुआ कि जीवित राजनीति में ट्राटस्का नगण्य रहा जस कि माक्स नगण्य था। लेनिन गणनीय रहा क्योंकि राष्ट्रीयता को उसने निभाव दिया। और स्टालिन एक समूचे देश की शक्ति के साथ सशक्त है क्योंकि भाषा चाहे उस समाजवाद की रखनी पड़ी हो (और इतने प्रचार क बाद दूसरी भाषा सहसा रूस को लग भी नहीं सकती थी) पर भाव में वह यूरोप के अन्य देशों के अधिनायकों की तरह समाजवाद का भादण क दवाव से सबथा मुक्त है।

समाजवाद हिस म भी यदि व्यावहारिक राजनीति के काम का है तो राष्ट्रीय दायरे म और राष्ट्रीय विरोध के साथ हा काम का है । अर्थात् सोगलिज्म जब नेगनल है तभी अन्तर्राष्ट्रीय घरातल पर उसकी गिनती है । अयया ता वह निजी वस्तु भल रहे मानव जाति के राजनतिक व्यापार म चलन की वस्तु वह नहीं है ।

तभा तो अत्याधुनिक राजनतिक घम का नाम नेगनल सोगलिज्म है । जान-अनजाने रूप म भी वही है और इग्नड म भी वहा है ।

राष्ट्रीयता (Nationalism) का मान पुराना पढ रहा था । उसम से साम्राज्य बन और साम्राज्याही मनोवृत्ति का नाम मिला । साफ हो चना था कि यह मनोवृत्ति मानव मूल्या के विकास म बाधा है । सोगलिज्म न आकर मानवता के मम के गहरे म जो स्वप्न सग रहता आया है यानी विश्वत्रधुत्व उग भन्वाया । उधर यथाथ म उसने राष्ट्रवाद के साथ समझौता कर लिया । इस तरह उसने राष्ट्रवाद को नई जान दे दी । सोगलिस्टिक बनकर माना नगालिज्म हम ाष्य की ओर ल जा सकता है एस भुलाव का सामान कर दिया । हिंसर क्या न आज मान ल कि यह मनुष्यता का विकास-माधन कर रहा है क्योंकि वह जमन राष्ट्र को राष्ट्रीय चेतना क आधार पर दृढ़ भावान और अविजेय बनाकर दिखता सका है ? यदि राष्ट्रीयता लक्षण हो ता हिंसर का विषय की प्रगति म मान सबसे अगला कदम गिनना होगा ।

पर नेगनल सोगलिज्म नाम क मकर पन्थ म दो अन्तमल तत्या का मन है । इससे यह बान्द है जो पत्र पढन के लिए है । यूरोप क राष्ट्र उस बान्द का अपनी बाया म भर बठे हैं और विस्फोट समक्ष है ।

इस प्रकार राष्ट्रीयता अपने आप सही मानी जाकर जब किसी शक्त क सहारे आन्तरिक भावावग क मल से तीव्र और पुष्ट का जानी है तो इससे राष्ट्र की शक्ति बढती दीखती हा सही पर उमका सतरा भी बढता है । यानी उससे मद और आनर बढता है । आनर बढने म उगम और आग-पाग के देगा म मना और गरवास्त्र की बढ़बारी हानी है । राष्ट्र का धन बढता मालूम हाता है पर उसके लिए मटिया गोजनी पढता है । उन मटिया की रगा क लिए नानेदनी यठाननी पढता है । इनके लिए और हनुमन का पाहा घान गग्ने क लिए घन की वडान जान का जरुरा और ह्विग होती है । उमर लिए उम राष्ट्रीय सगा का दूर पाम मोरखु का नतिया जोनी पढना हैं । उन नतिया द्वारा धन मानी उन देगागिया का ग्ण ग्ताका जाता है । यहा फिर म्म और विनाग क रूप में अरन दगर म प्रविष्ट रिया जाता है । उम विनाग रगा के

निष्पत्ति के लिए जरूरी है कि चौखूट चौकसी पूरी हो। टक हा जहाज हा धीर क्या न हा ! इस तरह एक रागसी चक्कर घन पड़ता है।

जहां तक साम्प्रदायिकता और प्रान्तायता में हमारा उद्धार कर रहा तक राष्ट्रीयता हितकारी है। जहां वह स्वयम् एक प्रकार का रूप होती है। वहां वह विष की भांति स्याय है। राष्ट्र ठीक प्रान्त ठीक। यता भी यही बातें हैं। मैं कहता हूँ कि अपना बुद्धि अपना निजत्व समा ठाक है। पर बुद्धि के अस्तित्व के लिए जरूरी है कि सत्त्वों के स्वभाव भाव में परस्पर हित विरोध न हो भार धर के लिए जरूरी है कि उसका भार पर स्वागत और हृदय में अनिधि के लिए प्रेम हो। वह धर जा अपने स बाह्य सहानुभूति का दाग नहीं करता सूख जाता है। वह तब नगर के लिए रोग का कारण बनता है। यही बात बर्हि सन्धाया और समुदायों के बारे में भी है। साम्प्रदायिकता दो सम्प्रदायों की स्पर्धा और उनका तनाव पर मजबूत होती है इसीमें वह गुम नदी है। ऐसे ही जो दो राष्ट्रों के समनस्य में पुष्ट होना और उनको पृष्ट करती है वह कैसे अयम्पर समझी जा सकती है ?

अर्थात् सामयिक भाव में जा भी बतव्य जा भी धम उपायों हा सब पर एक परम धम की मर्यादा मागू जाती है। वह धम सामयिक नहीं शाश्वत है। उसका अनुपात वस्तु और स्थिति के साथ भिन्न हो सकता है। पर स्वयम् में वह परम धम है और अनिवाय है। उसका नाम है अहिंसा। उसका मतलब है निर्दोष और उसकी धारणा है प्रेम।

अहिंसा से यदि राष्ट्रीयता जो भर हटता वह उमा धम में समाप्त है।

सन्तोष तो मा मानव भा है। निर्दोष वम ईश्वर है जा आदेश का दृमरा नाम है। निर्दोषता की स्थिति आदेश से बाहर और कहा नहीं है। लेकिन सन्तोषता को हम मानने चले देखने चले निर्दोषता की ओर बढ़ने का यही माग है।

राष्ट्रीयता उपयोगी है इसी में है कि उसमें अनुपयोगी होने की क्षमता है। इससे उसकी मर्यादा जाननी चाहिए और मर्यादा के उल्लंघन से सत्ता उस राष्ट्रीयता का बचाना चाहिए।

राष्ट्र-सत्ता का भावना यदि साम्प्रदायिक (Romantic) रहा तो वह भाव-सत्ता के रूप में हा अपना वृत्तायता खोजेगा। लोक-सत्ता पड़ोसी-सत्ता से धारम्भ होता है। इस प्रकार की सत्ता राष्ट्रीयता राजनयिक रहा होनी 'राज' को अपने में दूर करके वह कबल नतिक होता है।

नतिक भाव में की गई जन-सत्ता अपने व्यापक प्रभाव के कारण सधप उपजा उठ और अनायास राष्ट्रीय अथवा राजनयिक दीख चल वह बात अलग

है। पर अपनी ओर से वसा विशेषण उसे देकर चलना अनावश्यक है।

अर्थात् दूसरे लोग राष्ट्रीय कहें तो कह लें स्वयम् सना वह देकर किसी नीति अथवा वस्तु का अपनाने की तबियत सही नहीं है। जो अपनाने योग्य है वह नतिक कारणों से। उस दृष्टि से जो इष्ट है वही अभीष्ट हो सकता है। राजनीतिक घरातन पर उस इष्ट वस्तु की इष्टता बताने में सहज ही वह (राजनीतिक) भाषा भी मुलम हो सकती है। अपनी ओर से नतिक को छोड़ कर राजनतिक भाषा पर आना अनावश्यक होना चाहिए।

नीति से अलग होकर राजनीति भ्रम है और मानवता में द्युत होकर राष्ट्रीयता भी बचन ही है।



लिए फिर जरूरा हाता है कि चौखूट चौकसी पूरो हो । टैंक हा जहाज हों और क्या न हो । इस तरह एक राक्षसी चक्कर चल पडता है ।

जहा तक साम्प्रदायिकता और प्रान्तीयता से हमारा उदार करे महा तक राष्ट्रीयता हितकारी है । जहा वह स्वयम् एक महकार का रूप होती है । यहा वह विष की भांति ध्याय है । राष्ट्र ठाक प्रान्त ठीक । य तो भी वही बातें हैं । मैं कहता हू कि अपना कुटुम्ब अपना निजत्व सभी ठीक है । पर कुटुम्ब के अस्तित्व के लिए जरूरी है कि सन्धयो के स्वस्थ भाव में परस्पर हित विरोध न हो और पर के लिए जरूरा है कि उसके द्वार पर स्वागत और हृदय में अतिथि के लिए प्रेम हा । वह घर जो अपने में बाहर सहानुभूति का दान नहीं करता सूख जाता है । वह तब नगर के लिए रोग का कारण बनता है । यही बात बड़ी सम्पाद्यो और मनुदायो के बारे में भी ह । साम्प्रदायिकता दो सम्प्रदायो की स्पर्धा और उनके तनाव पर मजबूत होती है । इसमें वह गुम नहीं है । ऐसे ही जो दो राष्ट्रा के बमनस्य से पुष्ट हाती और उसको पुष्ट करती है वह कमे धमस्वर समझी जा सकती है ?

अर्थात् सामयिक भाव में जो भा कतव्य जा भी धम उपादेय हो सब पर एक परम धम की मर्यादा लागू हाता है । यह धम सामयिक नहीं शाश्वत है । उसका अनुपाल वस्तु और स्थिति के साथ भिन्न हो सकता है । पर स्वयम् में यह परम धम है और अनियाय है । उसका नाम है अहिंसा । उसका मतलब है निर्दोष और उसकी भावना है प्रेम ।

अहिंसा से मरि राष्ट्रामता जो भर हट तो वह उसी अंग में सत्पाप है ।

सत्पाप तो मा मानव भा है । निर्दोष बस ईश्वर है जो आदर्श का दूसरा नाम है । निर्णयता की स्थिति ध्यान से बाहर और नहीं नहीं है । सजिन भदो घता की हम मानव चरें देखत चले निर्णयता की ओर बढ़ने का यही माग है ।

राष्ट्रीयता उपयोगी है इसी में है कि उसमें अनुपयोगी होने की क्षमता है । इसमें उनकी मर्यादा जान लेनी चाहिए और मर्यादा के उत नभन से सदा उस राष्ट्रियता को बचाता चाहिए ।

राष्ट्र-सवा की भावना यदि साम-वृत्तिक (Romantic) नहीं तो वह भाव-सवा के रूप में ही अपनी कृतायता खोजगी । लोक-सेवा पशौसी-सेवा से आरम्भ हाती है । इस प्रकार की सच्चा राष्ट्रियता राजनतिक नहीं होगी राज की अपने से दूर करके यह कबल नतिक हाती है ।

नतिक भाव से की गई जन-सवा अपने व्यापक प्रभाव के कारण सधप उपजा उठे और अतायाम राष्ट्रिय अथवा राजनतिक दील बन, वह बात अलग

है। पर अपनी ओर से वसा विशेषण उसे देकर चलना अनावश्यक है।

अर्थात् दूसरे लोग राष्ट्रीय कहें तो कहें स्वयम् सजा वह देकर किसी नीति अथवा वस्तु की अपनाने की तबियत सही नहीं है। जो अपनाने योग्य है, वह नतिक कारणों से। उस दृष्टि में जो इष्ट है वही अभीष्ट हो सकता है। राजनीतिक धरातल पर उस इष्ट वस्तु की इष्टता बतलाने में सहज ही वह (राजनीतिक) भाषा भी सुलभ हो सकती है। अपनी ओर से नतिक को छोड़ कर राजनतिक भाषा पर आना अनावश्यक होना चाहिए।

नीति से अलग हाकर राजनीति भ्रम है और मानवता से द्युत होकर राष्ट्रीयता भी बचन ही है।



राम को युद्ध-नीति

इस महादेश की सस्कृति के दो ध्रुव हैं राम और कृष्ण। रामायण और महाभारत उन्हीं के चरित कहिए। इन दो ग्रंथों के स्तम्भों पर चारोंस कोटि मानवों की प्राणान्या का भाग्य टिका है।

माना जाता है कि यह सस्कृति विरागमय है। जीवन दृष्टि उसकी निवृत्तिमूलक है। ब्रह्म सत्य और जगत उसे मिथ्या है। महापुरुष उस वह है जो ससार से विमुक्त एषान्त में प्रात्मा की जय साधता है। ससार उसे प्रपञ्च और मुक्ति ध्यय है। हर कीमत् पर वह शान्ति चाहता है। अहिंसा उसे परमधर्म है। एक शब्द में वह सस्कृति प्राधिभौतिक के विरोध में प्राध्यात्मिक है। और यह गलत भी नहीं है। भारत की विनोयता उसका इहलाक पर परलोक को प्रमुखता दना ही है।

पर उसी सस्कृति में राम और कृष्ण को भगवान माना है और ये दोनों ही दो महायुद्धों के नायक हैं।

इस ऊपरी विरोध के भीतर जाकर उसने अथ को देखना होगा यह सच है कि भारत ने बट योद्धा को प्रतिष्ठा नहीं दी। चक्रवर्ती को

भुला दिया और सत की धारणी को उसने याद रखा। महाविषट युद्ध एक दुस्वप्न की विभीषिका स अधिक उसने लिए कुछ नहीं रहा। वह होकर नीत गया और भारत के जीवन पर कोई विवृति नहीं छोड़ गया। पर यह उससे भी अधिक सच है कि उसका मर्यादापुरुष राम हुए और कृष्ण हुए जो वन के महात्मा नहीं राज्यों के निर्माता थे और जो शान्ति में और समाधान में नहीं वरन् युद्ध में जिये। कारण भौतिक के समझान में उन्होंने अध्यात्म के समत्व की और जगत्कर्म की विपुलता में ब्रह्मसत्य की साधना सिद्ध की।

राम राजा थे पर भगवान है। यानी राजा के रूप में वह ध्यतीत हुए, भगवत रूप में ही वह शाश्वत होकर बतमान है। देखना चाहिए कि क्या उनके युद्ध में भी भगवत भाव देखा जा सकता है।

वह युद्ध भीतिवत् था, लेकिन वह धर्मयुद्ध होकर ही भगवान राम का बना। अपने राज-कर्म और व्यक्ति-कर्म में वह समष्टि चेतना से परिचालित थे—हिन्दू विश्वास ऐसा ही है। उनके निकट धीराम के कर्म पर समय की और स्थिति की दृष्टता नहीं है। मानों उनका युद्ध रावण नामक किसी व्यक्ति से न था वह तो पुत्रीभूत असत् व प्रतीक रावण से था। भारत का समाज गताब्दियों के भीतर से इसी आस्था में रामचरित के चहुँ ओर इतना कुछ जुटाता रहा है कि प्रमुख समय और देश में हुए इतिहासी राम कान्देश की सीमा में मुक्त होकर त्रिकाल त्रिनोद के पुरुषोत्तम राम हो गये हैं। उनका चरित्र एतिहासिक बोध का नहीं जिज्ञासु निरुद्ध आत्म गोध का ही साधन बन उठा है। माना कभी कभी हुए राजा, वह इतने नहीं जितन कि घट घटवासी राम है।

यह कस हुआ ?

सामान्यतः भारत-क्षेत्र और जगत्-क्षेत्र दो हैं। आत्म-जेता यम-नियम और दम-मयम के अस्त्रों से लड़ते हैं। वे धन मान और वधु-बाधव छोड़ अवेने बनते हैं। जगत-योद्धा तीर तनवार और दल-वन से लड़ते हैं और सत्ता प्रभुता का विस्तार चाहते हैं। एक अहिंसा साधते दूसरे स्पर्धा ठानते हैं।

दोनों की दो राहें हैं और उन्नी हैं।

अब नहीं कहा जा सकता कि लता में लड़ नहीं रहा। वहाँ सामक-बुल में विभीषण के पिता कौन दूसरा बच पाया ? ऐसे युद्ध के प्ररक होकर राम फिर धाय-संस्मृति के माय कमे हुए ?

यहाँ यह कहना कि राम चरित का युद्ध यथाथ नहीं सिफ रूपक है बात स बचता होगा। रूपक तो वहाँ है ही। व्यक्ति राम में प्रभु राम की प्रतिष्ठा के लिए रूपक तो घाना ही था और भगवान राम से लड़ने वाले रावण के लिए दस तिर और बीस भूजापो वाना प्रति मानव भी धन उन्ना प्रतिवाय था। जिसमें भगवान युद्ध धनीति के प्रतीक राक्षण से ही हा धन्य किमी न नहीं।

पर इन सब लौकमायता और काव्यातिगय के माय्यालाजी के पार होकर विवेचक को राम की युद्ध-नीति की परत में जाना होगा। जानना होगा कि विजेता होकर भी निरुद्ध और 'सीद्धर' को जिम मान में नापा जाता है उससे राम को हम क्यों नहीं नाप पाते ? क्यों वह नाप बड़ा छोटा पढ जाता है ? राजा हाकर सत्वर जीतकर अन्वमप रचारर लेख्य में अग्निह हरकर भी राम धर्म के ताप और अर्थात्म के आत्मा बन बने हुए हैं ?

इस प्रश्न के उत्तर में उनकी युद्ध-नीति को परगना धारणक है। उन युद्ध की पृष्ठभूमि यह है अमाप्ता के निर्वाणित राजकुमार राम धरिधन देह पर

छात पहने पत्नी और भाई के साथ वन-यवत भटकते फल-मूल खाते सुदूर दक्षिण पहुँचे हैं। अयोध्या से यह जगह हजारों कोस के अन्तर पर है। सीता का या उसकी महिमा का अंश भी यहाँ उनके साथ नहीं है। वनजीवी हैं और पशुओं से स्नेह पाकर रहते हैं।

ऐस समय रावण उनकी सीता को ले जाता है। रावण सत्ता का राजा है। वह बहुत बलशाली है। वह नराधिप है राम नर भाय। वह सत्ता-मन्त्र है राम एकाकी है। वह दुःख को रोग म है राम वाधारी है।

इन दो शक्तियों में युद्ध होना है। कारण बनता है सीता का अपहरण। सीता राम की भार्या है इसलिए नहीं बल्कि सत्ताधीन बल के मद में उठे बन्दी बनाये हुए है इसलिए राम को लड़ना पड़ता है।

इस पृष्ठभूमि पर मैं उस युद्ध के बारे में हम में परिणाम निकाल सकते हैं—

१ युद्ध का राजनैतिक हेतु न था।

२ राजनीति की भाँव से राम सत्ता भूय था। इससे आत्म धर्म के नाते राम युद्ध में उतरते।

३ साधनहीन होकर सत्ताधीन से युद्ध लाने में उन्होंने उपकरण का हीन और सत्त्व को सब कुछ माना।

४ धेतन भोगी सत्ता उनके पास न थी।

५ नैतिक शक्ति उनकी शक्ति थी। अपने पक्षधाला को पुरस्कार, पद या प्रतिदान देने के बजाय पर सैम समूह उन्होंने नहीं किया।

६ युद्ध का नेतृत्व उन पर लौकिक प्रभुता नहीं नैतिक निष्ठा और उच्चता के कारण आया और समूचा युद्ध उनकी ओर से उसी भूमिका पर रहकर चला।

युद्ध में राम की विजय का सम्पूर्ण नहीं तो अधिकांश कारण ऊपर की इस भूमिका में आ जाता है। उससे प्रकट है कि उनकी युद्ध नीति का सबसे प्रधान अंश इस निश्चय में था कि युद्ध का हेतु केवल और युद्ध नैतिक ही है। वह नैतिक भी लालसा सत्ता और सम्पत्ति का युद्ध नहीं है।

आधार में इस धर्म-नीति की भूमिका का निश्चय होने के अनन्तर आगे भी उसकी रक्षा हो—राम की युद्ध-नीति की दूसरी धिन्ना यह मासूम होती है। यानी युद्ध का हेतु धार्मिक है। इतना ही नहीं उसकी प्रक्रिया और प्रतिप्रिया भी अनुरूप ही। यह भी उनकी युद्ध नीति का विशारद में गमित था। साध्य की युद्धता परखने के बाद साधना का अनुरूप युद्ध रखने की ओर वह युद्ध-नीति सावधान थी।

युद्ध लाने की इच्छा पर राम म सग उससे वचन की इच्छा की प्रधानता रहा । यानी युद्ध उनकी धार से शांति-चष्टा का हा भग था । युद्ध के बीच भी उनकी नीति सधि का माग खोजती रही थी । यानी युद्ध-नीति भीतर म गान्धि नीति म भिन्न न हो पाये इसका ध्यान राम को था । भगद उनकी ओर से रावणके पास सधि के लिए बुल इतनी गत ने गय थ कि सीता वापस लौटा दी जाय । लवाधिपति के स्वत्व पर प्रतिष्ठा पर यहां सब कि मत मायता पर किसी प्रकार क आरोप की बात उनकी युद्ध नीति म नहीं आती थी ।

युद्ध म विजय निश्चय दीखी तो भा आरोम्भिक माग को और उसक मूल हेतु को बढ़ाया नहा गया । यानी भावना और भावाशा का उस युद्ध-नीति म सम्बन्ध म था और विजय म अकार दखन की वृत्ति न थी । विजय हान पर लवा के साथ से अधिपतित्व का या और किसी तरह की प्रभुता का सम्बन्ध राम ने नहीं स्थापित किया । रावण क बुट्टुम्बी जन विभीषण लका के राजा हुए । विजता न कोई अपना स्थाप विजित दश म नहा पना किया । किसी सधि क अनुसार लना को अक्षय क प्रति करने की आवश्यकता कभी नहीं हुई ।

सन्ध संचालन आदि क बारे म राम का युद्ध-नीति आत्यन्तिक उदासीनता की थी । यह उदासीनता प्रथम यादा राम का जय म नम महत्व की वस्तु न थी । वह काम तो सुप्रिय और लक्षण का था । वह पक्ष माना अस्त म युद्ध-नीति स उनक निश्चय अंगत था । निश्चय उस सम्बन्ध म गुप्तभेद या छल प्रयोग के वह विरुद्ध थ । युद्ध सीधा और ईमानदार और जान हथेली पर लवर हो इस पर उनका आग्रह था । रण म वह स्वय मनिष थ पीछे म आशा दन वान सेनानी हा नहा ।

यह भा प्रामाणिक है कि गणु क प्रति वह गृहज सहानुभूति म काम लेते थे । यथागत हिंसा म क वचन थ । एक की जान पर बह हतन भावुक हो आ करन थ कि गमूचा युद्ध उक्त व्यय लग आय । यन् व्यथा ही रण म उनके धन का मूल थी ।

इस प्रकार युद्ध की प्रेरणा और हेतु म युद्ध धराजनतिक और धर्म-नित्य भावना का निश्चय उद्धार का सन्ध कता क सम्बन्ध म आत्यन्तिक उदासीनता पायु क प्रति मानवीय सहानुभूति और गान्धि क माग का सततगोच— य उनका युद्ध-नीति क मुख्य भग बहे जा करन है । यही कारण है कि वह युद्ध विजता और धर्माधिकार भी है । उनक उदाहरण म धार्मिक और राजनतिक दाना पक्ष क नताभा क निष्प्रकाश है ।

केन्द्र और क्रांति

उस दिन की बात है कि केन्द्र के प्रधान व्यक्ति ने कहा सफलता की यह सीमा इस कारण कि बल हमारे पास विद्यमान न था। थोड़ा लोग धन और धन भी सीमित था।

जिस केन्द्र का जिक्र है वह सामान्य कौटि की सत्ता न थी। धार्मिक-संस्था की भूमिका थी प्राणीमात्र में एकता अनुभव कर आना उसका इष्ट। राह में सेवा-श्रम भी है साधन के रूप में और उसका आशय है समाज का रूपान्तरण क्रांति मूल्य-परिवर्तन। इस तरह वह धार्मिक स्तर के सामाजिक क्रांति कारियों का केन्द्र था।

स्पष्ट है कि आत्मा है, ब्रह्म देह है। व्यक्ति है वहाँ वस्तु है। इस तरह हर सत्ता को धन की आवश्यकता है। उपयोग में वस्तु ही आती है। धन की महान पोषण को भ्रष्ट रक्षण को वस्त्र। इसके अतिरिक्त दूसरी आवश्यकताएँ भी हैं। यानी धन के बिना चल सकता नहीं। यह बात इतनी प्रत्यक्ष है कि तर्क के लिए वही आवश्यक नहीं। आदमी और उसका परिवार इसीलिए अधिकांश कामाई के धक्कर में रहता है। इसी को अचक्र और ससार चक्र कहते हैं। सबको भय चाहिए इसी भय की चाह को स्वायत्त कहा जाता है। इन स्वार्थों में फिर नीच-खराब चलती है और समाज की समस्याएँ बनती हैं। सफल हमीर बन जाता है विफल गरीब रह जाता है। धीरे धीरे कम पकते और उनके हितों में भ्रष्ट और विग्रह पड़ जाता है। राजा रब हजूर मजूर ऊँच-नीच आदि भेद बन पड़ते हैं। समाज में उन भेदों से तनातनी और बेचनी रहती है और किसी को सुख या अनुभव नहीं होता। एक के सुख पर दूसरे के दुख की नजर रहती है। और इस तरह दोनों अपनी जगह अनुपयुक्त हो जाते हैं। सुख में अपने प्रति सराय हो पड़ता है। दुःख में तृष्णा भटकी रहती है।

यह सब इसीलिए न कि वस्तु की आवश्यकता है। आवश्यकता सवार है मनुष्य सवारी है। ऐसा है तभी न बल व्यक्ति को वस्तु में जान पड़ता है। वस्तु में आते ही मानो वन आक्रिय धन जाना है। जितनी अधिक वस्तु उतना अधिक

सामर्थ्य । उस रास्ते से एक हजार रुपये वाले भादमी से लाख रखने वाला पूरा सौ गुना बलशाली हो जाता है । यह दृष्टि व्यक्ति को, परिवारो को, दलों और कबीलो को, राष्ट्रा और राष्ट्र-समूहो को उस राह चलाये जा रही है ।

जिघर वे चल रहे हैं । विश्व का संकट उसी कारण बना हुआ है । शान्ति चाहते भी जो दुनियाँ को हर बीस-पच्चीस साल बाद युद्ध में उतरना पड़ता है सो इसीलिए न कि भाँवर दो बलशालियों में निबटारा कते हो ? इस बस की विपत्ता ही यह है कि वह मुकाबल में प्रत्येक बल को नहीं सह सकता । प्रकृत में उपाय युद्ध ही रह जाता है ।

जो लोग बहुत कुछ करना करना चाहते हैं वह स्वार्थी व्यापार का नाम हो या परमार्थी उपकार का पहले अपने पास बड़ी पूजी इसीलिए चाहते हैं । राजनीतिक दल स्वायत्त के लिये तो बनते नहीं हैं, समाज और देश के उद्धार के लिये बनते हैं । (प्रच्छ सफल विचक्षण लोग अपना निजी काम-काज छोड़कर त्याग और बलिदानपूर्वक देण-मेवा और देण-भगठन में लगते हैं तो क्या किसी मकील भावना से वे ऐसा करते हैं ? नहीं गरिमामय विचार उनके होते हैं और वसी ही उपाय भावना । राय-सला का वे सुधार करना चाहते हैं । चाहते हैं कि प्रच्छे लोग मना पर पहुँचें और प्रच्छी भीति से राष्ट्रकाय का संचालन करें) इसीलिये उनकी कीर्ति होती है कि उस सत्ता को दान के हाथों में ले सका कि फिर उस बल से जनता का हित किया जा सके । सत्ता के पास अधिकार केन्द्रित होता है मर्ति केन्द्रित होती है । वह सब अपनी ओर करना इसीलिए उनके लिए सबमें पहली जरूरत हो जाती है । मर्तन में एक कई गिरोह भाते हैं और सभी में त्यागी, बलिदानी वार्षी और विचारवान पुरुष होन हैं । वह सभी एक दूसरे के साथ होठ में पकते हैं कि सत्ता को अपने हाथों लिया जाय और जनता का भला किया जाय । इन नेताओं की सरफ जनता प्राणा और धारण में दखती है । तो सादर इसीलिए कि उनमें प्राणा है कि केन्द्रित और एकरित सत्ता-बल पर पहुँचकर यह लोग कुछ उभरा । प्रदार्थ सामर्थ्य उन्हें भी सबोंगे । नता इसीलिये उन्हें गिर भुक्तानी है । दुनियाँ में जो मरम बड़ा और मरम ऊँचा राजनीति का व्यापार चल रहा है । या इसी मरम के आधार पर चल रहा है कि अधिकार में द्रव्य में बल है । विश्व राज का धरता है इसलिए राज बल का मरम है । या मन बहनाव के लिए मर-पुत्र उपहार का काम किया जा सकता है । विभिन्न मरम काम मरम पर बरबाद करने के द्वारा हा हो सकता है ।

प्रत्येक बुद्धि उस प्राणा के लिये और किरी धार जा नहीं सकता । वे सब लोग मरम नहीं है या उपर चल जा रहे हैं । निपटार में मरम प्रमाण मरम

उही की है। दुनिया उधर जा रही है मानवता उधर जा रही है। उन सबको गलत कहना घप्टसा और दुस्साहस ही है। इसीसे अधिकतर दया जाता है कि साहस वह अधिकतर सफल नहीं होता। कुछ साग छिन्नक फुटकर दूसरी तरफ बन पड़ता है सपह के बजाय अपरिग्रह की ओर जाते हैं। अधिकार लने के बजाय उन्हें छोड़ते हैं। लेकिन इन कतिपय जना से दुनिया की गिना नहीं बदलती।

अतः जो आश्रम और दमर साधना के स्थल तयार करते हैं उन्हें मान लना चाहिए कि वे जानबूझकर उलटा और साहस का काम करते हैं। परिवार के रूप में रहकर आश्रम के रूप में हमने रहना शुरू किया है अपने बीच भोग का नहीं साधना का संवध रखना हमने स्थिर किया तो जमे एक भारी जिम्मेदारी अपने ऊपर ली है। वह यह कि हम वह नष्ट मानते जा दूसरे समझकर साग मानते हैं। क्या करें हमारा दान और है। हाँ सक्ता है गिना हमारी उलटा हो पर हम उसी का सही दम्बते हैं। हमारा निमंत्रण है कि जो भावश्यकताएँ कम करना चाहें वे हमारे साथ आ जायें। यथावश्यक से अधिक हमसे किसी का लेना नहीं है और यथाशक्ति दत्ते रहना है। हम मानते हैं कि इसी में हमारा बन है। जाहिरा निबलता हो सक्ती है पर हम तो उसी मनीषा में बन का अनुभव प्राप्त होता है। वस्तु की धिता सवारी गाठकर क्या समी को भरमा नहीं रही है? हमने अपने लिये उस चक्र को व्यर्थ समझा है। वस्तु में बल हा तो वस्तु जितने के फलस्वरूप शक्ति और सुख मिलने चाहिए। वसा मिलता तो कही दीखता नहीं। इतिहास में भी किसी ने अभी तक ऐसा अपना अनुभव जनाया नहीं है। जा हो हमने तो माना है कि बल सद्भाव में है। उस तरह अपने पान ही बल है कही दूर और असल वह नहीं है। आदमी जा दीन बन गया है ता हमी मोह में घिरकर कि बल बाहर निकले म है। ऐसा मानने पर हाथ पर हाथ धरे वह देखता रह जाता है। हथा को काम में नहीं लगा पाता। माह व्यक्तित्व होता तो वह जात भी रहता। समाज ही मारा का सारा उससे आच्छन्न है। इससे बेवगी बन रही है और दूसरी ओर दफ उठ आया है। हम सब यहाँ दूसरी धडा से बंध गए हैं और अपरिग्रह और अनिचनता में से बल प्रकट कर लिखाना चाहते हैं। तब शायद हो सकता है कि माह टूटना शुरू हो और सामान्य जीवन का मूल्य प्रथम मूल्य न रहकर मानव-मूल्य बन।

साधना के लिये मन्दिर और काल आदि बनाकर वहाँ रहने वाले जैसे यह बोध घनायाम अपने ऊपर छोड़ लेते हैं। चहाब से उलटे यह ऊपर की ओर

सँरने जसा है । शुभ हो कि य इम प्रयाग तक भाय ही नहीं । पर अगर जान बूझकर भात और उसम उतरत हैं तो फिर बहाव स तो उनके लिय लडना ही रह जाता है । उसका मुभाता उनके त्रिय नहीं रह जाता बहाव म बहन म जोर कुछ पता हां नहां बकि गति भनायास हाती है । इसको सामायतया प्रगति भी माना जाता है । कोई कारण नही कि दावा किया जाय कि वह प्रगति नहा है । लकिन जिहानि आरम्भ म ही ममक बूझकर मुह उसम उलती और किया चहें उसस लाभ लेने का भवसर नहीं रह जाता । उम दिशा का साधय और वग उहें अनिष्ट बनता है । माना साधक लोग यह कठिनाई अपन लिय पदा करके ही साधनाश्रम आदि की स्थापना म सगते हैं ।

उन आश्रमाणि की तो चर्चा ही क्या कि जो ऊपर से आश्रम और आर स दूबान है । ऐसी मनोरजन घटनाए विद्यमान हैं यह कहने की भावयकता ही नहा । बकि उस कारण और भी भावयक हो जाता है कि साधना और सामुदायिक साधना की और बने वान और उनके लिये स्थल और सस्या विाप का निर्माण करन वाल चतावनी ले सें । व्यवस्था के युग में मनमव नहीं है कि साधना की भी दूमरे जनव्यवमाय क रूप म लें । हमने खोला आश्रम है लोग समझ दुवान खुली है । एसा समझने म दोष उनका न होगा युग की हवा एसी है । यह गलतफहमी आश्रमवासियों का परीणा म ढालती है यह शायद उसका लाभ ही कहा जा सकता है । यदि किसी कारण आश्रम या साधना आनि पवित्र शाला का मान ही नापो क मन स गिरा ता यह बडी दुघटना होगी । लकिन यह मान पुनस्यापित भी हो सकता है और यह तब हांगा जब साधना की परीणा म कम जाने की निमंत्रण दें ।

परीणा सब थडा की है । आज का युग सस्यावा ना कहा जाता है । समाजवा का विचार आया है न उसम व्यक्ति की निजता का भाय म्ना पड़ गया है । समूह और समुदाय की गिनती अधिक हान लगी है । व्यक्तिगत सपत्ति पाप समाजगत सस्यागत पुण्य । आप सस्या क नाम मे लाभ कर सकते हैं और वह उद्यम है परमाप है आयया वह ग्याय है । यानी नतिक नियम वा व्यति क निय माय है मरथा के लिय व घनावयक हा जात हैं । घपना रिपह घटिगा व्यक्तिगत जीवन म हो तो हम मनाप रहता है । जिन सग्या या समूह या दल क हम मन्म्य हा उगव पाप का बडे म बडा पड और उनका गणन मण्डनात्मक व्यवहार अनुचित नहीं माना जाता । ठीक इसी जगह थडा की परीणा होती है । थडावान जिनको मानेगा पूरे तौर पर मानेगा । सब निशाया और सब भोगेगापा में मानेगा ।

गांधी जी ने इस अनिवायता को यहिचाता । फण्ड से वह बचे नहीं केन्द्रित फण्ड भी उनके अधीन रहे । लाखो-लाख करोड़ों-करोड द्रव्य का विनिमोग उनसे हुआ । लेकिन थडा जो उनम ज्वलत रही सो उसके चरिताम और पति साय व सबध म फिर भोमस नही हो सकी । इसलिये उनके कारण धवित और बल की धारणा गगनात्मक की जगह गुणात्मक हाती चली गई । साधनमूलक बल की धारणा होने से वस्तु का महत्व बढ़ता और उसकी प्रचुरता म मोह और आदर बढ़ता है । सब गणना की अपेक्षा म गुण का महत्व कम होता जाता है । दूसरे शब्दो में वस्तु स व्यक्ति गौण और हीन बनता है ।

आज का सकट क्या है । उसे सम्मता का ही सकट कहना चाहिए । वह सकट यही तो है कि आदमी का मूल्य घटते घटते शून्य हो गया है । शून्य से भी कम करण रूप में हो गया है । जबकि यत्र ना मूल्य बढ़ता जा रहा है । यत्र पाकर आदमी अपने को धनवान गिनता है और धन की धोर बढ़ने के लिये यत्र को इकट्ठा करता है जबकि उसी के लिए आदमी भारी पड़ जाता है । नौकर और मजदूर के रूप म वह उन्हें कितनी सख्या में भरती कर लेगा क्योंकि तब वह आदमी से धक बना जाता है । सुख-दुख अनुभव करने वाले उस जीवित इन्सान के रूप म जो समभागी बनना चाहता है भारी मालूम होने लगता है । आपसी सबधो का सूत्र विषम और जजर हा गया है । सामुदायिक इकाइयां बढ़ी-बढ़ी खड़ी हो आई है लेकिन उसे उनको समुक्त और संगठित रखने वाले तत्व अन्त में स्वाय और स्पष्टी ही है । राष्ट्र अपनी उन्नति अधिक एकस पोर्ट में देखता है यानी दूसरे देशो म मण्डी फलाये रखने में अपनी समृद्धि देखता है । इस सकट के सम्मुख कौन है जो सापनों को मपन्नता और बहुलता नही चाहता ।

अपरिग्रह उसी वृत्ति का नाम है । सदुपयोग के भाते ही उसे वस्तु की भाव्ययकता है । अर्थात् वस्तु का संग्रह उस नहीं चाहिये । अधिक वस्तु अर्थात् अधिक प्रमृता—यह जो सामान्य बोध और अनुभव है अपरिग्रह का नियम उससे उलटा चलता है । बल का बोध उसका राशि और परिधाण म नहीं है । वह आंतरिक है ।

बहने की आवश्यकता नही है कि धन और जन परस्पर विच्छा नही सकने । शरीर के बिना आत्मा नही है और अन्न के बिना जीवन नहा है । व्यक्ति वस्तुहीन होकर रहा है न रहेगा । इसलिए वह अध्यात्मवात् और मीतिकवात् जो इस मगति और सम्बद्धता को नही देखना चाहता एव निरा धायहवाद रह जाता है । लेकिन श्रद्धाओं म अक्षय भिन्नता हो सकती है । गांधी और स्टालिन

की श्रद्धाभा को एक मानना घोखा माना होगा ।

समाजवा एका प्रकार का वस्तुवाद है । साम्यवाद तो वह ही है । उसका प्रयोग होता रहा है और हो रहा है । उसकी भाषा लगभग समाप्त प्राय है । उसमें स्वयं दीखना बंद हो गया है । कुछ छोटे पिछड़े दलों की बात छोड़ दीजिये । लेकिन जहाँ विचार का भवसर है वहाँ समाधान उन वाला न नहीं दीख पाता । कारण ये वाद बहुत हृद तक क्रियावित हो चुके और अपनी समाधानों की सीमाओं को दर्शा चुके हैं । उनकी सम्भावना की सीमा हममें है कि वे मूलतः वस्तुवाद के ही रूप हैं । उसमें मूलगत मूल्य की श्रान्ति प्राप्त नहीं होती । केन्द्रित राशि और श्रद्धित अधिकार का मोह बना चला जाता है ।

ये मोह दो नहीं हैं । राशि का महत्व मिलते ही अधिकार के प्रश्न को महत्व मिल जाता है और आज अधिकार ही एनी चीज है जिसको हरेक अपने लिये चाहता है दूसरे के लिये नहीं बिलकुल नहीं चाहता । सब चाहते हैं मुझ में अधिकार रहे कोई नहीं चाहता मुझ पर अधिकार रहे । इन अधिकार की चेतना और चाहना ने सारी व्यवस्था का भभोटा डाला है । इन ध्याधि से छूटनारा तब तक मिलना सगत और सम्भव नहीं बन सकता है जब तक धल का बोध वस्तु और उसके परिमाण में रहेगा । क्योंकि वह तब अपनी निबलता और न्यूनता के बोध पर व्यथित अपने भीतर उतरन और वहाँ में विन्वाम और सेवा की शक्ति लाने के बजाय बाहर साधन की छीन मपट और अजन गजन में सगन दोड़गा और तब विग्रह के निवाय दूसरा और क्या हाय माने वाला है ?

इसलिये केन्द्र का उन प्रधान व्यक्ति को वातु पर मैं भव तब भटका हूँ और गोषता रह जाना हूँ कि क्या वहाँ से इष्ट श्रान्ति का प्रादुर्भाव हो सकेगा ?

समाज दर्शन

इतिहास में समय-समय पर क्रांतियाँ हुआ करती हैं। उसमें सब उलट-पलट जाता है। बड़ा-बड़ा नहीं रहता और छोटे अपने को छोटा नहीं मानते। यह इसलिये होता है कि लोग का दान बदल जाता है।

हम एक व्यवस्था के अधीन रहते हैं। धन-धान उनके मूल्य स्थिर हो जाया करत है। समाज में तन्नुसार श्रमिया पड जाती हैं और वे हम उचित मालूम होनी है। धस्तुधा का व्यक्तियों का वर्गों का प्रमुख मूल्य बघ जाता है। उसमें श्रिधा नहीं होती और ऐसे व्यवहार सुगमता से चलता है।

लेकिन फिर कोई होता है जिसके मन में स्थापित मूल्य जम नहा पाता। उसको दीव्यता ही कुछ भलग है। उस दर्शन के मूल्य भिन्न होने हैं। उस कारण वह व्यक्ति स्वयं कुछ बतमान व्यवस्था से अनमिन हाना है। इस एकाकीपन से उनको और दृढता मिलती है। व्यक्तित्व को धार प्राप्त होती है। वह साग्रह अपने दान को रखता और दता है। व्यवहार उनका अपने अनुसार होता है। एसा व्यक्ति दुस उठाता और घत में कुछ और नये मूल्यों की भागी दे जाता है। धीरे धीरे वह दान घर करता है। तब पहले के वन मूल्य बिगन लगते हैं। सागा को लग जाता है कि व्यवस्था स्थिर न थी न है। जो बडा या वह निफ मानन से बडा था। एस मान्यताए बहती और परिणाम में दीखने वाली क्रातिया हुआ करती हैं।

मानव का वह दान उत्तरोत्तर भेद भेद की और उठता है। प्रतिभा की सदा यह गति है। उस सहमा किसी उच्चतर समन्वय की प्राप्ति होती है। तब उसमें नीच के तल के विभाग के प्रति उसमें अनान्यता हो उठती है। उसके द्वारा यह माता है कि परम्परा एक है प्रगति उससे भिन्न है।

मानव हठात् सम्यक और समग्र दान पाय बिना बन नहीं पा सकता। अपूर्ण से पूर्ण एषाग में समग्र की ओर उठत और उठाने जाना बाल का घम है। बाल की इस गति को तरह-तरह से चित्रित किया गया है। अनुभव में आता है कि यह समगति नहीं है। जम कभी वह दाडता और कभी आराम

करने लगता हो। काल के भाग्य में आराम नहा बताते हैं लेकिन कुछ युग सचमुच गान्त बीत है। जस तिन का हगामा न हो और सुख सपना की रात हो। ऐसे समय काय और कला का खूब उदकप हुआ है। मूल्या के बारे में सब दुविधा नहीं रही है। कवि को समाज के आगे गिर भुक्ताने और उसकी स्तुति गाने में बठिनाई अनुभव नहीं हुई है। ऐसे कविता उमकी जीनी गई है सो भी बात नहीं है। केवल इतना है कि समाज में लागा की विविध स्थितियां जम गई हैं और व्यवहार की परिपाटियां चिक्की बनी रही हैं।

लेकिन ऐसी शांत स्थिर मुविधा में रक्कर कान ठहरा कसे रह सकता है। उस पर विक्रम का दायित्व है। इसलिए विचार के और स्वप्न के रोग जन्म लते हैं। वे मुविधा की मुविधा नहीं लते। या अपने लिए वे समुविधा रखते हैं। वे मानते हैं नहीं कि व्यवस्था सही या सब कुछ है। व्यवस्था का मतमान उन्हें नहीं सुनना नहीं गिनता और अपना और में उन्हें छोटी न्ये रहता है। पर वे अपनी बहुत हैं अपने को गिनते हैं और छोटी नहीं लेते न किसी का दना चाहते हैं।

कुछ सनी पहल विज्ञान आया। विन्ही लोग उम विज्ञान को लाये थे। पर पीछे जाकर उसमें सब काम और रपया बनने लगा। जिनके लिए विज्ञान जान का विषय था। वे फिर भी उस पुन और उस हाल में रहे। लेकिन जिनके लिए वह विज्ञान जान में अधिक काम का हुआ वे व्यवस्था के साथ पर आत गए। मूल्य बढ़ये और विज्ञान के आविष्कारों के आधार पर व्यवस्था बनाने वाला यह गया आत्मी प्रदान बनना चला गया। पहले वे बड़ आत्मी में यह मिन था। उममें क्षत्रिय के गुण थे वह स्वाधीन रहता था और धान-धान रखता था। यह व्यवसायी मगन से बनता था और समझने में कुशल था। यह औद्योगिक शक्ति हुई और तनबारी दिनेरी की जगह अपने-बीच का महत्व था।

सोय निबन्ध हुए। शहर और बन्दरगाह बनपने लग और मालूम हुआ कि सब से प्राप्त हुए परस्पर सम्बन्धों के नियमन की व्यवस्था कम पड़ रही है। ममस्या की प्रायः अधिक होती है और समाज का विषय जग एक स्वतंत्र गान्त्र का विषय है। गोगतिम्ब शब्द के आगपाम बहुत चिन्तन बनना शुरू हुआ।

इस मयन में सब एक दान की चिन्तारो प्राप्त हुई। यह वह विधि स्वयंभू बन्यु नहीं है। यह श्रम का परिणाम है। श्रम मूल धन है। यह मामा त्रिक निष्पत्ति है। पूजी स्वतंत्र मूल्य नहीं है। पूजीपति दोषण के आधार पर बना जाता है।

इस दशन ने और माने हुए अधिकारी की भययापता का निम्पण करने वाले इसके पूर्व चिंतन ने मिलकर एक नई त्रांति का बीज बो दिया। भय तक मामूली और मेहनती भादमी अपने को मामूली और मेहनती ही गिनता था। भय उसम प्रदन हुआ कि वह बसा ही क्या है ? जो नया दर्शन उसम उतर चला था कि यसा वह ऊपर वालो की अभिसधि और पठयन के कारण है, उसने भाषनाओं में बाहद भरो। ध्यवस्था इससे ढीली हुई और तस्त पलने। साम्य बाद फूटा और जमा। भय बराबर बहुफल रहा है।

लेकिन इधर एक नया और समप्रता का दर्शन सामने आ रहा है। गांधी के व्यक्तित्व से बहु लोगो को मिला। वह यह कि समाज दो या अधिक वर्गों का समुच्चय नहीं है। वह अपने म एक इकाई है। वर्गों और ध्येणिया के सघर्षों की भाषा सतह को लेती है मम की कहती नहीं। मम यह कि छोटा बडा ऊचा-नीचा भच्छा-बुरा ये एकदम दो नहीं है। बल्कि एक दूसरे को धामते हैं। ऊचा नीचे को दबाता है या नीचा। ऊचे को गिराना चाहता है तो दृष्टि दोष के धमीन ऐसा होता है। कारण उसमे भय और ड्रप है। उससे स्थान का ऊचा-नीचपन बल्कि कायम होता है। उन स्थानो पर व्यक्तियों की बरुव धदसा बदली हो जाती है पर उस धाधार पर त्रांति टिकने वाली इसलिए नहीं है कि उससे ध्यवस्था म मूल भन्तर नहीं पडता। फिर स्थानो और नामों का भन्तर भसल मूल्यान्तीकरण नहीं है। गवनर का नाम कमिसार हो जाय और कैसर प्रेसिडेंट कहा जाय तो इतने से जीवन मे गुणात्मक धतर नहीं आ जायगा। कुर्गों पर बठे भादमी के मनोभाव बदलने तब जब समाज म ही मूल्य और मनोभाव बदने हुए होंगे। गलती यह है कि एक को हम दूसरे से भसल मानत हैं। ऐसे भच्छे को पुरस्कार और बुरे को दण्ड देते हैं। ऊपरी तौर पर तो यह क्रिया जा सकता है। पर सही देखा जाय तो भच्छा वही होना चाहिए जो बुराई के लिए अपने को जिम्मेदार मानता है। धनिक वह जो निधन और निधनता के लिए अपने को जिम्मेदार मान सकता हो। इस तरह जिसके पास जा होगा प्रतिक्षण अनुभव करेगा कि वह उसका किसी तरह नहीं है, भमानत भर है। धाखिर त्रांति का दूसरा मतलब क्या है ? पुराने की जगह जो नया भादमी धधिकार पर भाता है उसे बता निया जाता है कि धधिकार वह उसका नहीं है सिफ जिम्मेदारी है। कानून के बल से ता सिफ धधिकार बहु पडुषता है जिम्मेदारी भन्त करण से आ सकती है। ऊपर के डर से जो जिम्मेदारी निर्माई जाती है वहां डर किसी तरह बचाया जा सके तो जिम्मेदारी बहा से भाग जाती है। तब निर्वाचित भादमी पणरुड होकर भपसरी और हैकडी जता

सकता है।

यह दशन जो समाज को एक इकाई के रूप में लेता और दिखाता है कि साधु दुष्ट है अमंग नहीं है, धनिक निधन से अलग नहीं है और शासक शासित से अलग नहीं है धीरे धीरे लोगों के मनो में उतरता जा रहा है। इसको अपनाते पर वग विग्रह की पद्धति वाला दशन प्रचुरा और मोछा दोखने लगता है। तब मालूम होता है कि शोषक वही नहीं है जो धनिक है, हम भी हैं जो धनिक की जगह होना चाहते हैं। इस दशन में से जो सत्य प्राप्त होता है, उसमें शोषण का बीज ही अन्त होता है। इसको अपनाकर अधिकार में समता और धन में स्वतन्त्रता का भाव रह नहीं जाता। राजनीतिक क्रांति स्मानान्तर कर सकती है भावांतर तो गहरे दशन में से ही प्राप्त हो सकता है। अधिकार दशन में से राजनीतिक परिणाम ही निष्पन्न होता है। उसमें अधिक फल के लिए क्रांति अधिक तलस्पर्शी और दशन अधिक समन्वित होगा। तब आरंभ हो सकता है कि मौलिक क्रांति हो। वह यह कि ऊंचा वह जो अपने को नीचे से नीचा समझे। धन और अधिकार उस पर भाव जिसे य शोना चार्जे चुभती हो। तब व्यक्तियों में होठ परस्पर भोग और पद के लिए न हागा त्याग और मुक्ति के लिए होगी।

राजनीतिक क्रांति के पीछे हत्यारों का इतिहास मिलता है। शुरू में जो साधु अपने अन्त की ओर मालूम हुआ कि उन्हीं के लिए एक दूसरे का व्यवहार करना जरूरी है। व्यवस्था बेरी के मानिद है। आखिर शोष पर एक और बेवम एक होगा। इसमें शत्रुता के लिए मित्रता ही भूमिका होगी। साधियों में ईर्ष्या और भय और द्वेष में बचाया नहीं जा सकता। अन्त में एक एक कर अपने साधियों को अन्त करने के बाद ही शोष स्थानीय एक एक को थोड़ी निश्चिन्तता मिल पायेगी। क्रांति जो राजनीतिक है उसमें इसके सिवा दूसरा कुछ हो नहीं सकता। व्यवस्था जबतक दृढ़ और श्रेणी के आधार पर है तो उस भूमिका पर क्रांति कितनी भी हो उसमें से क्रांति पमित होने वाली नहीं है। क्योंकि कोई कारण ही वही नहीं रहता है कि स्थान का अन्तर परस्पर गगन और अमन न उपजाये। अन्तर तो सत्ता रहने ही वाला है। जहाँ सब समान हों वहाँ की स्वतन्त्रता जगल की सी है। यानी कि जिसका जा चाहे निकार करे। स्वतन्त्रता की उच्च हिंस्र-वृत्ति को रोकने का साधन कम वहाँ राज्य की कानून और दण्डशास्त्रि रहनी है। यह दोना व्यक्तियों अन्त में समष्टि हिंसा की ही तो है। धन समष्टि और समायी होगी अतिक्रान्ति। वही स्वच्छा से नीचा बनकर आदर्श अधिक स्वाधीनता का रूप पायेगा और उगम में मृज्ज की स्फूर्ति

३४ परिश्रम

बराबर होती रहेगी। वह नूतन दसान जगत् को दान-दान प्राप्त हो रहा है।
शाका नहीं ह कि यह फल लायेगा। देर भवेर इसम हो सकती ह। लेकिन फल
उसका बांसी नहीं होगा। यथास उसम न पडेगी न प्रतिश्रिया उपजगी। वह
भावी भवदयम्भावी ह। कारण विश्व स्थिति का सकट गम्भीर है और अगला
न्यून मानवता का मजबूत और सही ही हागा। विज्ञान इतना बढ गया ह कि
उससे हल्का और कम कीई दान अब लोगो के मनो क छू और पकड़ नहीं
सकेगा। भोगते भुगतते अब लागो के मन इतने पक आय है।

जुलाई ५६३

□ □ □

नेतृत्व, समय और प्रलय

हम समय में जीते हैं। समय का भाति नहीं और अन्त भी नहा। लेकिन हम जीने वाला का सा आरम्भ है और अन्त भी है। एक घाम राज हमने जम पाया और जीने की शुरूआत हो गई। वही तरह एक दिन होगा कि मौत भी जायगी और हमारा आत्मा हो जायगा। फिर भी समय चलता वह खोना को जिलाता मारता और खोजो को नया-पुराना करता रहगा। बस स्वयं प्रकाश रहता है इसीलिए सब-कुछ काल कबनित करता चला जाता है। भागों भागे धारा धार जो यह अहरह उत्पत्ति विनाश की लीला चल रही है, कहा जाता है कि सब उस समय की करती है।

लेकिन यह कहने का मुहावरा ही है। समय के पास अपनी बार्स हस्ती नहीं लावत नहा। बाल लो गेम ही है जग आकाश है। यह स्वयं म दूय है और कुछ करता करता नहीं है। मानों वह बग आयाम है कि जिमम सब हाता आता है। शिवा की सूचना म अधिक उसम कुछ इयता नहीं है।

होन परिधतना पर हमारी धारि जानी है। उसम इकार नहीं हा सकता। इसी शिवा का सबसे बड़ी चड़ी बौनातो को भीजिण कि जहां म मकान एक से एक आनीगान हैं। गिनती के कुछ करम पहने यह निरी गुनगान बोहड अगह थी। आज सम्पना जगमग है कि बल तक जहां आत्मी का निगान भी मजर न आता था। और क्या पता कि पनाम गी मान था फिर वहां यही उजाड़ बियावान हो जाय। समय सब सीलता जाता है।

हा क्या समय के आयाम म होन वाला सब कुछ मित्र जाने हा जाता है? क्या सब व्यय है? प्रयका कि कुछ उमम अप भी है?

इतिहास का अध्ययन करने भाग मतान हैं कि भूत मय निर्माण नहीं है। पर गलत या तो जाने क्या भाव दन लग गया है। माना उममें कुछ आना न हो शक्ति का रार डर ही उमम भरा रर गया हा। भूत म गाय अग प्रल भी ही गति हो। और मधमुच सोग है जो भविष्य म आग गगार भूत को निकर बनार विच रहना चाहते हैं। सबिन इतिहास घनात को मरन नया देता है।

उरुटे उसे सापक और सारवान तक प्रकट कर दिखाता है। बीते अतीत के पीछे और वर्तमान की धरती के पगलों के नीचे जाकर लोग विकास व सिद्धान्त को ऊपर खींच लाये हैं। उससे ज्ञात होता है कि आज हम आदमी हैं लेकिन कभी या कि हम ता ये लेकिन आदमी नहीं थे। हो सकता है कि जानवर के रूप में हों, जैसे बन्दर इत्यादि। या उसके भी पार जाकर वृमि-कोट के रूप में हो। अर्थात् पीछे की ओर गया हुआ अध्ययन सिद्ध करता है कि समय की गति धीरे-धीरे नहीं है वह चेतना की आगे बढ़ा जाती है, समय ढांटा चला जाता है, अक्षय, लेकिन इस सब प्रक्रिया के द्वारा वह कुछ बनाता भी चला जा रहा है। निरन्तर विकासशील वह तत्व है अतः।

इसी बात को दूसरे छान्दों में कहे तो समय अपनी समग्र यात्रा में जितनी मात्रा में चेतना का अणु जाता है उतना ही वह सापेक्ष होता है। इससे अति रिक्त की शेष कर घर या भाग शीघ्र से वापद उन्नति या विकास का सम्बन्ध नहीं है।

● ●

जिन्तु चेतना के उन्नयन को देखा और नापा कैसे जाय ? इसीलिए नाना भ्रम और मतवाद चला करते हैं। या एक दूसरे को काटते और विग्रह रचते हैं। समय के इस प्रवाह में क्या निरर्थक होता आ रहा है और क्या वह मापक है जो परोक्ष में सम्पन्न हो रहा है इसको जानने का कोई प्रत्यक्ष उपाय नहीं है। वर्तमान में इतना कम प्रपञ्च चलता है कि उसका हेतुधा का पृथक्करण करना कठिन होता है। उक्त उन्नयन में सौ लोग सिद्धा निकाशते हैं अक्षय, लेकिन अधिकांश होते हैं। उनसे सम्बन्ध होता

‘सर्वाइवल ऑफ दै फिटिस्ट’ । किन्तु लम्बे अनुभव म से देखने में आया कि सब के सिर पर सत्राट बनकर जो बठा है वह मरा तो एसा कि समय म मदा क लिए सो गया इतिहास म जी नहीं पाया । इस तरह प्रस्तुत विग्रह और सभय यद्यपि सबसे महत्व का व्यापार आज मालूम होता है तो भी इतिहास का सार उससे विनारे या पार नहीं छू जाता है । अथवा हो सकता है कि वह माराण गृह अन्तर गम में नहीं हो ।

युद्धों की कहानियाँ हम पढ़ते हैं और वे हम रस देती हैं । सच यह है कि जीने का क्षत्र वरुन का क्षेत्र है और कुक्षेत्र युद्ध-क्षत्र है । यह दूसरी बात है कि धम-क्षत्र भी उससे अक्षत्र नहीं दूसरा न हो । तभी देखते हैं कि भारत का सनातन धम यत्न सहस्रादियों से चलकर आज तिन तक यहाँ तिन रह गया है तो उन दो पुराण-ग्रन्थों के आधार पर जो युद्ध ग्रन्थ ही हैं । धम ग्रन्थ से भी आगे वे धम-बोध धन गये हैं । मानों के अमुक मिढात नहीं बहने हैं बल्कि समूची जीवन मसृति का विस्तरण कर जाते हैं । रामायण और महाभारत की उन गाथाओं के बीच माना समान धाम-मसृति को रच दिया गया है । उत्तर और दक्षिण इन दो ध्रुवों के मध्य जसे पृथ्वी स्वयं म और आकाश मे प्रमती हुई स्थित है वस ही माना राम और कृष्ण के ध्रुवादर्शों के मध्य समली हुई भारतीय मसृति अवस्थित और गतिमान है । मिढात अचल हो सकता है किन्तु पुराणा म जो धम आवर्तित हुआ है उसम गति का पूरा समावेश है । वह धम किसी मिढात की परिभाषा म नहीं समाता प्रत्युत कतना सचेतन और ज्वलन्त रहता है कि परिभाषाओं के लिए अज्ञय खोल और आदेश का काम देता जाता है ।

किन्तु इन दूर की और ऊँची बातों से इधर हम हाल ही की चर्चा करना थी । आज गिबिनि डांबाडोल मालूम होती है । स्वराज्य के वां भारतवर्ष ने पण्डित वर्ग भोगे हैं और तथमे एक ही दल की एक सरकार यहाँ बनी रही है । लेकिन बीच में यह अनुभव होने लगा कि सनातन दल को इधर जो राजत्व का काम करना पड़ रहा था और उधर प्रजा के काम का भी जो उमने शक्तिव उठाया था सो उन दोनों पक्षा में सन्तुलन बिगड़ घना था । राज की प्रजा के मन के निबन्ध रगना जरूरी था । स्वराज्य का मविधान न जनतन्त्रात्मक घनाया था । लेकिन लगा लगने लगा था कि राज्य मे प्रजा अलग हूँती जा रही है । हम गिबिनि म जो आग घनाया गया उगका नाम कामराज योजना हुआ । दानी हुए प्रमग मन्त्री मन्त्रित्व रोपण बाहर था जाय । किन्तु यह उपाय मेम की धार म घना हुआ है या घना तत्र व्यवस्था को दृढ़ बन घना

दलीय उपाय ?

इस सवमे जो प्रश्न उपस्थित होता है वह है नेतृत्व का प्रश्न । राज की नीति समाज की नीति से बहुत भिन्न नहीं हो सकती । अर्थात् राज-नेतृत्व को जाने-अनजाने समाज-नेतृत्व भी बनकर रहना होता है । जसा राजा वसी प्रजा ! लेकिन लोग ध्रुव उस उचित के पलट रूप को अधिक ध्यान में लेने लगे हैं । जसी प्रजा वसा राजा । राजा अगर उह ठीक नहीं मालूम होता है तो ध अपने काम के लिए प्रजा की तरफ मुह करना आवश्यक समझते हैं । कामराज योजना का मतलब है कि राज करने वाला दस स्वयं अनुभव कर भाया है कि ध्यान को राज-ता से ज्यादा जन-ता में रखना होगा ।

हमारे इस भारत देश का दुर्भाग्य यह है कि यहा हाल में गांधी हो गये हैं । उह हम राष्ट्र पिता कहते हैं साथ महात्मा भी कहते हैं । इस सद्भाग्य को दुर्भाग्य कहते कष्ट होता है । लेकिन इस घटना ने जन-साधारण में अपने राजवर्तियों से एसी अपेक्षाएं भर दी हैं कि राज्य की उससे कठिनाई बहुत बढ़ जाती है ।



माक्स ने एक नया दशन संसार को दिया । उसने आधार पर इस देश में एक नया साम्यवादी राज्य आ गया । राज्य वग के लिए पहली कठिनाई तो उसने पदा की । राजा पहले खास भादमी हुमा करता था । अंदर से बहुत खास हो कि न हो ऊपर से उस बहद खास बना कर रखा जाता था । जम से वह विशिष्ट होता था और लालन पालन से भी । बीच में कुछ जातियां हुइ, और राजाभा के सिर कटे । लेकिन जाति बीतते ही समाज की स्थिति फिर पहले जसी हो गई । मानो प्रजा में हाकिम को अपनार को राजा को फिर उसी ऐश्वर्य और आहम्वर के बीच दखने की आदत और आशा जग आई । प्रजा ऊपर आस उठाकर राजवर्ष की ओर देखती थी और उस विमुक्त में उसे सन्तोष होता था । सबसे बढ़ चढ़कर न हो तो वह राजा ही क्या ? बभव और ऐश्वर्य से उस मण्डलित होना ही चाहिए । और सबमुख इस बभव का अन्तर बीच में डालकर राजा के प्रभाव को अनिवाय और अमोघ बनाया जाता था । रोमान्स की भांति यह प्रजा जनको प्रिय होता था अब भी वही-वही प्रिय होता है । लेकिन माक्स ने इस घन बभव की सत्ता के बारे में कुछ ऐसी दृष्टि लोगों के मनों में उतार दी कि उसका आसक और प्रभाव जाता रहा । पहले यदि उसके प्रति प्रशंसा का भाव होता था तो इस नये दशन के सहारे निन्दा का भाव जागने लग गया । पहले वसा शासक पोषक और रक्षक समझा जाता था ।

इस नवदंगन के अधीन वह शोषक और भयक दीयने लग गया। परिणाम यह कि छत्र दण्डधारी राजत्व का जो सर्वोच्च प्रतीक था वह जारइस क्रान्ति में सग्न के लिए मार डाला गया। इस साम्यवाद ने आम लोगों के मनों में यह भ्रम दिया कि राजा उनमें से ही हो सकता है विगिष्ट नही हो सकता।

नृत्व की कल्पना के परम्परागत रूप का पहला घाघात साम्यवाद की ओर से यह लगा। विगिष्ट के कुलीन होने मानों दुगुण हो गया। नेता के लिए सम सामान्य और सबमाधारण बनना आवश्यक होने लगा। फिर भी साम्यवाद ने स्थापित राज्य का जा स्वरूप लिया उसमें धीरे धीरे कृत्स्निक बम होने लगे। साम्यवाद का और क्रमनिके दुग प्रमादका धीरे धीरे मूल बटन लगा। वहाँ भी नेता के लिए सुविधाघाता की धार से विगिष्ट बनना मानों सट्टर और प्राण होने लगा।

फिर भी मात्रम ने जा दृष्टि दी वह जन-सामान्य गहरी धर धर चुकी थी। समय-समय पर जन-नेता के रूप में प्रगट होने रहने की आवश्यकता राज-नेता के लगे बनी रही। मृदुचेव चाहें रहें महल में चाहें रहें लेकिन वे सबके लिए सुलभ और प्रामोय हैं इसका प्रमाण करते रहना उनके लिए जरूरी होता है। इतने मात्र से साम्यवादी दंगा में कृत्स्निक ऊपरी तौरपर हल हो जाती है यदि वही नीचे समन्तोप हो ता वह ऊपर फूटने बिना रह जा सकता है।

किन्तु भारत की हालत उसमें दूरी है। गांधी ने प्रप्रेजी राज्य के रहत हुए भी भारत देण के मन पर इतने मन्वे बाल तक एकछत्र राज्य किया। जिस तत्र द्वारा उग महात्मा का राजकाज बनना था उसका काप्रेम था। नाम काप्रेम का बसा कारोबार था। सम्बा घोण दालर उनके लिए जरूरी होता था। लेकिन गांधी की रात्रधानी मजाप्राप्त थी जहाँ फूग की कृत्स्निक थी। सबके बीच प्याई पर वह राज-राजेश्वर उगना-बटना-मोता था।

यदि विद्रोह के मन में उनरला नहीं है। इगन पाये उमे अपनी समाप परगगा का धम भी मालूम होता है। राम बनवामा हो गये कृष्ण बाल-बान के गणी मायी बनकर रहे। इत्यादि उगाहरण भागतवामी के वित्त में एमे धठ गये है कि वह उहीं में ध्यान नता और राजा का नापना चाहता है। साम्यवा तो पाहे सममोता कर भी म लेकिन भागनाय मानग की यह मांग सममोता कर नही पाती है। धात्र का मकट टीक इमी बारण विकृत बन गया है और विवन्तर बनता जाता है।

मानूमी तौर पर राजा की प्रजा ध्यान बाच गया बनाकर गगना बाहली है। उमी तदन धात्र का गर-नेता भारत के दूतावगो को लष के और रहन

दलीय उपाय ?

इस सबसे जो प्रश्न उपस्थित होता है वह है नेतृत्व का प्रश्न । नीति समाज की नीति से बहुत भिन्न नहीं हो सकती । अर्थात् राज-जाने-भनजाने समाज-नेतृत्व भी बनकर रहना होता है । जसा राजा वर लेकिन लोग अब उस उचित के पलट रूप को अधिक ध्यान में लेने जसी प्रजा वसा राजा । राजा अगर उन्हें ठीक नहीं भासता होता है व काम के लिए प्रजा की तरफ मुह करना आवश्यक समझते हैं । काम के मतलब है कि राज करने वाला दल स्वयं अनुभव कर भाया है जो राज-ता से ज्यादा जन-ता में रखना होगा ।

हमारे इस भारत देश का दुर्भाग्य यह है कि महा हाल में हैं । उन्हें हम राष्ट्र पिता कहते हैं साथ महारत्ना भी कहते हैं । जो दुर्भाग्य बहुत बड़ा होता है । लेकिन इस घटना ने जन-साध राज-कारियों से एसी अपेक्षाएं भर दी हैं कि राज्य की उससे की जाती है ।

मावस ने एक नया दशन सत्तार को दिया । उसके साथ एक नया साम्यवादी राय आ गया । राज्य वग के लिए उसने पदा की । राजा पहले खास आदमी हुआ करता था खास हो कि न हो ऊपर से उस बेहू खास बना कर रगा वह विविष्ट होता था और लालन-पालन में भी । बीच में और राजाभा के सिर कटे । लेकिन ज्ञान्ति बीतते ही सग पहल जसो हो गई । मानो प्रजा में हाकिम को, अफसर व ऐश्वर्य और आदम्बर के बीच रखने की आदत और अरूपर भाव उठाकर राज-भ्रम को और देखती था व सन्तोष होता था । सबसे बड़-बड़भर न हो तो वह रा ऐश्वर्य से उस मण्डलित होता ही चाहिए । और सचा बीच में आकर राजा के प्रभाव को अनिवाय और रोमान्स की भांति यह प्रजा जनकी प्रिय होता था है । लेकिन मावस ने इस घन-व्यभव की सत्ता के के मनो में उतार दी कि उसका भातक और व उसके प्रति प्रशंसा का भाव होता था तो इग भाव जागने लग गया । पहले वसा शासक पोष

इस नवदशन के अधीन वह गोपक और भक्षक दीखने लग गया। परिणाम यह कि छत्र-दण्डधारी राजाव का जो सर्वोच्च प्रतीक था वह जारइस शान्ति में सत्ता के लिए मार डाला गया। इस साम्यवाद ने आम लोगों के मनों में यह भर दिया कि राजा उनमें से ही हो सकता है विशिष्ट नहीं हो सकता।

नेतृत्व की कल्पना के परम्परागत रूप का पहला आघात साम्यवाद की ओर से यह लगा। विगिष्ट व कुलीन होना माना दुगुण हो गया। नेता के लिए सम सामान्य और सबमाधारण बनना आवश्यक माने लगा।

फिर भी साम्यवाद ने न्यायित राय का जो स्वरूप लिया उसमें धीरे धीरे बर्तनार्थ कम होने लगा। साम्यवाद का और क्रमलिनक रूप प्रसादका धीरे धीरे मध्य बटन लगा। वहाँ भी नेता के लिए सुविधाओं की ओर से विगिष्ट बनना मानों सहज और प्राण्य होने लगा।

फिर भी मात्रस न जा दृष्टि दी वह जन-सामान्य गहरी घर कर चुकी थी। समय-समय पर जन-नेता के रूप में प्रगट होने रहने की आवश्यकता राज-नेता के लिए बनी रही। नरद्वेष थाहे बही रहे महल में चाह रहे लकिन वे सबके लिए मुनम और आभोय हैं इसका प्रमाण करत रहना उनक लिए जरूरी होता है। इतन मात्र स साम्यवादी देशों में बटिनाई ऊपरी तौरपर हन हो जाती है यदि बही नीचे असन्तोष हो तो वह ऊपर पटे बिना रह ना सकता है।

किन्तु भारत की हालत उससे दूसरी है। गांधी ने अग्रजी राय के रहत हुए भी भारत देश के मन पर इतने लम्बे काल तक एकछत्र राय किया। जिस तंत्र द्वारा उन महात्मा का राजकाज चलता था उसका वाग्रस था। नाम वाग्रस का बटा कारोबार था। लम्बा चौडा दालर उसक लिए जरूरी होता था। लकिन गांधी की राजधानी सबाग्राम थी जहां फूस की कूटिया थी। सबके बीच पगई पर वह राज गजवर उठना-बटता-मोता था।

यह चित्र देश के मन में उतरता नहीं है। इसक पीछे उसे अपनी तमाम परम्परा का बल भी मासूम हागा है। राम बनवामी हो गये कृष्ण ग्वान-बाच के मगी-गार्थी बनवर रह। इत्यादि उदाहरण भारतवामी के चित्त में एसे धठ गये है कि वह उहाँ से अपने नेता और राजा का नापना चाहता है। साम्यवाद तो थाहे समझीता कर भी स लकिन भारताय मानम की यह मांग समझीता कर नहीं पाता है। आज का मकत ठीक इमी कारण विकृत बन गया है और विगिष्ट बनता जाता है।

मामूना तौर पर राजा को प्रजा अपने बीच राजा बनाकर रगता थाहती है। उगी तक म आज का राज-नेता भारत के दूतावागो को लक्ष के घोर रहन

दलीय उपाय ?

इस सबमें जो प्रश्न उपस्थित होता है वह है नेतृत्व का प्रश्न । राज की नीति समाज की नीति से बहुत भिन्न नहीं हो सकती । अर्थात् राज-नेतृत्व को जाने-अनजाने समाज-नेतृत्व भी बनकर रहना होता है । जसा राजा वसी प्रजा । लेकिन लोग अब उस उचित के पसंद रूप को अधिक ध्यान में देने लगे हैं । जसी प्रजा वसा राजा । राजा अगर उह ठीक नहीं मालूम होता है तो वे अपने काम के लिए प्रजा की तरफ मुह करना आवश्यक समझते हैं । कामराज योजना का मतलब है कि राज करने वाला दल स्वयं अनुभव कर भागा है कि ध्यान को राज-ता से ज्यादा जन-ता में रखना होगा ।

हमारे इन भारत देश का दुर्भाग्य यह है कि यहा हाल में गांधी हो गये हैं । उह हम राष्ट्र पिता कहते हैं साथ महात्मा भी कहते हैं । इस सद्भाग्य को दुर्भाग्य कहते कष्ट होता है । लेकिन इस घटना ने जन-साधारण में अपने राजकर्मियों से ऐसी अपेक्षाएं भर दी हैं कि राज्य की उससे कठिनाई बहुत बढ़ जाती है ।

● ●

माक्स ने एक नया दशन ससार को दिया । उसके आधार पर रुस देश में एक नया साम्यवादी राज्य आ गया । राज्य बग के लिए पहली कठिनाई तो उसने पदा की । राजा पहले खास आदमी हुमा करता था । बाद में बहुत खास हा कि न हो ऊपर से उस बेहद खास बना कर रखा जाता था । जन्म से वह विशिष्ट होता था और लालन-पालन से भी । बीच में कुछ घातिया हुईं, और राजाओं के सिर कटे । लेकिन घातित बीतते ही समाज की स्थिति फिर पहले जसी हो गई । मानो प्रजा में हाकिम को अपसर को राजा को फिर उही ऐश्वर्य और आदर के बीच देखने की आदत और आशा जग आई । प्रजा ऊपर आब उठाकर राजवभव की ओर देखती थी और उस विभूता में उसे सन्तोष होता था । सबसे बढ़ चढ़कर न हो तो वह राजा ही क्या ? वभव और ऐश्वर्य से उसे मण्डलित हाना ही चाहिए । और सचमुच इस वभव का अन्तर बीच में डालकर राजा के प्रभाव को अनिवाय और अभाप बनाया जाता था । रोमान्स की भांति वह प्रजा जनको प्रिय होता था भव भी वही-वही प्रिय होता है । लेकिन माक्स ने इन धन-वैभव की सत्ता के बारे में कुछ ऐसी दृष्टि लोगों के मन में उठार दी कि उसका आतक और प्रभाव जाता रहा । पहले यदि उसके प्रति प्रशंसा का भाव होता था तो इस नये दान के सहारे निन्दा का भाव आगने लग गया । पहले वसा शासक पोषक और रक्षक समझा जाता था ।

भाज भी प्रबुद्ध मानस को छूते और पकड़ते हैं। मानव के ज्ञान विज्ञान में माक्स का बाद-दशन जिस गहराई तक उतरा है उससे ज्यादा गहराई तक गांधी का कम-दान उतर चुका है और उतरता जायेगा। समय के इस निर्देश पर आल मूदी नहीं जा सकती। उसको पहचानना ही होगा और नेतृत्व को अपने आचरण द्वारा इस सप्टघाई की मिसाल बनना होगा कि समझे जाने वाले जीवन मान की ऊर्घाई से और लषों की बढ़ाई से भादमी बढा नहीं होता है बढा नतिक गुणो से और सेवा के स्वभाव से हुभा जाता है। इन बाता को भावुकता की कहकर टालने से प्रजा और राजा के बीच की बढती हुई खाई को और बढने से रोका नहीं जा सकेगा। यही हाल रहा तो धीरे धीरे हाइक्मान के एक एक सदस्य को अपनी जगह पर अपराधी बनना पड जायेगा। हर भादमी भच्छी तरह रहना चाहता है और जो सब के लिए खुसहाली का बीडा उठाते हैं उनमे यह दावा रखना चाहता है कि वे पहले उस खुसहाल बनायेंगे। हो तो पीछे ही खुसहाली भप नायेंगे नही तो नही भपनायेंगे। वह भगर यह दसेगा कि उसके स्वय के हाल एस्ता हैं जबकि नताई की राह पर थोडी दूर चलकर भमुख महाशय जरा म भानामाल हो गये हैं तो निश्चय रल्लिए कि भ्रष्टाचार को रोकने की कोई योजना भारगर होने वाली नहीं है।

सहज में मामल में किसी भी देश की बराबरी पर रखना चाहता है। गांधी ने कहा था कि यह भूल है। देश गरीब है तो उसके प्रतिनिधि को गरीब दीखने में क्षम किस बात की होनी चाहिए। लेकिन गांधी की यह बात जिसको रोव-दाव रख कर गज करना है उस राजनेता की समझ में नहीं आई। परिणाम यह हुआ और हो रहा कि देश गांधी की याद करता है उसे अपनी स्वराज्य अपनी ही भाशाओं और भ्रष्टाचार से उन्टा मान्य होने लगता है और इस विडम्बना को वह समझ नहीं पाता।

यह मानता है कि समय पीछ नहीं जा सकता। मार्क्स के दशन ने यह बात हमेशा के लिए सब के मनो पर नक्का कर दी है कि गरीबी धरत है तो उसके साथ चलने वाली भ्रष्टाचारी में गोपण का दोष अवश्य है। मार्क्स की इस बात के ऊपर गांधी ने भाग बढ़कर यह और दिया दिया है कि गच्छा घादमी वही है वही हो सकता है जो कम चाहता और कम रखता है जो विशिष्ट बनने से उन्टे सेवक बनने की योगिता में रहता है। यह दोनों दशन किसी भी तरह मिटाये नहीं जा सकते। बल्कि इन न के उजागर और भ्रष्टाचारी ही होते जाने वाले हैं। जो नेतृत्व इन मये मृत्या को अपने से भ्रष्टाचारी रखेगा वह सत्ता खतरे में और ढगमग ही रहने वाला है। वह कभी जम नहीं सक्ता। अपनी रक्षा के लिए उसे सत्ता तिकड़म का सहारा लेना होगा। जब तक मन न जीता जाए सब तक जनसाधारण के अस्तित्व का विषय बनाकर अपनी हकूमत चलाना यदि सम्भव हो भी तो वह कुछ शक्तों के लिए ही हो सकता है। उस शासन में स्थायित्व नहीं आ सकता नहीं आ सकता।

आज लगता है शासन-सत्ता को गांधी के ये मूल्य याद नहीं रह गये हैं। इस क्षति के रहते हुए हम आर्थिक और भौतिक और समाजवादी और जनतंत्रीय और स्वातंत्रवादीय अथवा साम्यवादीय चर्चा बितनी भी करें उससे वह क्षति भर नहीं सकती। बातें उस घाव पर मरहम का काम दे भी जायें इसाज का काम किसी हासत में नहीं दे सकती।

एक ही उपाय है। मकट दूसरी तरह टलना असम्भव है। वह उपाय यह कि नेतृत्व समय से विच्छेद नहीं भ्रष्टाचारी बढ़े। समय को उन्ट कर कोई चला सकता है यह सम्भव नहीं है। समय का रोकने से प्रलय कूल निकले तो विस्मय की बात न होगी। गांधी की बातों को पुरालन और जीण और प्राम्य बहकर हम एनि हासिक यथाय का किसी तरह समाप्त नहीं किया जा सकता कि इसी विज्ञानवादी क्रोसवी मनी के राजकारण में गांधी ने चमत्कार शिवाया था और उसके दान

प्राज भी प्रयुद्ध मानस को छूते और पकड़ते हैं। मानव के ज्ञान विज्ञान में भावसे का धाद-दशन जिस गहराई तक उतरा है उससे ज्यादा गहराई तक गांधी का कम-दशन उतर चुका है और उतरता जायेगा। समय के इस निर्देश पर प्राज्ञ मूर्ख नहीं जा सकती। उसकी पहचानना ही होगा और नेतृत्व को अपने आचरण द्वारा इस सच्चाई की मिसाल बनना होगा कि समझे जाने वाले जीवन-मान की ऊँचाई से और लक्षों की बढ़ाई से आदमी बड़ा नहीं होता है बड़ा नतिव गुणों से और सेवा के स्वभाव से हुआ जाता है। इन बातों को भावुकता की बहुर टालने से प्रजा और राजा के बीच की बड़ती हुई खाई को और बढ़ने से रोका नहीं जा सकेगा। यही हाल रहा तो धीरे धीरे हाइक्मान के एक एक सन्स्य को अपनी जगह पर अपराधी बनना पठ जायेगा। हर आदमी अच्छी तरह रहना चाहता है और जो सब के लिए खुशहाली का बीडा उठाते है उनसे यह धावा रखना चाहता है कि व पहले उसे खुशहाल बनायेंगे। हो तो पीछ ही खुशहाली भप मायेंगे नहीं ता नहीं भपनायेंगे। वह भगर यह देखेगा कि उसके स्वय के हाल खस्ता हैं जबकि नेताई की राह पर थोड़ी दूर चलकर भमुक महाशय जरा में मालामाल हो गय हैं तो निश्चय रविए कि भ्रष्टाचार को रोकने की कोई योजना कारगर हाने वाली नहीं है।

सहन के मामले में किसी भी देश की बराबरी पर रक्नना चाहता है। गांधी ने कहा था कि यह भूल है। दल गरीब है तो उसके प्रतिनिधि को गरीब देखने में धर्म किस बात की होनी चाहिए। लेकिन गांधी की यह बात जिसको रोब-दाब रख कर राज करना है उस राजनेता की समझ में नहीं आई। परिणाम यह हुआ और हो रहा कि गांधी की याद करता है उसे अपना स्वराज अपनी ही आशाओं और भयानाशा से उल्टा मालूम होने लगता है और इस विडम्बना को वह समझ नहीं पाता।

मैं मानता हूँ कि समय पीछ नहीं जा सकता। माक्स के दगन ने यह बात हमें साबित कर लिए सब के मनो पर नक्का कर दी है कि गरीबी अगर है तो उसके साथ चलने वाली अमीरी में गोपण का दोष अवश्य है। माक्स की इस बात के अगर गांधी ने ध्यान धड़कर यह और लिखा लिया है कि सच्चा आदमी वही है वही हो सकता है जो कम चाहता और कम रखता है जो विनिष्ट बनने से उल्टे सेवक बनने की कोशिश में रहता है। यह दोना दगन किसी भी तरह मिटाये नहीं जा सकते। बल्कि दिन दिन में उजागर और अमोघ ही होते जाने वाले हैं। जो नेतृत्व इन नये मूल्यों का अपन से अमोक्षल रहेगा वह सत्ता सतरे में और हगमग ही रहने वाला है। वह कभी जम नहीं सकता। अपनी रक्षा के लिए उस सत्ता तिकड़म का सहारा लेना होगा। जब तक मन न जीता जाए तब तक जनसाधारण के अस्तित्व को विनाश बनाकर अपनी हकूमत चलाना यदि सम्भव हो भी तो वह कुछ दिनों के लिए ही हो सकता है। उस शासन में स्थायित्व नहीं पा सकता नहीं आ सकता।

आज लगता है दामन-मत्ता को गांधी के वे मूल्य याद नहीं रह गये हैं। इस दलित के रहते हुए हम आर्थिक और औद्योगिक और समाजवादी और जनतन्त्रीय और स्वातन्त्रवादीय अथवा साम्यवादीय चर्चा कितनी भी करें उसमें वह दलित भर नहीं सकती। बाते उस घाव पर मरुतम का काम न भी जायें इलाज का काम किर्सा हामत में नहीं दे सकता।

एक ही उपाय है। मरुट दूसरी तरह टलना असम्भव है। वह उपाय यह कि नेतृत्व समय से विछड़ नहीं धाग धड़। समय को उलट कर कोर्चना सकता है यह सम्भव नहीं है। समय को रोकने में प्रलय फूट निकल तो विस्मय की बात न होगी। गांधी की बात का पुरातन और जीण और ग्राम्य कहकर एनि हामिक यथाय का सिमी तरह समाप्त नहा किया जा सकता कि इसी विधानवादी सोचों मती के राजवाग्गु में गांधी ने अमत्वार लिखाया था और उसका गद

सेल्फ रियेसाइजेशन नहीं अपनी भाषा का बीजन (Vision) नहीं दर्शन सम्यक् नहीं आत्मपरक नहीं तो आज का यह भय दान-समाज-दर्शन राजनीति-दान सब मिथ्या है। सच्चा ज्ञान सम्यक् दर्शन पर आधारित होता है भयथा वह अज्ञान है। क्योंकि उसके सदर्भ में सम्यक् नहीं है आज तो को एफिसिएंट (Co Efficient) पर सब कुछ निर्भर करता है पर देखना यह है कि कोई राशि किस खाते में लिखी गई है जमा खाते में या ऋण खाते में।

धर्म देन का प्रश्न सीजिये। देन दो प्रकार की होती है। एक तो ऐसी देन जिसके विषय में हम कहते हैं कि इस पर मिट्टी डालो। दूसरी वह जिस पर हम अनुसंधान काय करत हैं। एक आदमी मोहल्ल में रहता था भर गया। बहुत कुछ भर गया। किन्तु उसके कृतित्व के विषय में कुछ कहते हैं कि साहब उस पर मिट्टी डालो उस भूलने में ही खरियत है। इतिहास भी उस भुना देता है। इतिहास में अनेक सम्राट् धर्म और चल गये। हम उनकी राजनीतिक देन खोजत हैं। मुसलमानों के यहां तो पुत्र बाप को अपने रास्त से साफ करता आया है। लोग उन्हें भूत जाते हैं।

पिछले बाई हजार वर्षों में क्या-क्या कुछ नहीं हुआ होगा पर उस समय एक 'महावीर' हुए। आज हम अनुसंधान करत हैं कि उन्होंने हमारे लिए क्या क्या छोड़ा। लोग कहत हैं उन्होंने यह छोड़ा वह छोड़ा। यह त्यागा वह त्यागा। उनका त्याग की महिमा गाई जाती है। पर जब छोड़ने की बात बनी जाती है तो मुझे तबतोफ होती है। मैं पूछता हूँ कि अधिक महत्व किसका है जो छोड़ा उसका या जो पाया उसका? जन शास्त्रों में त्याग की जितनी महिमा गाई गई है जन सांग उनका ही अधिन समूह धर्मों हैं। ऐसा क्या होता है? कारण स्पष्ट है कि हमारा ध्यान जो छोड़ा उनकी ओर अधिन रहता है प्राप्य की ओर कम। यदि आप महल छोड़कर कुटी में चल जात हैं तो कुटी बड़ी है महल नहीं। क्योंकि कुटी महान उद्देश्य की प्राप्ति में सहायक है। धर्म पाया बड़ा है छोड़ा बड़ा नहीं।

महावीर ने कोई साहित्य रचना नहीं की। महावीर के ता हूँ ही क्या अणु अणु से सतत ध्वनि विकारां होती थी किमि गणधरा न बाणी दा। आचार्यों ने उसके आधार पर रचना की और हम आज उनके अनुसंधान की बात कर रहे हैं। यह दूसरे प्रकार की देन है। इसी से साहित्य माहिय बनता है। महावीर तो जान के गूय थे। यदि उम गूय का एक किरण के एक बग भी हम पा जात हैं तो हम प्रममय हो जात हैं। हमारा ध्यकित्य इतना विज्ञान हो जात है कि हम 'स्य' को भूलकर दूसरे के विषय में सोचन लगत हैं कि

वह बताते हैं कि अभिमान अभी टूटा नहीं है इसीलिये कवल्य पान प्राप्त नहीं हो रहा है। धीरे धीरे लोगों की भीड़ छट जाती है। भक्तों का मेला हटते ही अभिमान टूटता है। ज्ञानी लोग बाहुबली को अपना लेते हैं और कवल्य ज्ञान प्राप्त हो जाता है। यदि पाठक कहानी के सार को समझ लेते हैं तो क्याकार का प्रयास सफल हो गया।

आज की यह सभा हिन्दी साहित्य सम्मेलन के तत्वावधान में हो रही है और हिन्दी मेरी अपनी भाषा है अब अपनी बात नहीं कहता। उा लोगों की बात करता हूँ जो जयहिन्द कहते हैं। हिन्द का जो कुछ है उसकी बात कहता हूँ। हम भारतवासियों को समझ लेना चाहिये कि हिन्दी की जय हिन्द की जय है अंग्रेजी की जय हिन्द का पराजय है। हिन्दी की जय के बिना हिन्द की जय नहीं हो सकती। यह बात मैं एक बिनम नागरिक की हैसियत से कहता हूँ। यदि भारत में प्रजासत्त को रहना है तो जन साधारण में बोली तथा समझी जाने वाली भाषा का सहारा लेना होगा। हिन्दी हिन्द की है उसका सहारा लेना होगा। यदि हम इसका सहारा नहीं लेंगे तो भारत की जय नहीं होने वाली है।

आप देखेंगे कि हर एक धर्म का कोई न कोई केन्द्रीय व्यक्ति और केन्द्रीय ग्रन्थ है। पर हिन्दुओं के अनेक आचार्य अनेक शास्त्र ग्रन्थ और अनेक देवता हैं। अर्थात् हिन्दु शब्द किसी एक सत्ता से बधा नहीं है। फिर भी आज हिन्दु शब्द में कुछ साम्प्रदायिकता का बोध आ गया है।

आज भी हम भारतवासियों के पास एक शब्द है जो किसी एक स्थान का, सम्प्रदाय तथा प्रदेश से बधा नहीं वह सबीण नहीं है और वह है 'हिन्दी'। कुछ लोगों के भ्रोक्षेपन को छोड़ दीजिये। हिन्दी की भवसा का शोर मचाने वालों की बात छोड़ दीजिये। हिन्दी के इन्हीं दावेदारों के कारण हिन्दी पर साम्राज्यवाद का आरोप लगा है। थोड़ी सूक्ष्मता के साथ देखिये तो पता लगेगा कि हिन्दी शब्द हिन्द के साथ सीधा जुड़ा है। हिन्दी भाषा की जय नहीं होगी जो हिन्द की जय हो नहीं सकती। यदि वेगभूषा और टेबल मैनुअल की वजह से अंग्रेजी का महत्व है तो वह अहिन्द की जय है हिन्द की नहीं।

मैं किसी प्रकार के मोह के कारण ऐसा नहीं कह रहा हूँ—हिन्द के एक प्रेमी के नाते यह रहा है। हिन्दी हमारे राष्ट्रीय एकता की प्रतीक है। यह हमारी धर्मपरायण ससृष्टि का प्रतिबिम्ब है और उसी ससृष्टि के प्रति लज्जित होने के कारण मैं यह कह रहा हूँ। हमारी गतिविधि अंग्रेजी के अनुसार चलती रही जिसमें परफ्यर प्रोड्रगन आदि है ता हमारा विकास नहीं होगा। हमारा विस्तार नष्ट होगा। यदि हमारे ज्ञान में आत्मपक्षि नहीं

सेल्फ रियेलाइजेशन नहीं अपनी भाषा का बीजन (Vision) नहीं दशन सम्यक् नहीं, आत्मपरक नहीं तो भाज का यह अर्थ दशन-समाज-दशन राजनीति-दशन सब मिथ्या है। सच्चा ज्ञान सम्यक् दशन पर आधारित होता है अथवा वह अज्ञान है। क्योंकि उसका सदन में सम्मक नहीं है भाज तो को एफिफिएंट (Co Efficient) पर सब कुछ निभर करता है पर देखना यह है कि कोई राशि किस खाते में लिखी गई है जमा खाते में या ऋण खाते में। धन देन का प्रश्न लीजिये। देन दो प्रकार की होती है। एक तो ऐसी देन जिसके विषय में हम कहते हैं कि इस पर मिट्टी डालो। दूसरी वह जिस पर हम अनुसंधान काय करते हैं। एक आदमी मोहल में रहता था मर गया। बहुत कुछ कर गया। किंतु उसके कृतित्व के विषय में कुछ कहते हैं कि साहब उस पर मिट्टी डालो उस भूलने में ही खरियत है। इतिहास भी उसे भुला देता है। इतिहास में अन्व सच्चाट भाये और चल गये। हम उनकी राजनीतिक देन सोचते हैं। मुसलमानों के यहाँ तो पुन बाप को अपने रास्त में बाप करता प्राया है। लोग उन्हें भूल जाते हैं।

पिछले कई हजार वर्षों में क्या-क्या कुछ नहीं हुआ होगा पर उस समय एक महावीर हुए। भाज हम अनुसंधान करते हैं कि उहान हमारे लिय क्या क्या छोड़ा। लोग कहते हैं उहान यह छोड़ा वह छोड़ा। यह त्यागा वह त्यागा। उनके त्याग की महिमा गाई जाती है। पर जब छोड़ने की बात कही जाती है तो मुझ तकनीक होती है। मैं पूछता हूँ कि अधिका महत्व किसका है जो छोड़ा उसका या जो पाया उसका? जन वास्तव में त्याग की जितनी महिमा गाई गई है जन लोग उतने ही अधिका सप्रह धर्मो है। ऐसा क्या होना है? कारण स्पष्ट है कि हमारा ध्यान जो छोड़ा उसकी ओर अधिका रहता है, प्राप्य की ओर कम। यदि आप महल छोड़कर कुटी में चले जाते हैं तो कुटी बड़ी है महल नहीं। क्योंकि कुटी महान उद्देश्य की प्राप्ति में सहायक है। अतः पाया क्या है छोड़ा क्या नहीं।

महावीर ने कोई साहित्य रचना नहीं की। महावीर के साथ ही क्या धर्म धर्मो उ गद्य ध्वनि विचारार्थ हाना थी जिस गद्यधरा न बाणी दी। प्राचार्यों ने अपने प्राचार पर रचना की और हम भाज अपने अनुसंधान की बात कर रहे हैं। यह दूसरे प्रकार की दन है। इसी से साहित्य साहित्य बनता है। महावीर तो ज्ञान के मूल थे। यदि उग मूल की एक चिरण के एक कण भी हम पा जाते हैं तो हम प्रमत्त हो जाते हैं। हमारा ध्वनिकत्व इतना विनाश हो जाता है कि हम स्व को भूलकर दूसरे के विषय में सोचने लगते हैं कि

किसी प्रकार सबको मोक्ष मिल जाये। यहां पहुँचकर मैं भी भाषा समाप्त हो जाती है और व्यक्ति तीथकर बन जाता है। इसके अनावा अरहतकत्व और क्या है? कोई किसी के दुःख में दुःखी हुआ कि वह आनन्दमय हो गया। दद हृद से गुजरा तो दवा हो गया। वही प्रेम का कारण प्रकट हुआ उसकी अभिव्यक्ति हुई तो साहित्य बन गया। अपने को विसर्जित करके ही साहित्य की रचना की जा सकती है और उसी के कारण लोग साहित्यकार को याद करते हैं।

अन्त में मैं एक बात जैना को कहता हूँ कि वे जनेतर लोगों के गुण देखें। यही वास्तविक अहिंसा है। अपनी पूजा करने का भाव हिंसा है। दूसरों से टकराना हिंसा है। यदि आपम यह भावना रही कि यह धम हमारा है तो फिर आप लोग कहेंगे कि ठीक है आप इस मानें उनका इस से क्या सम्बन्ध है। इस प्रकार उन्हें कोई नहीं पूछेगा। स्व का भाव भुलाना तो जनों की देन की मव भोग अपनाएंगे। आप का जन्म निकले तो लोग अनुभव करें कि यह उनका भी है बस आपका ही नहीं है। आप धम को विन्य धम बनाने की जिम्मेदारी हमारी है। हमारे धम की ऊँचाई हमसे ऊँची नहीं जा सकती। धर्मिक के बिना कोई धम ऊँचा नहीं बन सकता। अहिंसा को छोड़ कर आज दुमरा रास्ता भी क्या है? है तो वह विनाश का है। लोग धम बना तो रहे हैं। पर लोगों की समझ में यह रास्ता नहीं था रहा। वह तो मरने का रास्ता है और अहिंसा तो जीने का रास्ता है यह बतान की जरूरत नहीं। आज तो अंधा और बुद्धि में सघष है। कुछ लोग धम को अपनी बतते हैं पर मैं तो कहता हूँ कि साम्यवादी भी एक धम है वह नये किस्म की अफीम है। उसमें भी दूसरे से टकरान की बात है, अपने को अछ बनाने का भाव है। यह तो अहिंसा का माग नहीं है भारतीय नहीं है। आज के दिन हम देखें कि हम क्या करें कि लोग हमारी दन को याद करें।

राष्ट्र भाषा का प्रश्न और भावनात्मक एकता

मैं इनती दूर देहली से दक्षिण के अभिनन्दन के लिए गया था। देहली को देश की भाषा देहलीज ही मानिये सब मानिये कि वह अन्तर्गत नहीं है। द्वार के पास पास बहता है। लिखा जा रहा सब वहीं रखा जाता है। लेकिन वह तो घर का सामना भर है। घर का घम और रहस्य छत्ता। सुन्दर भाषा-स्वभाव भाषा-प्रतीक्षा घर के भीतर गहरे में रहती है द्वार पर उभरी नहीं होती। जब यहाँ का निम्नलिखित मिला। तो यही अनुभव निम्न था कि द्वार से हट कर मैं सब देश के अन्तर्गत में जान का अन्तर्गत पा रहा हूँ। इस श्रुति-श्रुति को इनलिये में छोड़ नहीं सका। सब मानिए छत्ता यदि देश की भाषाओं के लिए मदान बनकर रहा है तो दक्षिण मन्दिरों, सैत यां का प्रदेश है। जहाँ भारतीयता अभी इनती छिन्न भिन्न नहीं हुई है और जहाँ जीवन की सहज वृत्ति पर मान-अन्तर्गत उतना सवार नहीं हो पाया है।

मैं उत्तर के शहर से आया हूँ, जहाँ भाषा हिन्दी है। वह यहाँ की सृष्टि भाषा है और सीधे बिना भी आ जाती है। यहाँ इस अन्तर्गत के साथ आपने इस सत्ता की रजत जयन्ती का उत्सव मनाया है जिसने अपने पश्चिम रूप के जीवन में सतत हिन्दी भाषा सीखने-सिखाने का प्रचार किया है। मुझ जैसे व्यक्ति पर देश की ओर से उम्मीद यह इतना बड़ा कारण है कि उससे सत्ता उच्छ्रय हो गूँगा यह मैं जानता नहीं हूँ। शायद उच्छ्रयता सम्भव नहीं है। सम्भव हो तो इसी प्रकार सम्भव हो सकती है कि भाषा की तमिल भाषा को ही नहीं बल्कि अन्यत्र दक्षिण की भाषाओं को भी मैं इतना ही आत्मीय बना पाऊँ, जैसे आपने हिन्दी को बना लिया है। यहाँ आकर अपनी यह भाषा पहले ही आपके समक्ष प्रकट कर देना मेरा कर्तव्य है कि मैं कोई भी आपकी दक्षिण की भाषा नहीं जानता हूँ। फिर बिना अधिभार से मैं यहाँ बोलने आ गया हूँ ?

अधिकार केवल आपकी कृपा का है। यह अधिकार ऐसा है जिसको लेकर मैं गव नहीं मान सकता, नम्र ही बन सकता हूँ।

हम यहाँ देश की सभी भाषाओं के लोग इकट्ठे हो गए हैं। हिन्दी को लेकर ऐसा भयसर नहीं हुआ करता है। हिन्दी में इतनी सुविधा नहीं मानी जाती। समूचे देश की समझाएँ होती हैं तो अंग्रेजी भाषा से काम लिया जाता और उसी माध्यम को अधिक सुभीते का समझा जाता है। अंग्रेजी अंग्रेजों की भाषा है और अभी कुछ बरस पहले तक अंग्रेजों का यहाँ राज था। यह राज्य सारे देश पर छा गया था और इसलिये अंग्रेजी से यह लाभ हो जाता था कि लोग भाषा प्रदेश की सीमाओं के पार अपने प्रभाव का फैला सकते थे। उस समय ऐसा बताया और समझा जाने लगा था कि राष्ट्रभाव इस भारत देश में अंग्रेजों से और अंग्रेजी से आया है। अन्यथा भारत बिसरता और बटा हुआ था और उसमें एक राष्ट्रता का भाव न था। अंग्रेजी भाषा जो अंग्रेजी राज्य के सहारे ही देश में अपने को एक अनुभव करने की यह मजबूरी देवी तो गांधी जी को इसमें खटका मानूँ हुआ। उन्हें प्रतीत हुआ कि यह एकता नहीं होगी। यह तो विदेशी और फर्जी एकता रह जायगी। उन्हें यह आवश्यक मालूम हुआ कि भारत अपना विकास भारत रहकर करे। उनकी उन्नति आत्मवान् उन्नति हो और अपने अंतरण को भीमत में लेकर विधान या राज्य की एकता उसे खरीदनी न पड़े। इसीलिये शुरू में उन्होंने यहाँ सुदूर दक्षिण में हिन्दी प्रचार की नींव डाली और अपने पुत्रदेवनाम को इस काम के लिए अर्पण किया। हिन्दी उनकी मातृ भाषा नहीं। भाषा गुजराती थी और अंग्रेजी में लिखना पड़ा। उसे छोड़कर अपने अंतर मम की सब बात उन्होंने गुजराती में ही प्रगट की। लेकिन भारत प्रेम के नाते हिन्दी से उनका अन्तः प्रेम और उस पर अन्तः आग्रह रहा। कारण भारत के सम्बन्ध में उनकी आकांक्षा इतनी ही नहीं थी कि वह राजनीतिक रूप से स्वाधीन देश होगा। बल्कि उसमें यह भी शामिल था कि स्वाधीनता का यह ऐसा उपयोग करेगा कि भारत की संस्कृति और उसकी विशयता हुनिमा के लिए प्रकाश बनेगी और संस्कृति से एक नाल का मार्ग एक दिन विश्व के लिए खोल सकेगा।

कहने की आवश्यकता नहीं कि आज के इतिहास में अंगर संस्कृति की कोई परम्परा अर्थात् प्राचीन से सम्प्रति यत्मान तक अविच्छिन्न बनी जा सकती है तो वह भारतीय संस्कृति ही है। यह आरोप कि भारत अंग्रेज से पहले राष्ट्र के रूप में एक न था। अंगर सच भी हो तो स्वयं यह आवश्यक बनता है कि प्रचलित राष्ट्र भाव की हम जांच परताल करें। कारण यदि राजनीतिक राष्ट्र के

रूप में भारत अपने इतिहास में मरनी एक नहीं रहा तो भी केवल इस भारत के सम्बन्ध में ही सत्य है कि सहस्राब्दियों से यह एक अजस्र और अखण्ड रूप में टिका भा रहा है। यह एकता व्यवस्था या शासन की नहीं या भाव की, भावना की और अन्तरंगता की थी कि काल उसका कुछ बिगाड़ नहीं सवा। इस सत्यता के प्रकाश में शायद हम स्वयं राष्ट्र और राष्ट्रवाद के सम्बन्ध में फिर से सोचने की आवश्यकता हो सकती है। यह विचार और पुनर्विचार इसलिए भी जरूरी है कि विश्व में आज का संकट इही राष्ट्रवाणी धारणाओं पर दुग वाधकर लड़ा हुआ है।

हिन्दी भाषा भाषी के नाते जब वे विनय और मूक ही हो सकता है तब भारतीय निष्ठा की ओर से मैं आपकी बधाई देता हूँ कि हिन्दी भाषा की भूमिका पर आपने सारे देश को आमन्त्रित और एकत्रित किया है। देश की यह एकता जो व्यवस्थात्मक से भागे भावात्मक होगी। स्वदेशी भाषा अथवा भाषाओं से बिछड़ी हुई न हो सकेगी।

राष्ट्र में जितनी भाषाएँ हैं सभी राष्ट्र भाषाएँ हैं। किन्तु यदि उनमें से एक भी ऐसी नहीं है जिसमें राष्ट्र एक हो और केवल एक विदेशी शक्ति परदेसी भाषा ही उस एकता की धारण करने के लिए बच जाती है तो यह उस एकता में अविष्य के लिए शुभ संकेत नहीं है। आपका यह प्रयत्न इसलिए और भी साधुवाद के योग्य है कि अंग्रेजी की यह निभरता आज काफी स्वयं मिट्टी और फलनबल बनी हुई है।

भाषाओं के सम्बन्ध में विचार करते हुए अजब मतलूम होता है जब भाषावाद का भी एक संकट बनाया जाता है। भाषा एक शक्ति है दूसरा समझता है एक शिखर द्वारा बाध लेता है। अर्थात् उनकी सृष्टि स्वयं से नहीं 'परस्पर' से होती है। परस्परता का विस्तार और विकास अनिवार्य है। बाल और इतिहास का इससे निवा और दूसरा अर्थ हो क्या है कि वे परस्परता का उत्तरोत्तर उत्कर्ष साधें। यह प्रक्रिया जब चलती है तब अक्षरों और सब कुछ जान पड़ता है। अर्थ कुछ तो पाया स्वयं मन भी सबका है और उनको सुरंगित और बन्द रखने की भी सोच सबने है। पर भाषा वह तत्व है जिस किमी सीमा में पाया नहीं किया जा सकता। जगत् देन मन बाहर की ओर और अन्वेषण के साथ होता ही रहता है। इस प्रक्रिया में भाषाओं में समय के साथ इतना पर-अन्त हो जाता है कि पहचानना मुश्किल है। अन्त तो प्रत्येक भाषा नहीं है। अपनी सजा से ही वह निमनों द्वारा सवारी ओर छोपी गई भाषा है। पर जय तर में इतना अन्तर था गया है कि कभी भाषा में गति रखने वाले

इने पिने ही संस्कृत विद्वान् भाज मिलेंगे। इस प्रदेश की तमिल प्राचीनतम भाषाभाषा म से है। उसकी परम्परा सजीव है और साहित्य अत्यन्त समृद्ध है। लेकिन आधुनिक तमिल प्राचीन से निश्चय ही निम्न है।

स्वत्व का सवत्व की ओर उन्मुख ही रहना है। इसी म से वह स्वत्व परस्परता के विस्तार के द्वारा विराट और विराट से विराटतर होता जाता है। भाषाओं के विकास की कहानी मे यह सत्य और भी प्रकाशित दीखेगा। भारतीय भाषाओं के बीच हिन्दी की विलक्षण स्थिति है। वह उस रूप म बोली चाली नहीं जाती या बहुत सीमित प्रदेश म बोली जाती होगी। लगभग सब वही कुछ-न-कुछ उसका जनपदीय रूपान्तरों मे मिलजुल कर उसे रूप दिया है। वह एक मिश्रित नागरिक भाषा है जिसको लोग हाट-बाट म व्यवहार म लाते हैं और घर-द्वार म पहुँचकर फिर अपनी मूल बोलियों से काम चलाने लग जाते हैं। हिन्दी का इतिहास उस अर्थ म सबसे कम प्राचीन और बदसती हुई परिस्थिति और राजनीति के सबसे अधिक अधीन रहा है। उसके स्वरूप निर्धारण मे बाह्य कारणों का बड़ा प्रभाव है। उसने मानो फलती हुई परस्परता म से उदय पाया है। अभी हाल तक कहीं बोली हिन्दी को उद्ग से अलग पहचानना मुश्किल था। उद्ग तो कहते ही सरकर और छावनी को हैं। अर्थात् सधय क द्वारा रूप और विकास पाते हुए जीवन की आवश्यकता मे से उनका जन्म और पोषण हुआ है। इस तरह उसका रूप कम-से-कम सुनिश्चित है और अधिक-से-अधिक उसमें अथकाश है। राजनीतिक बल धायद उसमें विशेष है और सांस्कृतिक गाम्भीर्य अपेक्षाकृत कम हो सकता है। व्यापकता का गहराई के साथ अनिवाय सम्बन्ध भी नहीं है। हिन्दी का उदय और उत्थान उसका विस्तार और रूप निर्माण माना विकासशील राष्ट्र जीवन के तक स ही हुआ और होता रहा है। फिर भी वह हिन्दी किसी बाहरी प्रसाधन म से ही नहीं उपजी और यह भारत देश मानों अम प्राणता द्वारा सदा से एक बना चला आ रहा है और नाना मत सम्प्रदाय उसमें समावेश पाते गये हैं। पुष्प भावना में साधु-सन्त और यानी-गिरस्ती तीर्थ धामों की प्रदक्षिणा करते हुए एक से दूसरे प्रदेशों म घूमते रहे हैं। भारतीय धानस और मानस की यह यात्रा इतिहास म कभी नहीं रुक पाई है। इसको अवश्य सदा ही किसी-न-किसी भाषा का सहारा रहा है। वह भाषा व्यवहारों यमोगी रूप म हमेशा बनी रही है और कभी नष्ट नहीं हुई। अथवा के जाने पर अथवा ऐसा मामूळ हुआ कि उसे धरती म मुह गाड़ना और फँसान के चलन से बाहर हो जाना पड़ा है जिसे आज हम हिन्दी कहते हैं। मूल भाषा म वह सीधी उस प्रकृत या प्राकृत या अपभ्रंश की धारा से जुड़ी हुई है। इस भाँति जन भाषा

हिन्दी के मूल को इतिहास में गहरा गया छूमा भी देखा जा सकता है। किन्तु यह जन भाषा हिन्दी कोई ऐसी निर्दिष्ट और नियंत्रित भाषा नहीं है कि प्रमुक्त भाषा या प्रान्त उसके सम्बन्ध में स्वत्व गव रख सके। वह खुली भाषा है बतती और बहती हुई भाषा है। उसमें अपनी अस्मिता नहीं हो सकती। सभी भाषाओं का अनुदान उसमें पढ सकता और उसके रूप निर्माण में अपना भरपूर प्रभाव दे सकता है।

मुझे विश्वास है कि सब भारतीय भाषाओं का भविष्य एक और एक साथ है। एक की उन्नति में सबका उत्थान है। ऐसा हो नहीं सकता कि एक का उधाड़ दूसरे को प्राप्त न हो। यह अनिवायता वस्तुस्थिति में ही अभिन्न है और असम्भव है कि सब भाषाओं की परस्परता अधिकाधिक घनिष्ठ न होती जाये। भाषा सब पढती है जब हम एक दूसरे के निकट आते हैं और अपनी अपनी निजता और निजभाषा को छोड़कर आते हैं। यह सम्पर्क जो अंग्रेजी के द्वारा सिद्ध हो जाता है मानो काम-काज तक ही रहना है और भागे दोनों को अलग-अलग विचारों पर छोड़ जाता है। वह परस्पर के आदान-प्रदान द्वारा होने वाली हार्दिकता से मूला रह जाता है और भावनात्मक एकता की स्थिति नहीं पदा होने देता। भाषा के रूप में अंग्रेजी को तमिल या हिन्दी क्या दे सकती है? अंग्रेजी की प्रकृति ही न्यायी है। किन्तु भारतीय भाषाओं की बहुत दूर तक एक ही प्रकृति है। उन सबका अधिष्ठान भी एक ही सृष्टि में है। इस तरह यदि वे अंग्रेजी परस्पर सम्बन्ध में आये तो एक दूसरे में उतरे और रगे बिना नहीं रह सकतीं। आवश्यकता है कि हम इस तथ्य को जल्दी-से-जल्दी पहचान लें कि अथवा भारतीय भाषाएँ एक साथ हैं और एक भविष्य में बधी हैं। अपने आपसी सम्पर्क के लिए जब वे पराया सहारा लेती हैं तो मानो अपने बीच अन्तर और अहङ्गी को मजबूत बनाती और सारे देश को कमजोर करती हैं।

भाषाओं को लेकर यदि कहीं स्वत्व का गम और अन्कार देखा जाता हो तो यह राजकारण की देन है। अस्तित्व विग्रह का धन में स्वत्व की चिन्ता हटाए हो जाती है। स्पर्धा प्रतिस्पर्धा की भासना वहाँ काम करती है। किन्तु हम जानते हैं कि स्वत्व और परस्पर का बीच सम्पर्क है तो यह सामयिक है। वह है तो इतनीलिए है कि स्व और पर भाव में अन्तः परस्पर भाव पना हो। तात्कालिक आशंका के नीचे तो स्वत्व और परस्पर के बीच अन्तर और दुर्भाव धन ही आते हैं। लेकिन इतिहास सांगी है कि भाषा तन्त्रातन का गाय ही जीत और उमी के साथ मर भी जाते हैं। उनकी निम्न और परिणति कम समय है कि अन्तर्गत के आते ही होते-होते उनमें परस्परता और आत्मोपना का निर्माण होता जाये।

इस समाज में हम लोग अधिकतर साहित्यिक हैं। साहित्य की निष्ठा पारस्परिक और साहचर्य में है। तत्काल तो अपना घड़ी भर का खेल दिखाकर व्यतीत बन जाता है। उस समय व्यक्ति के पास यदि निष्ठा न हो तो वर ही प्रधान धर्म कम बनता है और भविष्य के लिए अपनी बेज छोट जाता है। आवश्यकता है कि निष्ठावान साहित्यिक राजनीति के मतावेशों के अधीन तत्काल पर ही समाप्त न हो बल्कि वर्तमान को भावी की दिशा में निर्माण देने की और मूल्यों की भाषा में सोचें। भविष्य की श्रद्धा लेकर वर्तमान के प्रति व्यवहार करने से ही हम विकास के प्रगभूत हो सकेंगे अन्यथा विघ्न और बाधा समझे जाएंगे। वह राजकारण जो तत्काल को ही प्रधानता देकर चलता है शायद एक के निराकरण में दूसरी समस्या उपजाता जाता है। सम्भव है कि राजकारण की वही मर्यादा हो और उसकी औपधि साहित्य के पास ही बन जाती हो। जो ही दूर-दशन की सुविधा साहित्य को है और यह बड़ी जिम्मेदारी है।

किंतु साहित्य इस भाषा में है या उस भाषा में है। मेरी भाषा में या आपकी भाषा में है। इस तरह भारत के पास एक साहित्य नहीं रहता है अनक साहित्य हो घाते हैं। उतन ही साहित्य कि जितनी भाषाएँ। राज्य भवश्य एक है सदन एक है कानून एक है सविधान एक है, केन्द्रीय सेवाएँ एक हैं। साहित्य यहाँ कम-स-कम चौदह तो है ही यदि साहित्य चौदह हैं तो भारतीय मनोभाव चौदह विभागों में खण्डित बनें तो क्या आश्चर्य है? कानून और प्रशासन के पोर से देश को अगर एक बना दिखाया या रखा जाता है तो निश्चय जानिय कि वह एकता भ्रामक है। उसमें फूट और फटाव के बीज हैं। दलौ और वर्गों के ही नहीं बल्कि भ्रमण भ्रमण व्यक्तित्वों और स्वत्वों के बीच में भी वहाँ खिपाव और तनाव हुआ करता है। अनक बहा इकट्ठे मालम होते हैं लेकिन एक एक अपने अपने नवशे रखता है। ऐस बहा हर एक अपने दाँव और दूसरे की पाठ में रहता और केवल अपने लिए अवसर देखता हुआ ऊपर से प्रमुख अनुपायन में चलता हुआ प्रतीत होता है।

साहित्य ठीक इसी जगह राजनीति से भिन्न है। वहाँ मूल इसी स्वत्व का समरण और हर परत्व का स्वीकार व सत्कार है। इसलिए यद्यपि भाषाएँ चौदह हैं लेकिन साहित्य एक है। सब पूछिये कि भारत का ही साहित्य एक नहीं है समूचे विश्व का साहित्य एक है। भाषाभाषा के भेद से साहित्य में भेद नहीं पड़ता। कारण साहित्य का सत्य मनुष्य है और साहित्य में भाव का ही प्रधानता है। इस दृष्टि से देखेंगे तो जान पड़गा कि राष्ट्र और राष्ट्रवादी के आधार पर बने हुए उपनिवेशों और मतावेशों से उद्धार बलि मानव जाति को

कभी मिलने वाला हो तो वह साहित्य के मूल्यों के स्वीकार पर ही मिलेगा।
 भाषा महानारा में रगड़ और टक्कर होगी उनमें परस्पर विखजन का भाव
 नहीं जायेगा।

भाषा की ओर में भारतीय साहित्य एक ही है। इस कारण और भी
 आवश्यक है कि यथाय और वास्तव में भी उसका एक ही प्रकट और पुष्ट किया
 जाय। राजकीय स्तर पर इस सम्बन्ध में काफी कुछ किया जा रहा है। विद्य
 मान दासवर्ग बल्पनाशील है और इस ओर बहुत कुछ भागे भी करना चाहता
 है। किन्तु दासन और दासक की मर्यादाएँ हैं। गविन के भ्रामन से भाकर
 उसका कसूरत्व मानव हृदय पर न्वाव डालने बिना नहीं रहता। इसनिष्
 एकता का काम स्वयं जन मत और जनगणित के सञ्चल से किया जाना चाहिए।
 उसका अभिन्नम ऊपर के यथाय मूल से घाना चाहिए और विभिन्न भाषाओं के
 साहित्यकारों को स्वयं अपने हित में इस दायित्व की ओर ध्यान देना है।

यह दुःख की बात है कि भाषाभाषा में साहित्य के बारे में परस्पर घोर अपरि
 थय है। मस्याभा द्वारा होने वाला काम इस विषय में हमेशा भ्रष्ट रहा है।
 व्यावसायिक प्रतिभा को समझ घाना चाहिए जो प्रणालियों का निर्माण करे
 और आदान प्रदान के प्रवाह का परम्पर मञ्ज कर दे। जनमान में सिनेमा
 और कला आदि के क्षेत्र सांस्कृतिक एकसूत्रता की दिशा में काम करने भी हैं
 तो यह अपर्याप्त रहता है। उनका स्तर गम्भीरता तक नहीं उठ पाता। राष्ट्र
 का माध्यम वह है जो भाव के माध्य विचार का भी बहुत करता है। गम्भीर
 भावना के स्तर पर यदि भारत की एक घोर समथ बन कर विश्व के समस्त
 घाना हो तो यह साहित्यिक और नतिज समता के साधन और गठन से ही हो
 सकता है।

उस समता का गठन कम हो ? स्पष्ट है कि यह भाव में हम बटे हुए
 हैं। यदि एक होत है तो तो किसी परम भाव में ही हो सकता है। इसीलिए
 राजनीति में से एकता पाना आवश्यक बात है। घनरता की कान्ने में तो
 एकता घाती नहीं है और राजनीति का प्रयत्न पुरा र्था सिद्धा का टुप्पा करना
 है। वहाँ घणित की भूमिका है और बहुमत के प्रतिष्ठा के आधार पर यदि
 होती तो एकता होती है। उगम घणमत का करना पाना। इसीलिए यह
 एकता विकासगर्त नहीं टुप्पा करता। गणतन्त्रात्मक है। गणनी है। मार्गिक
 समता का गठन के लिए आवश्यक है कि प्रत्येक सिद्धि का प्रतिष्ठा हो
 और मार्गिक मत पर समथ केवल एक परम्पर घाना घाना गणतन्त्रात्मक ही
 पाये हो घणुन मन्त्रणा का नहीं। हम ऊपर घानता के लिए एक ही

संगठन बन जाता है और राजनीतिक समस्या पदा करने लगता है।

हमारी भाषाएँ आपस में जितनी दूर हैं, असल में वे उतनी दूर हैं नहीं। सब जगह सस्कृत के तत्सम् और तद्भव शब्द बहुतायत में मिलेंगे। क्रियापद आदि में कुछ भेद हो सकता है। लेकिन अधिक भेद और अतराय लिपि भेद के कारण होता है। सस्कृत के कारण देवनागरी लिपि सब के लिए पहले से ही परिचित है। वणमाला की भावृति भिन्न हो सकती है, भाषार सब जगह समगम अभिन्न है। सब भाषाएँ अपनी विशिष्ट लिपि के साथ यदि नागरी लिपि को भी अपनाने लग जाएँ तो आपस की खाई काफी कम हो सकती है। देवनागरी लिपि यदि भारतीय बनती है तो आज के वेग के साथ ठहरने के लिए उसमें आवश्यक सुधार भी जल्दी किये जा सकते हैं। यदि वह लिपि हिन्दी की ही हो तो अमुक स्वत्व भाव आवश्यक राष्ट्र भाव की राह में बाधक बन कर आठ आ सकता है।

विभिन्न भाषाभाषा में आपसी परिचय ही काफी नहीं है, बल्कि उत्कृष्ट की दिशा में सह भाव भी आवश्यक है। इसके लिए एक मासिक पत्रिका की व्यवस्था होनी चाहिए जो भारत के उत्कृष्ट की प्रतिनिधि हो। माना वाली द्वारा भारत उस विधि इतर देशों के प्रति आत्मदान सम्पन्न करता हो।

एक केन्द्रीय पुरस्कार भी इसमें सहायक होगा। उसकी प्रतिष्ठा नोबेल पुरस्कार के समान होनी चाहिए और पूरी निष्पक्षता की सुरक्षा होनी चाहिए। उसमें भाषा का प्रश्न न हो और प्रतिवष एक भारतीय कृति समझाती रहे जिसके उपलक्ष्य से सब साहित्य स्फूर्ति और दिशा प्राप्त करे। उत्कृष्ट कृतियों के चुनाव और उनके अनुवाद की व्यवस्था आवश्यक है। जिसमें सरकार का हाथ न हो। अनुवादों के प्रकाशन और वितरण आदि की सरकारी सहायता की जा सकती है।

अधिकाधिक ऐसे समागम होने चाहिए जहाँ विविध भाषाओं के साहित्य बाजार निकट परिचय में आए।

सबसे मुख्य बात यह है कि साहित्य बाजार की विडम्बनाओं से मुक्त हो। साहित्य भी यदि एक पैना बन जाता है तो उसकी गति नीचे की बिसकती है, ऊपर नहीं उठ पाती। यह एक बहुत बड़ा प्रश्न है और उसका सम्बन्ध मानों समाज-व्यवस्था से ही हो जाता है। प्रायिक सम्पत्ता साहित्य को अनुरजन तक नीचे खींच सायेगी दायित्वपूर्ति तक न उठने देगी। यदि अपने लिखे को खुले बाजार में बेच कर जीविका चलाने का मांग साहित्यकार के पास रह जाता है तो कोई कारण नहीं है कि मांग और उत्पादन का सिद्धांत घन निकले और

वे सब दोष इस क्षेत्र में भी आ जाए जो निरे व्यापार व्यवसाय के माने जाते हैं। इस प्रश्न पर मैं इस समय यहाँ अधिक नहीं कहूँगा। लेकिन साहित्य के उत्कर्ष और उसके प्रभाव और दायित्व के प्रति जिनका ध्यान है उन्हें इस सम्बन्ध में विचारने की आवश्यकता है। कागज इतना बन और छप रहा है कि उसी के कारण शब्द की शक्ति क्षीण हुई जा रही है। उसी क्षीणता का भ्रत करना और क्षमता की प्रतिष्ठा करना है। आवश्यक है कि साहित्यकार समाज निर्माण के प्रश्नों के बारे में असावधान न रहे और उस क्रान्ति के अध्वरु बने जो इस अणुयुग में मूल्य प्राप्ति से कम नहीं हो सकती है।

अन्त में मैं आपका इतना समय लेने के लिए क्षमा चाहता हूँ और इस भाग के साथ वक्तव्य समाप्त करता हूँ कि भारतीय भाषा साहित्य पर निम्न रता छोड़ेगा और भारतीय भाव में आत्म प्रतिष्ठ होगा।

सितम्बर '६१

□ ■ □

राष्ट्रभाषा कैसे बने !

पिछले महीने का पत्र मैंने आपको टीकमगढ़ से लिखा था। वहाँ हिन्दी के काम करने वाले कई जमा हो गये थे। बनारसीदामजी तो थे ही। हम लोग मिल कर एक एक दिन एक-एक विषय को ले लेते और चर्चा द्वारा एक-दूसरे को समझने की कोशिश करते। इस स्वाध्याय मण्डल में एक रोज़ राष्ट्रभाषा के बारे में भी विचार हुआ और हम लोग इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि—

१—भाषा लोक व्यवहार के सुभीते के लिए है। उससे अलग उसकी अपनी कोई सत्ता नहीं। इसलिए लेखक की हसियान से भाषा के बारे में इतना ही विचार काफी है कि वह सहज और हादिक हो।

भाषा का प्रश्न असल में जीवन के प्रश्न में घुला मिला है। इसलिए सबसे अधिक आवश्यक यह है कि व्यक्ति की सहजानुभूति सब ओर खुली हो और उसका जीवन उत्तरोत्तर व्यापक हो। वह भास-भास के जीवन में विलय न हो बल्कि उसमें मिला हुआ हो। तब भाषा अपने आप जैसी चाहिए बसी होती चलेगी।

२—हिन्दुस्तान की राष्ट्रभाषा वह है जो उसके अधिक-से अधिक भाग में समझी और बोनी जाती है। उसे एक किनारे से हिन्दी तो दूसरे किनारे से उर्दू भी कहा जा सकता है। आसानी के लिए उसे हिन्दुस्तानी कह सकते हैं।

३—राष्ट्रभाषा की लिपि। अभी तो नागरी और फारसी दोनों मानी जा सकती हैं। जब एक लिपि का सवाल आवे तो देश के सब लोग मिलकर उनका विचार और निणय करे।

४—प्रत्येक हिन्दी के लेखक को उर्दू और हर उर्दू वाले का हिन्दी जानना जरूरी है।

५—यादगिरि करनी चाहिए कि हिन्दी वाले अपनी सभा और समाज में उर्दू के काम करने वालों का और उर्दू वाले अपनी सभा और जलतों में हिन्दी वाचकताओं को बुनावें। इसके लिए अगर एक ही प्लेटफार्म बनाने की योजना हो तो अच्छा है। इस सम्मिलित योजना की शूमिका संस्कृतिय हो।

६—भाषा के बारे में किसी राष्ट्र के प्रति बहिष्कार का वृत्ति न हो। ध्यान यही रखा जाय कि वह राष्ट्र आम जनता में अपना नायक है।

७—राजनीति विज्ञान या और शास्त्रीय विषयों के लिए जहाँ नये शास्त्रों की जरूरत पड़े वहाँ भरसक देगज शर्तों से काम चलाया जाय।

८—भाषा के बारे में यह चेतना विकुल न रखी जाय कि उसमें सस्वर और फारसा से निकले शब्दों का अनुपात कितना है।

९—सबसे अधिक तो राष्ट्रभाषा के निर्माण में सब प्रांतीय भाषाओं और प्रादेशिक बोलियों को अपना अपना दान देना है। इसलिए उस प्रश्न पर अखिल भारतीय दृष्टिकोण से विचार करना चाहिए न कि हिन्दी उर्दू के मन के समान स।

इसमें कलम (३) में अभी तो जो जोपक में मैन किया है। आज हिन्दी उर्दू दो ही और दोनों में बदगुमानी हो लकिन क्या न हम मान लें कि एक दिन का सबका है जब सगभग सब कोई दानों लिपिया जानेंगे और इसलिए किसी भी एक की तरफदारी बिय बिना उन पर विचार कर सकेंगे। तब समय हागा कि राष्ट्र शक्ति के नितब्यय की दृष्टि से हम एक राष्ट्र निधि का निर्णय कर सकें। अभी तो बटकर हम भविष्य के सम्बन्ध में इसी राष्ट्रीय आत्मविश्वास का परिचय देते हैं। उससे नीच छल नहीं सद्भावना है। फिर भी चूकि हवा में धर भरा है इससे कोष्ठक के शब्द गिराय जा सकत हैं।

पहली धारा में यह बात है जिससे इस प्रश्न को लना चाहिए अर्थात् भाषा के प्रश्न पर हिन्दुस्तानी नागरिक को न कि इस या उन प्रान्तवासियों या भाषा की प्रश्न से विचार करना चाहिए। भाषा के सवाल में पहल जिन्दगी का मवाल है। यह जरूरी है कि आमपाम के लोगों में हमारा हेतुमल बढे। तेम हिन्दी में सरहल की तरफ और उर्दू में फारसी की तरफ बढन की भावना कम हो जायगी। बकि तब से एक-दूसरे की तरफ गिचगी। राष्ट्रीयता धगर माग्त्र दायिकतापाम में बटकर कमजोर पढ रही है तो बहुत कुछ दगमित कि हम पड़ोगी को पड़ोगी नहा बकि स्वधर्मी या विधर्मी रवानी या विरगी के रूप में दगन है। पड़ोगी धम पर जोर दन में मैं मानता हू कि भाषा की समस्य की बटिनाई कम होगी जायगी।

हम अपने-अपने दायरे में घूमन है। हिन्दीवाला हिन्दी में उर्दूवाला उर्दू में। तमागा यह कि पड़ोगे का गार्हियन मरे लिए एक-दूसरे धरगिचिन रता है और कागी प्रनाग बात मरे धरन बन जान है। यह मिय इनने धनर म कि पर धरनी कहाना दूगना मियि म निगता है। यह जामन आज हमका धरवा

राष्ट्रभाषा कैसे बने !

विछले मन्त्रीने का पत्र मैंने आपको टीकमगढ़ से लिखा था। वहाँ हिन्दी के काम करने वाले कई जमा हो गये थे। बनारसीनासजी तो थे ही। हम लोग मिलकर एक एक दिन एक एक विषय को ले लेते और चर्चा द्वारा एक-दूसरे को समझने की काशिश करते। इस स्वाध्याय मण्डल में एक रोज़ राष्ट्रभाषा के बारे में भी विचार हुआ और हम लोग इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि—

१—भाषा लोक-व्यवहार के सुभीते के लिए है। उससे अलग उसकी अपनी कोई सत्ता नहीं। इसलिए लेखक की हसियत से भाषा के बारे में इतना ही विचार काफी है कि वह सहज और हार्दिक हो।

भाषा का प्रश्न असल में जीवन के प्रश्न में घुना मिला है। इसलिए सबसे अधिक आवश्यक यह है कि व्यक्ति की सहानुभूति सब ओर खुली हो और उसका जीवन उत्तरोत्तर व्यापक हो। वह भास-पास के जीवन से बिलग न हो बल्कि उससे मिला हुआ हो। सब भाषा अपने आप जसी चाहिए बसी होती चलेगी।

२—हिन्दुस्तान की राष्ट्रभाषा वह है जो उसके अधिक-से-अधिक भाग में समझी और बोली जाती है। उसे एक किनारे से हिन्दी तो दूसरे किनारे से उर्दू भी कहा जा सकता है। प्रासानी के लिए उस हिन्दुस्तानी कह सकते हैं।

३—राष्ट्रभाषा की लिपि। अभी तो नागरी और फारसी दोनों मानी जा सकती हैं। जब एक लिपि का सवाल आवे तो देश के सब लोग मिलकर उसका विचार और निष्णय करे।

४—अल्पेक हिन्दी के लेखक को उर्दू और हर उर्दू बाने को हिन्दी जानना पटरी है।

५—वाग्विनी करनी चाहिए कि हिन्दी का अपनी सभा और समाजों में उर्दू के काम करने वालों का और उर्दू वाले अपनी समझा और जलसा में हिन्दी कायवर्तमानों को बुलावें। इसके लिए अगर एक ही प्लेटफार्म बनाने की योजना हो ता अच्छा है। इस सम्मिलित योजना की भूमिका सांस्कृतिक हो।

६—भाषा के बारे में किसी दायद व प्रति बहिष्कार का वृत्ति न हो। ध्यान यही रखा जाय कि वह घाद भाग जनता में सपन लायक न हो।

७—राजनीति विज्ञान या और शास्त्रीय विषया के लिए जहाँ नये शब्दों की जरूरत पड़े वहाँ भरसक देना से काम चलाया जाय।

८—भाषा के बारे में यह चेतना बिल्कुल न रखी जाय कि उसमें सस्त्रुत और फारसा से निकल आने का अनुपात कितना है।

९—असल में तो राष्ट्रभाषा के निर्माण में सब प्राचीय भाषाओं और प्रादेशिक बालिया को अपना अपना दान देना है। इसलिए उस प्रश्न पर अखिल भारतीय दृष्टिकोण से विचार करना चाहिए न कि हिन्दी-उर्दू के मेल के क्षयाल से।

इसमें कलम (३) में अभी तो को कोषक में देने दिया है। आज हिन्दी उर्दू दो हों और दोनों में सम्युक्तानी हो लकिन क्या न हम मान लें कि एक दिन का सक्ता है जब लगभग सब कोई दोनों लिपिया जानेंगे और इसलिए किसी भी एक की तरफदारी नियो विना उन पर विचार कर सकेंगे। तब समय होगा कि राष्ट्र गति के मितव्यय की दृष्टि से हम एक राष्ट्र लिपि का निर्णय कर सकें। अभी तो कहकर हम भविष्य के सम्बन्ध में इसी राष्ट्रीय आत्मविश्वास का परिचय देते हैं। उसके नीचे चल नहीं सद्भावना है। फिर भी चूकि हवा में एक भरा है सबसे कोष्टक के दान गिराये जा सकने हैं।

पहली धारा में यह रख है जिससे इस प्रश्न को नना चाहिए अर्थात् भाषा के प्रश्न पर हिन्दुस्तानी नागरिक की न कि इस या उस प्रान्तवासी या भाषा के प्रश्न से हैसियत से विचार करना चाहिए। भाषा के सवाल से पहले जिन्दगी का सवाल है। यह जरूरी है कि आमपाम के लोग से हमारा हेलमेल बढ़े। उस हिन्दी में सस्त्रुत की तरफ और उर्दू में फारसी की तरफ बढ़ने की भावना कम हो जायगी। बल्कि तब वे एक-दूसरे की तरफ लिनचगी। राष्ट्रीयता अगर मास्र दायित्वताओं में बटकर कमजोर पठ रही है तो बहुत कुछ इसलिए कि हम पड़ानी की पढोगी नरा बल्कि स्वयं की या विषयों स्वयं की या विषयों के रूप में देयन हैं। पढोगी पम पर जोर देन में मैं मानता हू कि भाषा की समस्या की बट्टिआई कम हानी जायगी।

हम अपने अपने दायरे में प्रमन हैं। जिन्हीवाला हिन्दी में उर्दूवाला उर्दू में। तमना यह कि पढोगी का गति पम मर लिए तबतम अंगगिचिन रचना है और कागी प्रयाग बान मरे अपने बन जान हैं। यह मिय मनने अन्तर में कि बर अपने कहानी ठूगरा लिपि में लिगता है। यह हानन आज हमका भरवा

राष्ट्रभाषा कै से बने !

विछले महीने का पत्र मैंने आपको टोकमगड से लिखा था । वहाँ हिन्दी के काम करने वाले बर्फ जमा हो गये थे । बनारसीदासजी तो थे ही । हम लोग मिल कर एक-एक दिन एक-एक विषय को ले लते और चर्चा द्वारा एक-दूसरे की समझत की कोशिश करते । इस स्वाध्याय मण्डल में एक रोज राष्ट्रभाषा के बारे में भी विचार हुआ और हम लोग इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि—

१—भाषा लोक-व्यवहार के सुभीत के लिए है । उसमें भ्रमण उसकी अपनी कोई सत्ता नहीं । इसलिए लेखक की हसियत से भाषा के बारे में इतना ही विचार काफी है कि वह सहज और हार्दिक हो ।

भाषा का प्रश्न प्रकृत में जीवन के प्रश्न में घुला मिला है । इसलिए सबसे अधिक आवश्यक यह है कि व्यक्ति की सहानुभूति सब ओर खुली हो और उसका जीवन उत्तरोत्तर व्यापक हो । वह घाम-घाम के जीवन में विलग न हो बल्कि उससे मिला हुआ हो । सब भाषा प्रश्न भाषा जसी चाहिए बसी होती चलेगी ।

२—हिन्दुस्तान की राष्ट्रभाषा वह है जो उसके अधिक-से अधिक भाग में समझी और बोली जाती है । उसे एक किनारे से छिनी तो दूसरे किनारे से उर्दू भी कहा जा सकता है । घामाती के लिए उसे हिन्दुस्तानी कह सकते हैं ।

३—राष्ट्रभाषा की लिपि । सभी तो नागरा और फारसी दोनों मानी जा सकती है । जब एक लिपि का सबाल भावे तो देग के सब लोग मिलकर उसका विचार और निर्णय करें ।

४—प्रत्येक हिन्दी के लेखक को उर्दू और हर उर्दू वाले को हिन्दी जानना जरूरी है ।

५—कोशिश करनी चाहिए कि हिन्दी वाले अपनी सभा और समाज में उर्दू के काम करने वाला को और उर्दू वाले अपनी सभा और जलसों में हिन्दी कार्यकर्ता को बुलावें । इनके लिए अगर एक ही स्पष्टताम बनाने की योजना हो या धरुटा है । इस सम्मिलित योजना की भूमिका धारुष्टिक हो ।

- ६—भाषा के बारे में किसी शब्द के प्रति बहिष्कार का वृत्ति न हो । ध्यान यही रखा जाय कि वह शब्द आम जनता में संपन लायक है ।
- ७—राजनीति विज्ञान या और शास्त्रीय विषया के लिए जहाँ नये शब्दों की जरूरत पड़े वहाँ भरसक देशज शब्दों से काम चलाया जाय ।
- ८—भाषा के बारे में यह चेतना बिल्कुल न रखी जाय कि उसमें सस्वृत और फारसी से निकल शब्दों का अनुपात कितना है ।
- ९—प्रसल में तो राष्ट्रभाषा के निर्माण में सब प्रांतीय भाषाभाषी और प्रादेशिक बोलियों को अपना अपना दान देना है । इसलिए उस प्रश्न पर प्रखिल भारतीय दृष्टिकोण से विचार करना चाहिए, न कि हिन्दी-उर्दू के मेल के प्रयास से ।

इसमें कलम (३) में अभी तो को कोपक में मैन किया है । आज हिन्दी उर्दू दो ही और दोना में बदगुमानी हो लकिन क्या न हम मान लें कि एक दिन का सफा है जब लगभग सब कोई दानो लिपिया जानेंगे और इसलिए किसी भी एक की तरफ्तारी किय बिना उन पर विचार कर सकेंगे । तब समय होगा कि राष्ट्र गति के मितव्यय की दृष्टि से हम एक राष्ट्र निधि का निष्पाद कर सकें । अभी तो कहकर हम भविष्य के सम्बन्ध में इसी राष्ट्रीय आत्मविश्वास का परिचय देते हैं । उसके नीचे छल नहीं सद्भावना है । फिर भी धूँक हवा में धर भरा है इससे कोष्ठक के पल गिराये जा सकते हैं ।

पहली धारा में यह रत है जिससे इस प्रश्न को लना चाहिए अर्थात् भाषा के प्रश्न पर हिन्दुस्तानी नागरिक की न कि इस या उस प्रान्तवासी या भाषा के प्रश्न पर ही विचार करना चाहिए । भाषा के सवाल से पहले जिन्दगी का सवाल है । यह उम्मी है कि भासपाम के लोका में हमारा हेतुमल बड़ । एसे हिन्दी में सस्वृत की तरफ और उर्दू में फारसी की तरफ बढ़ने की भावना कम हो जायगी । बकि तब वे एक-दूसरे की तरफ लिचगी । राष्ट्रीयता अगर साम्प्रदायिकताओं में बटकर कमजोर पड़ रहा है तो बहुत कुछ इसलिए कि हम पड़ोसी को पड़ोसी नहा बल्कि स्वधर्मी या विधर्मी स्वधर्मी या विधर्मी के रूप में देखते हैं । पड़ोसी घम पर जोर देने में मानता है कि भाषा की समस्या, की बढिनाई कम होनी जायगी ।

हम अपने अपने दावे में घूमते हैं । हिन्दीवाला हिन्दी में उर्दूवाला उर्दू में । तमागा यह कि पड़ोस का गार्हियक मर लिए एकलम अपरिचित रहता है और भागी त्याग बाज मरे अपने बन जाते हैं । यह निश्चयनत घन्नर में कि यह घटना कहानी दूसरा निधि में निगता है । यह हमन आज हमको प्रस्ता

भाविक लग भानी चाहिए। इससे भागे सुभाष है कि उदू हिन्दी जाने भाषण में मिला करें और सांस्कृतिक मंच पर वह मिसना हा।

संस्कृति शब्द यहा निरपेक्ष नहीं है। बनारसीनाम जो की राय थी कि यह न रहे। पर मैं उस शब्द का न गिरा सका। बरह यह कि मिलते तो हम भाव भी राजनीतिक धरातल पर हैं पर वह मिलना क्या काफी दृष्ठा है? क्या वही ऊपर से मिलाकर बिभी कदर अन्तर से फाड़ने का सबब नहीं हो गया है? क्योंकि राजनीति के मंच पर धधिवारों का घटना है इससे राजनीति विभेद झलनी देखी जाती है अभेद जगाती नहीं। उसम मल होना भी है तो गीत का, मन का नहीं। मन का मल यह नहीं मांगना कि तुम हमारी पार्टी में या गिरोह में आओ। जहां हो वहीं रहो पर एकत्रित रहो। विमा को उसकी जगह से, माना उसके विश्वासा और विचारा से उन्मान की इच्छा नहीं बरिबिफिफि धापना समझ और मेल बढ़ाने की तबीयत है उसको मैं सांस्कृतिक धरातल कहता हूँ। हिन्दी और उदू काम करन वाला को पास धान और मिलने-जुलन की धारत है तो उसी धरातल पर। उसी का फल कुछ निपटारा।

इन धाराणा में शिवा और भी देगी जा सकती है। वह यह कि भाषा के प्रश्न का समाधान के लिये शिवा उदू का तरफ या उदू हिन्दी की तरफ न देखे। जब मसला इस ढंग पर रक्खा जाता है कि इस नये भद्रजी दादा के लिये हम फारसा धरती के सहार से शैली भाग बनायें या संस्कृत के सहारे से तो स्वातन्त्र्य मुक्ति हा जाता है। उपर सुभाषा गया है कि ऐसे समय हम देहात की धरण लें। यहा शिवा भाषा की जसी दरिद्रता नहा है। प्राशिक्ष बोनियो में बहुत दादा मरे पढ हैं जो बड़ी सुधारई के साथ उठाकर अन्तर्ध्याताय चलन में लाय जा सकते हैं। धपन ही घर के उस भद्वार में धाल मोडकर हिन्दी और उदू में धनबन ता बन सकती हैं निपटारा नहीं हो सकता। धसल में ता हिन्दी उदू शोना ही हिन्दुस्तान में जमी है। उदू में हा धितन ही धण विन्धी यह हमार हिन्दुस्तान की धरता से दूर नहीं सकती। यह तो हिन्दुस्तान का धिष्ठ है और रही कि बाहर के सींग प्रभाव दाद धाम है और पच गये हैं। उदू न शिवा का समृद्ध विधा है। उदू में सना हिन्दी मानव की धनम में सुधी ही पना हुई है। उसम उगकी भाषा का धमक बढ़ा है। इसलिये जय शिवा जैसे उदू शोना ही धपन की धरत और बढ़ान के लिये हिन्दुस्तान के देहात की धरण लें। इन धाना भाषाणा के शिवा की धमनिया में भगवा धिनगा देहात में बना धनाया सुतभाष धिन सकेगा। इसम कहा गया है कि जहा तक हा नये भाषा के सप दशक धण से काम लिया जाय।

पारा (६) के धारे में भी मतभेद था। बनारसीदासजी उस भावपूर्ण देखते थे। सन्नि उसमें कहा गया है कि सस्कृत या पारसी से निकले हुए शब्दों की बराबर-बराबर बोल रखने से हिन्दुस्तानी न बनेगी। वह निगाह ही गलत है। यानी अगर राष्ट्रीय मुविधा के लिये प्रादम हिन्दुस्तानी का निर्माण होना है तो उससे लिये जग भी यह नहीं साबता होगा कि सस्कृत के शब्द काफी आ गये या नहीं या पारसी शब्दों का समुचित प्रतिनिधित्व हो गया है या नहीं। राजनीतिक सद्भिलाषा में ऐसी भूल होती देखी जाती है। एक राष्ट्रीय मुस्लिम नेता जहाँ-तहाँ अपने भाषण में सस्कृत के शब्द छिन्न-खण्ड सायद मानें कि वह हिन्दुस्तानी की भाषा को पूरा कर रहे हैं। इसी तरह हिन्दू राष्ट्रवादी मौने वे मौने अपने भाषा में पारसी लपट डालकर अपने का सही दिना में चपलता हुआ मान सकते हैं। पर सच यह है कि यह भाषा नहीं है। दोना को शब्द के अन्तर्गत अपने में समोश टाडख होना होगा यानी जनता का प्रादमी बना होगा तब उनसे असल तौर पर हिन्दुस्तानी का बना हो सकता है। उर्दू और हिंदी के मन के इरादे से एक श्रुतिम अन्तर्गत गाठकर भाषा देने से हिन्दुस्तानी की सवा नहीं जाती। भाषा तो हर हात में महज शक्ति और सुयोग होनी चाहिए। भाषा में सुवोधता आयेगी तो तभी जबकि व्यक्तित्व का जीवन जनता में मिल चलगा। जबतक व्यापक सोच-जीवन के साथ हमारा मन नहीं है तब तक सच्चे अर्थों में सुनम और सही हिन्दुस्तानी भाषा का निर्माण होना हमसे मदद नहीं मिलेगी। अर्थात् हिन्दी उर्दू के स्याग से बनने वाली हिन्दुस्तानी को अपने आप में एक अतिरिक्त उद्देश्य बनाकर हम बोलें लिये तो जगस मुक्तिज उतनी हल नहीं होगी जितनी कि तब होगी जब अगर किसी हिन्दी उर्दू के ग्यान के जनता के साथ अपने सुग-सुख को जितना देने की कोशिश में हम भाषा का व्यवहार करते। कुछ यही भाषाय मानकर नवी बलम को रद्द नहीं किया जा सता।

पारसी पारा में भी यही बात स्पष्ट की गई। दग जग पठित मुन्द-सासनी के सभी शान ही पढ़े सग का विक्रमगन न होगा। उन्होंने सनात को इतिहास की ओर से देखा है। सयात अमन का है और इतिहास में बह्य है। जो वह लेग पढ़ने सायक है। उनमें हिन्दी नाम की इतिहासिक परम्परा को दगल हुए उगे अक्षयी ब्रज राजस्थानी प्राति भाषाओं से अलग अग्याना से सुरागवा ठक के प्रत्येक में बाली जान बाली सभी बोनी के अर्थ में लिया गया है। उगी पर से फिर राष्ट्रभाषा का विवेचन किया है। कहा है कि यह हिन्दी (गरी बोनी) अन्तर्प्रातीय व्यवहार का माध्यम थी। लेकिन अन्तर्हिन्दी

की सत्ता यहाँ से हटकर दूर संस्कृत मिश्रित भाषा की अभिधा में घली गई है जबकि उर्दू नाम करीब-करीब वही कायम है। इस तरह आज अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के लिये जब एक राष्ट्र भाषा का सवाल है तब हिन्दी के बजाय उर्दू कहने से ठीक ठीक सही बोली का भाव मिल सकता है।

पठितर्कों की बात ठीक हो सकती है। पर आज राष्ट्रभाषा वही बोली के आधार पर ही और उनी दायरे में बननी यह स्थिति नहीं रह गई है। पर अंतिम घाटा (१०) इंग्लिश कहती है कि राष्ट्र भाषा में निर्माण के न सिर्फ हिन्दी और उर्दू बल्कि और भी प्रांतीय भाषाओं और बोलियाँ से योग मागा जायगा। इसलिये हिन्दी उर्दू की मुलह या अनवन पर राष्ट्रभाषा का सवाल टलनवाला नहीं है और इस पर उस दृष्टि में नहीं बल्कि अखिल भारतीय दृष्टिकोण से ही विचार किया जाना चाहिए।

इस सबके बाद एक मैं अपने मन की बात कह देना चाहता हूँ। आज देश के सामने है कि वह बन कि वह अपने लिये क्या भविष्य और कसी संस्कृति चाहता है? हम चाहते हैं कि गाँव चाहते हैं। मिलें चाहते हैं कि सेती चाहते हैं? हम अपने बीच समता चाहते हैं कि ऊँच-नीचता भी चाहते हैं। मेरे मन में किंचित् संदेह नहीं है कि भाषा के सवाल के समाधान की जड़ें अगर हैं तो यहाँ हैं। उसी बिन्दु के चारों ओर और सवाल निपटें हुए हैं। अगर हम गहरी सम्यता चाहते हैं और पश्चिम से आई हुई इसी किस्म की मद्दालतें और फीजें और सरकार चाहते हैं तो लिपि के लिये हम रोमन ले सकते हैं—सकते हैं नहीं लेनी पड़ेगी—और अंग्रेजी की शिक्षा को सारे देश में अनिवार्य बनाने का आन्दोलन कर सकते हैं। पर अंग्रेजी से गुलामी आई है और राष्ट्रभाषा का अगर सवाल उठा है तो उसी गुलामी का ठाढ़न के लिये और यह भी सब है कि गुलामी हमारी दरिद्रता पर कायम है—और दरिद्रता गहरी सूट पर कायम है। इससे अगर सबकुछ गुलामी से छूटना है तो देहात को आबाद करना होगा और जो सम्पत्ति वहाँ पदा हाती है पर लिखकर बही और खली जाती है उसको वहाँ पहुँचाना होगा। मैं कहना चाहता हूँ कि भाषा की असल समृद्धि भी वही से आयेगी। इसलिये क्या तो हिन्दीवाल और क्या उर्दूवाले सबको कहना होगा कि तुम अपनी असल भय की या भाषा की सम्पन्नता का भूल जाओ क्योंकि उसमें जूठन और अनरल भरती है। उर्दू कृत्रिम है और मुन्हारी हिन्दी कृत्रिम है। दोना सौट खमो वहाँ जहाँ सब अकृत्रिम है। वहाँ से भाषा से। वह एक ही साथ हिन्दी का काम दे जायगी और उर्दू का भी काम दे जायगी। क्योंकि वही असल हिन्दुस्तानी होगी।

ऊपर के मन्तव्य की धीमत् इस लिहाज से सविनोप है कि कई हिन्दी लखकों का वह समुक्त प्रतिनिधित्व करता है । मैं चाहूँगा कि भाषा उसका गौर से दले आवश्यक हा तो संगीघन मुझाये और फिर अन्तिम रूप स जो मसविता बने उसको हिन्दी-संसार के आगे प्लेटफाम क तीर पर मजबूती स जमाने में मदद कर । राजनीतिक, राष्ट्रवादी पुष्पो मे मुनने रहने क लिय ही साहित्यिक जन नहीं है उन्हें उम बारे में अपना आधार खुद पा लेना होगा । भाषा राष्ट्रीय मुठों में जेल गम है पर यहां तो हम साहित्य का लखर साथ है । भाषा है कि भाषा इस भाषादयनता पर ध्यान देगे और स्वस्थ और जीवन-त्तर साहित्य-मच का आविर्भाव हिन्दी में होने देगे ।

भारतीय साहित्य

भारतीय साहित्य एक ही और रहा है। इस तथ्य को प्रमाणित करने में भी आपका समय नहीं लूंगा। यह बात सिद्ध है और स्पष्ट है। लेकिन जो प्रश्न प्रश्न देगा और मनन का विषय हो सकता है वह यह कि महात्मीय जितने विंगल रान में से अगर कोई अतर्भूत ऐक्य समझ बना चला आया तो उसका रहस्य और कारण क्या है? हर तरह के आघात और प्रहार इस देश ने भोगे हैं। इतिहास इसके प्रति कोई विंगल सत्य नहीं रहा है। नाना जातियां यहां आई हैं और तहम तहस मचाती आई हैं। लेकिन उस सब विभेद और विरोध को आसमान करती हुई यहां की भावभूमि एक बनी रही है निश्चय ही यह आश्चर्य और अनुसंधान का विषय है। लगता है जैसे मानव जाति के भाव-लेख से यह भारत भूमि परम-ममत्व के सूत्र-साधना की प्रयाग-स्थली ही रही है और हम देश का मानव सत्त्विति के प्रति कर्त्तव्य यही भवमान होने वाला हो।

पर साथ ही दूसरी बात जो ध्यान देने योग्य है वह यह कि हजारों-हजार वर्ष के अपन इतिहास में भारतवर्ष बीच में गिनती के कुछ ही वर्षों के लिये राजनतिक रूप में अविभक्त रहा होगा नहीं तो वह सत्ता ही अलग-बिखरा रहा है। जगकी भौगोलिक सीमाएं फटती सिमटती रही हैं और अंतरा में नाना राज्य भी बनते बिगड़ते और उठन गिरत रह रहे हैं। सक्षम में भारत की एकता उसकी राजनीतिक अनेकता में स सपन्न होती आई है। यह एक अनोखी बात है और बेहद विश्वारम्भीय है।

राष्ट्र तो सब जगह एव है लेकिन एक के बराबर राष्ट्र और राज्यवाद की भूमिका पर हैं। यानी राजनीतिक उदय पुरान उस एकता को तोड़-मरोड़ देती है या वह राष्ट्रवाणी एकता दूसरे राष्ट्रवाद के टक्कर में आकर स्वयं अस्त-व्यस्त हो जाती है।

भारत के साथ ऐसा कुछ घटित नहीं हुआ। राष्ट्रवाद का हुंकार कभी यहाँ ऐसा उत्पन्न नहीं हुआ कि वह दूसरे के लिये चुनौती बन जाय और राष्ट्र

विस्तार और साम्राज्य-विस्तार के लिये चल पड़ा। बल्कि उल्टे यह देखने में आया कि अमित सामर्थ्य रखते हुए भी भारत का दण्ड माना गया था या जहाँ दूसरे लोग लोभ और धारणा में खूब-मार करते हुए भी धूम चल आ सकत थे। पर परिणाम सदा हा यह हुआ कि बाहर से चढ़ाई चक्कर आने बाउ य लोग कुछ शिना बाद यहाँ की प्रकृति में रम रव रह और महा की सम्कृति का उच्छिन्न कर पान की जगह उसे और मपन्न करने के ही काम आ गय। यल भारत की अपनी भावभूमि का विगपता रही है और यदि महा का साहित्य एक है तो इसीलिए कि उस भावभूमि में वह विछडा नहा है प्रत्युत महा में अनुप्राणित हुआ और उसी का अन्विध्यन्ति दता रहा है।

रस की राजनीतिक मनकता और साम्कृतिक एवता क अट्ट इतिहास को आपपाम रखकर दान से कुछ परिणाम हाय प्राप्त है।

- १ भारतीय मनोभूमि प्रकृति से घमनातिक है। पश्चिमिनिमा की विवगता तक राजनीतिक उद्योग उम स्वाभाव है। प्राण महमाकाया उमनी राजनीतिक नहीं है।
- २ नीति रीति के नियमन के त्रिय राज्य क कानून का अषणा सामाजिक मायता पर महा अधिक बन और अवलव है।
- ३ तम्याण जिनक द्वारा लोकजीवन की व्यवस्थित और सतुलित रग्न गया, तासा प्रधान न होकर भाव प्रधान है।
- ४ देश की चारणा राज्य केंद्रित नहीं है। उगक प्रति मानू भाव तीय भाय जगाया गया है। चारा शिगाया में भारत की सीमा पर तीयपाम है और उनवी यात्रा भौगोलिक ज्ञानाजन में अधिक भक्ति-भापना की प्रथिया है।
- ५ अल्पता का भाय पर्मोमुग है मोवीमुग रग है। सत-गाधु बना धातर और पूजा के क- है राजा विजना जन नग। रम की प्रयरता और प्रवतना में भिन्न भाय का पवित्रता और शु-ना में भारतीय शक्ति गविाप है। यहाँ का नातिगाता अति रग है।
- ६ लोक मनस क धायरवन बतक- जा प्रतन पुग्य प्रकृतिा हुए क सीकिक शक्ति। ग अतिव धार्मिक शक्तिमा में महिन व। व पुराग पुरय उगर पम भावना क उगाहण थ।
- ७ भाय धाम और गाय-पुश्य जनक दान और शक्ति जनम भारतीय मत्तारा और मान-भूना का निर्माण हुआ। त्रि राजय कस में उगा प्रचार के सावरण की अषणा रगी गद।

इस तरह भारतीय मानस राजनीतिक उपल-पुषल क अधीन गिरता-उठता नहीं रहा उसके आदग भी उस तरह झकोले नहीं साते रहे । वे अक्षिग और स्वायी बन रहे । उमरु मूल्य मानवीय रहे और प्रादेशिक और एकांकी नहीं बन पाय । सामयिक मे अधिक वे नैतिक और शाश्वत रहे ।

इन मूल्यों को सकमक नहीं कहा जा सकता । यह नहीं कि कम की यहा मन्ता थी । राम और कृष्ण कोई बनवासी ऋषि नहीं थे और ये ही दोनो अरिभ भारतीय धम के दो ध्रुव हैं । लेकिन राम का घह रूप भारतीय मानस को परटना है जहां घह कृताय भाव से गाय का अधिकार छोड जात हैं । उसी तरह कृष्ण का बाल-रूप ही भारत के लिए परम विमोहन बना हुआ है । दोनो जगह योडा प्रधान नहा है गीण है । और अज न को गीता के उपदेश म रणोद्यत बनाकर भी कृष्ण स्वय सारसी रहते और युद्ध से उत्तीर्ण बने रहते है ।

कम की जबकि मदता नहीं रही तब भारतीय मनीया वा मूल्य अव्यय उसने उत्तीर्ण रहा है । बाहर यहा से कोई विजेता नहीं गया अनेकानेक धम के मदेशवाहक अवश्य गये । बौद्ध विचार बाहर जाकर जड जमा फना हिन्दुध के प्रभाव दूर-दूर तक लहुवे ता यह किसी लौकिक जय-यात्रा का परिणाम नहीं था । तथापि यह प्राणो की सम्पन्नता ही थी जिसके कारण ये शान्ति-वाहक धम क द्रुत भारतीय विचार और सस्कृति के तत्व को दूर देशान्तर म ले गये । कम का प्रवग अवश्य नहीं था पर भीतर मे उठता हुआ भाव का आवेग था जिससे भारतीयता का विस्तार हुआ था । साम्राज्य विस्तार मे यह विमकुल ही भिन्न प्रकार का तत्व है और यदि पहले का साधन शास्त्र है तो दूसरे का साधन शास्त्र है । राजनीति सना का मुहताज हो सस्कृति का सदेश साहित्य का मौन धर्म से जाता और दूर-दूर तक बो घाना है ।

साहित्य क निण प्रतिपक्ष नहीं है । इसलिए उससे सायजस्य का ही विस्तार होता है । सस्कृति म ललकार होती ही नहीं । वह सदा पूर्ति देती और पूर्ति खोजती है । उसीको अपने ह्वास-निर्वास में लेकर चलने वाला साहित्य किसी के निण आत्मीय नहीं रहना ।

भारत म अलग अलग जातियां रहा मापाए रहा और रहन-सहन के धमग और तरीके भी रहे हो सकते हैं । पर कथा-गाथाए और काव्य-पुराणों के द्वारा एक ही मानव धम यहा व्याप्त बना रहा । आरोपित आदग उसको डक या उखोड नहीं सके । साहित्य उसी स्रोत मे प्राण पाता रहा और प्रदग विनोप की या व्यक्ति विनोप की विगपताओं का सबर वह कितना भी विविध और विविध बनकर प्रगट हो मूलत ध्रुवनिष्ठ रहा है । रूप घानार और धानी को सब विविध-

ताम्रो म विलकर भी वह कद्रिन भाव से व्युत नहीं हुआ और मव जगह उमी मानव मूल्य की प्रतिष्ठा का उपकरण बना रहा ।

इस दंग म कोई एक केन्द्रीय राम न होने के कारण व्यवस्थित रूप से किसी एक भाषा की भी आवश्यकता नहीं रही । लोग धान जात के परस्पर प्रान्त प्रदान खूब था । धारा धामा की यात्रा माना हरक के लिए आवश्यक थी । इस तरह सग ही कोई न कोई एक माध्यम रहा जिसम यह सम्भारता उत्तरोत्तर पनपती और फल फूपती रही । विगना के लिए सम्भृति जनसामान्य के लिए इस या उन रूप की प्राकृत । तकिन यह भाषाएँ राजकीय माध्यम के रूप म व्यवस्थित नहीं थी, बवल प्रचलित था । यही कारण है कि उन सावजनीन माध्यमों के रहन भी प्रादेनिक भाषाभा पर तनिक भी दबाव नहीं धाया के अपनी जगह युगपत साहित्य म भरपूर होती चली गई । राम और कृष्ण के नामचरित लगभग सभी भाषाभा म खनत्र भाष म रच गये धाषको मिनैगे । धनुष किसी माध्यमिक भाषा पर राजकीय बल और भाषा न था इसलिए प्रतिस्पर्धा का प्रदन ही कभी नहीं उठा हादिक और निर्वाचि दान प्रतिदान चलना रहा । यही कारण है कि बिना किसी केनीय और राजकीय प्रयास के भी भारतीय साहित्य विभिन्न भाषाओं म परस्पर पूरक और सहयोगी रूप म विकसित पाता गया । बदिक काल मे धव इधर उल्लोसवो मदी के धारभ तक यह प्रक्रिया धन्यत चलती रही । इसम एक प्राकृतिक नियम काम कर रहा था और किमी भी कृत्रिम प्रयास न विनोय बाया नहीं आसी थी ।

मघेडों के और साध मगजी के धाने म पहली बार इस प्रक्रिया म विघ्न उपस्थित हुआ । यह धानमण धनग तरह का था । मघज यहां राजा नहीं बने, सम्राट बने । भारत उन्हें उपनिवेश था । इस तरह यहां का रग लेने के बजाम उन्हे अपना धायिपरय और अपना वृग लिया । राष्ट्र की नई धारणा उनके कारण भारतवर्ष को प्राप्त हुई और वह एक राजकीय और प्रतिस्पर्धी (एकम बन्धुबिध) धारणा थी । एक एत्र के नीच सारा देग धामा और एक राजनीतिक ध्यमथा बनी । काफी दिन यहां मघज साग रह और इस काल म जम बहु प्रक्रिया थी सदिया मे भारत म भीतर ही भीतर अपना काम करती रहा थी काली रक गई । तबधा खगिन ती बहु नहीं हुई थी भारतीय प्रकृति धाम मरणाण म मोर्षा मन को धार-धार उठी । इस सघष की दिन तब हुई जब गांधीजी के नवृत्व म भारत ने स्वराज्य पाया । गांधी भारत की अन्तः प्रकृति के मूर्त प्रतीक ही थ । धनुषम हुआ कि उनक ध्यतित्व म यह देग समन्वित रूप म एक और ममय और ज्वलन बन धाया है ।

इस तरह भारतीय मानस राजनीतिक उपल-पुपल के अधीन गिरता-उठता नहीं रहा उसके भाग्य भी उस तरह भ्रकान नहीं साते रहे । वे अडिग धीरे स्थायी बने रहे । उसके मूल्य मानवीय रहे और प्रादेशिक और एकांकी नहीं बन पाये । सामयिक से अधिक वे नैतिक और शाश्वत रहे ।

इन मूल्यों की सक्र्मक नहीं कहा जा सकता । यह नहीं रि कम की यहां मन्ना थी । राम और कृष्ण कोई बनघासी ऋषि नहीं थे और ये ही दोनों चरित्र भारतीय धर्म के दो ध्रुव हैं । लेकिन राम का यह ध्य भारतीय मानस की पदटता है जहां वह कृतायु भाव म राज्य का अधिकार छोड़ जात हैं । उसी तरह कृष्ण का बाल-भ्य ही भारत के लिए परम विमोन्न बना हुआ है । दोनों जगह योद्धा प्रधान नहीं है गौण है । और अजन की गीता के उपदेश म रणोद्यत बनाकर भी कृष्ण स्वय सारधी रहते और युद्ध से उत्तीण बने रहते हैं ।

कर्म की जबकि मंदता नहीं रही तब भारतीय मनीषा का मूल्य अवश्य उसमे उत्तीर्ण रहा है । बाहर यहां से कोई विजिता नहीं गया मनकानेक धर्म के संदेशवाहक अवश्य गये । बौद्ध विचार बाहर जाकर जड़ जमा फला हिन्दुत्व के प्रभाव दूर-दूर तक पहुंचे तो यह किसी सौकिक जय-यात्रा का परिणाम नहीं था । तथापि यह प्राणो की सम्पन्नता ही थी जिसके कारण ये गान्धि-वाहक धर्म के दूत भारतीय विचार और संस्कृति के तत्व को दूर देगान्तर में ले गये । कर्म का प्रवेग अवश्य नहीं था पर भीतर से उठता हुआ भाव का आवेग या जिमस भारतीयता का विस्तार हुआ था । साम्राज्य विस्तार से यह बिलयुन ही भिन्न प्रकार का तत्व है और यदि पहले का साधन शास्त्र है तो दूतरे का साधन वास्त्र है । राजनीति सेना की मुहताज ही संस्कृति का सदेश साहित्य का भी सभ से जाता और दूर-दूर तक वो जाता है ।

साहित्य के लिए प्रतिपन्न नहीं है । इसलिए उसमे सामजस्य का ही विस्तार होता है । संस्कृति म समकार होनी ही नहीं । वह सदा पूति देती और पूति खोजती है । उसीका अपने श्वास-निश्वाम में लेकर चलने वाला साहित्य किसी के लिए धारमीय नहीं रहता ।

भारत में अलग अलग जातियां रही भाषाएं रहा और रहने-सहने क धर्मग तौर तरीक भी रहे हा सभत हैं । पर क्या-गाथाएं और काव्य-पुराणों क द्वारा एक ही मानव धर्म महा ध्याप्त बना रहा । आगेपित आर्यन उसकी बक या उलाड नहीं सके । साहित्य उसी श्रोत से प्राण पाता रहा और प्रदेश विधेय की या व्यक्ति विधेय की विधेयताओं को लेकर वह जितना भी विविध और विचित्र बनकर प्रगट हो मूसत ध्रुबनिष्ठ रहा है । रूप भाकार और धैनी की सब विविध-

उत्तमों में बिलवर भी वह कदित भाव से व्युत्त नहीं हुआ और सब जगह उसी मानव मूल्य की प्रतिष्ठा का उपकरण बना रहा।

इस देश में कोई एक केन्द्रीय राज्य न होने के कारण व्यवस्थित रूप में किसी एक भाषा की भी भाष्यमकता नहीं रही। लोग घाने जाने थे परम्पर भाषान प्रदान खूब था। चारों घामा की याथा मानो हरेक के लिए भाष्यमक थी। इस तरह सदा ही कोई न कोई एक माध्यम रहा जिसमें यह परम्परता उत्तरोत्तर पनपती और फल फूलती रही। विद्वानों के लिए सम्बन्धि जनमाभाष्य के लिए इस या उस रूप की प्राकृत। लेकिन यह भाषाएँ राजकीय माध्यम के रूप में व्यवस्थित नहीं थी केवल प्रचलित थी। यही कारण है कि उन सावजनिक माध्यमों के रहत भी प्राणैतिक भाषाओं पर तनिक भी दबाव नहीं आया वे अपनी जगह युगगत साहित्य में भरपूर होती चली गई। राम और श्याम के वाक्यपरित लगभग सभी भाषाभाषा में स्वतंत्र भाष्य स र्च मय भाषकों पित्त। प्रमुख किसी माध्यमिक भाषा पर राजकीय बल और आग्रह न था इसलिए प्रतिस्पर्धा का प्रश्न ही नहीं उठा, हादिक और निर्वाच्य दान प्रतिष्ठा न बनता रहा। यही कारण है कि बिना किसी केन्द्रीय और राजकीय प्रयास के भी भारत की साहित्य विभिन्न भाषाभाषा में परस्पर पूरक और सहयोगी रूप में विकास पाता गया। बरिदक काल में जब इधर उन्नीसवीं सदी के आरम्भ तक यह प्रक्रिया चलत चलती रही। इसमें एक प्राकृतिक नियम काम कर रहा था और किमी भी कृत्रिम प्रयास ने विरोध कापा नहीं डाली थी।

सपेजों के और साथ सपेजी के घाने में पहली बार इस प्रक्रिया में विघ्न उपस्थित हुआ। यह आक्रमण मलय समूह का था। मयज यहाँ राजा नहीं बने मयज बने। भारत उन्हें लगनियेस था। इस समूह यहाँ का रण लैन के बजाय उहाने अपना आधिपत्य और अपना र्च मय मिया। राष्ट्र की र्द घारणा उनके कारण भागतवय को प्राप्त हुई और वह एक राजकीय घोर प्रतिस्पर्धी (एवम क्युडिब) घारणा थी। एक घत्र के नीचे सारा देश घाया और एक राजनीतिक व्यवस्था घनी। काफी त्त यहाँ सपेज लोग रहे और इस काय में जम वह प्रक्रिया को सन्धियों में भारत में भीतर ही भीतर अपना काम करती रही थी मरणाएँ में मोर्चा मने की बार-बार उठी। उस घपा की दिति तक हुई जब गांधीजी के नेतृत्व में भारत में स्वराज्य पाया। गांधी भारत की प्रत्त प्रकृति के मूल प्रतीक ही थे। प्रनुभव हुआ कि उनक व्यवस्था के मूल प्रकृति रूप में एक घोर गमघ और उपमग बन घाया है।

गांधी युग में भारत की सभी भाषाओं का साहित्य एक भाए और एक तान होकर उत्पन्न की और उठा। वह उत्पन्न सभी समाप्त नहीं हुआ है लेकिन स्वराज माने के साथ गांधीजी को देना ने खो दिया। तब से जान पड़ रहा है कि जैसे वह महद्माय ही बीच से उठ गया है जो सबको एक दूसरे के निकट माने और उत्पन्न होने की प्रेरणा देता था। नविक से राजकीय धेतना मानों उपर था गई है। और भाषाओं में नव रक्षा और स्व-मान की चिन्ता पदा हो आई है। भाषाओं की विविधता जो अब तक एष्यभाव का समाल रही थी धनक्य का कारण बन चला है। उह लगन लगा है कि जैसे सबके प्रति जो एक ही विधिनी है उसी अग्रणी भाषा के सहारे उनमें आपस में समता बनी भी रह सक्ती है उसके अभाव में वही एक कोई भाषा सब पर माने न लग जाये। सांस्कृतिक भाव की मदद के द्वारा यह राजकारणी महामहिमा मनो पर सवार हो आई है और भाषा मिश्रण की जगह फटाव के काम में लाई जान गयी है।

अब स्वराज्य है और देश के पास अपनी कन्द्रीय व्यवस्था है। यह सुविधा समाप्त इतिहास में बहुत ही कम भारत देश के पास हो पाई है। इसीलिए यह प्रश्न है कि क्या विद्या जाय जिससे भारत के प्राणों का और साहित्य का मूल गत अवस्था प्रगट और पुष्ट हो। लड़का का भाव दसा में निमूल हो और महदु होय का आविर्भाव हो।

पिछले विचारण में हमने देखा कि साहित्य और संस्कृति कुछ नाशुक चीजें हैं। इन के साथ उनका योग नहीं बठता है। राज्य बहुत बनसाली भस्या है। धन के लाभ अनाम दोनों ही हैं। किन्तु यह समझ होता चाहिए कि अनाम धचाया जा सके और संस्कृति के पक्ष में धन का लाभमात्र ही उपनव्य हो।

राज्य का धर्म निरूपण रहना ही उचित है। अमुरु नामधारी संस्कृति के प्रति भा उने निरपक्ष रहना होता है। राज्य का काम अधिकांश भौतिक है। मान सित और सांस्कृतिक को उस कम ही छूता और छोड़ना चाहिए। भारतीयता कुछ उनी पद्धति में काम करती रही है। ज्ञानान और नीतिदान अधियों का काम रहा है। राज्य शक्ति भर धन प्राप्ति का अणु भन करत रहे हों किन्तु अधि मानवनिष्ठ रहे हैं। राजनिष्ठा की उद्दिनि धयना स्वधर्म नहीं बनाया है।

विश्व की प्रगति धाज अजर जगह पर धा गइ है। दुनिया छोटी पड़ रही है और कोई अपने को अलग और अनेना नहीं रख सकता है। ऐसी हात में राज्य की कल्पना न विद्याल रूप धारण किया है। ईश्वर सबव्यापक होता था अब सोचा जाता है कि राज्य सबव्यापक हो। कम धारण पर सगठन बने

से बड़े धन रहे हैं, लेकिन वह भविष्य भाव से छावनियां में परिणत होते दखे जाते हैं। एक विचार उठा था कि राज्य तंत्र के रूप में समाज में विलीन हो जाय और स्वयं में अनावश्यक हो जाय। आदर्श रूप में उस विचार को छोड़ा तो अभी तक नहीं गया है लेकिन बीच की अवधि में मानों राज्य को सब ध्याप्त और सब बल्याणीय शक्ति के रूप में स्वीकार करना मान्य बन गया है। उस कारण विश्व की स्थिति माना सबट की भी आ बनी है। लगता है उस राह से अगर दुनिया की एकता को धाना हो तो फिर युद्ध की बतरिणी को पार करना ही होगा। लेकिन विज्ञान की उन्नति इतनी हो उठी है कि युद्ध गुरु हुआ तो उसका दूसरा बिनाश मित्रन वाला नहीं है बीच में ही सब स्वाहा हो जायगा।

इस हालत में संभव हो सकता है कि सगम भारतीय साहित्य की भावगत एकता को पहचानकर उसे पुष्ट और प्रबल बनाने के उद्यम द्वारा दुनिया के सामने वह राह भी दिखा आये जिससे सबट बटे, सहस्रस्तित्व बढ़कर सहभाव और सहयोग में परिणत हो और राष्ट्रा के बीच सुरक्षा और शास्त्रास्त्र की पवित्र अनावश्यक हो जाय।

भारतीय साहित्य राज्य के लिए आशीर्वात् रूप भल रहा हो उस पर निभर होकर नहीं रहा है। कारण उसमें मानव की प्रतिष्ठा है सत्य की अनवरत गीर्वाण और उसका निर्भीक निष्पान है। लोक व्यवहार में वह धर्म के अधिष्ठान को पीटकर के समान है। मन्थन में राजनीति के ममका यह लोकनीति या प्रतिस्थापन है।

यदि भारती सगम भारत की सब भाषाभाषा और साहित्यां में आशान प्रदान की वे प्रणालियां खोज सके जिनमें परस्पर परिचय और प्राप्ति प्राप्त हो साहित्यकारों को सम्मिलन और सहचिंतन के अवसर आए अनुवादों द्वारा वे निकट बनें—यह सब यदि शक्ति शक्ति की राजनीति से मुक्त रहकर सगम कर सके तो संभव है यह एक नई सांस्कृतिक शक्ति को उदय में ले आये जा समय पर राज नीति आशा और अभिनिर्वाहों पर अनुग का काम दे।

साहित्य असाक्षी जमी सभ्या के बाह्य और धनिरिक्त भी यदि भारती सगम की उपयोगिता है तो यह यही कि एक बड़ पमान पर जनमानस में यह सांस्कृतिक चेतना को दीप्त करे और खोज-नगाणा की आशा की धार उठने की प्रेरणा देने के लिए उपयुक्त पृष्ठबन का निर्माण कर सके।

राज्य को और उठने बल को आधार में लक्ष्य न चलन की प्रविष्टा ठेठ भारतीय है दूसरी जगह धार्य बट नहीं मिलती। धामुनिक बात में गांधीजी ने

उसका सफल प्रयोग करके दिखलाया है । साहित्य का काम मानव की शुद्ध चित्त-
शक्ति से ही चल सकता है । सत्ता और सत्स्था का सहारा लेने पर मानीं प्राण
दमित मानव से विमुख पड़कर तत्र-यत्र वाली बन जाती और सत्कृति सेवा के
अयोग्य हो जाती है । यह पहचानकर संगम ने अपना काम किया तो बहुत से
खतरों से बचकर वह भारत के दान की दुनिया के सामने लाने का ध्येय पा
सकेगा ।

दिसम्बर, ६०

■ ■ ■

युग-समस्यार्थे व साहित्यिक

इसके साथ-साथ कोई भयभीत तो मुझ से नहीं बन पाया है कि जिसका मुझे ऐसा दण्ड दिया जाये। साथ ही से इस अवसर पर तो मैं आप साहित्यकारों से मिलने मात्र आया था।

मैं अनुभव करता हूँ कि मेरी जिन्दगी तो एक आधारा की ही जिन्दगी रही है। अब भी मैं कोई दुनिया में जमा हुआ आदमी नहीं हूँ। उलझा-उलझा सा हूँ। ऐसे ही साथ सहानुभूति तो की जा सकती है। ईर्ष्या नहीं। अभिनन्दन तो जमे हुआ का न्यायिता का कीजिये।

मैं मानता हूँ कि साहित्य ही सब का होता है। साहित्य जीवन है। साहित्य या साहित्यकार जीवन को चतना बरस देता है इसीलिये वह स्मरणीय भी बन जाता है।

मेरी श्रद्धा है कि साहित्य, जो जमे हुए हैं, स्थिर हो गये हैं उन लोगों के विनाश के लिए नहीं है। कारण जो जमे, ऊपर से लगे होत हैं वे वस्तु से चिपक जाते हैं। अतन्त्र को गतिहीन बना देते हैं। धरती पर गड़े हुए परा का ही दूसरा नाम स्थिरता या स्वायत्त की जड़ना है।

अभिचन, उलझा आधारा का निज का कुछ नहीं रहता कि जिसमें वह चिपक कर रहे। वह सबने लिए अपने को ला देता है। अभिचन मात्र से रचना करता है और लेमी दगा में वह बिना भय भाव के सब के लिए उपमागी बन जाता है। इसीलिये जीवनभर साहित्यकार तो आधारा—उलझा हुआ—ला होता है।

आज व्यवहार की बटन में समस्यार्थे हैं। आशा व कल्पना स्वयं और समहीन जान पहती है। हम आज व्यावहारिकता में बटन अचिन फस गये हैं। राती बनटा गृहणी व समाज—व्यवहार या पण वृद्धि यदा सब प्राथमिक आवश्यकताएँ आज आवश्यक समस्यार्थे बन गये हैं।

हवा के गहरा में मिलाने के कारण उमरी को हीमत्र नहीं मानी जा रही है। जो और भी कुतूहल है तब हवा को गिनती में माना जा रहा है।

उसका सफल प्रयोग करके दिखाया है । माहिर्य का काम मानव की शुद्ध चित्त-शक्ति से ही चल सकता है । सत्ता और सस्था का सहाय लेने पर मानों प्राणु-शक्ति मानव से विमुख पड़कर तत्र-यत्र वाली बन जाती और सस्त्रुति सेवा के अयोग्य हो जाती है । यह पहचानकर संगम न अपना काम किया तो बहुत मे खतरों से बचकर यह भारत के दान को दुनिया के सामने लाने का श्रेय पा सकेगा ।

दिसम्बर ६०

■ ■ ■

द्युग-समस्यार्थे व साहित्यिक

इसने सामक कोई अपराध ता मुक्त स नहीं बन पडा है कि जिसका मुझे ऐसा दण्ड दिया जाये । खास तौर से इस अवसर पर तो मैं आप साहित्यकारों से मिनने मात्र आया था !

मैं अनुभव करता हूँ कि मेरी जिल्गी तो एक आकार की सी जिन्दगी रही है । अब भी मैं कोई दुनिया में जमा हुआ आदमी नहीं हूँ उखटा-उखटा सा हूँ । ऐसे के साथ सहानुभूति तो की जा सकती है, ईर्ष्या नहा । अभिनन्दन तो जमे हुआ वा स्थापित वा कीजिये ।

मैं मानता हूँ कि साहित्य तो सब का होता है । साहित्य जीवन है । साहित्य या साहित्यकार जीवन को चतना बरस नेता है इसीलिये वह स्मरणीय भी बन जाता है ।

मेरी श्रद्धा है कि साहित्य जो जमे हुए हैं स्मर हो गये हैं, उन लोगों के विनाश के लिए नहीं है । कारण जो जमे, ऊपर स लदे होत हैं व वस्तु में चिपक पाते हैं, चेतन्य को गतिहीन बना दत हैं । धरती पर गडे हुए परों का ही दूसरा नाम स्थिरता या स्वाभ की जडता है ।

अकिंचन उसड़े आकार वा निज वा कुछ नहा रहता कि जिसमें वह चिपक कर रहे । वह सबके लिए अपने को खो दता है । अकिंचन भाव स रचना करता है और एसी दशा में वह बिना भेद भाव के सब के लिए उपयोगी बन जाता है । इसीलिये जीवननायक साहित्यकार तो आकार—उखटा हुआ—सा होना है ।

धारा व्यवहार की बहुत सी समस्याएँ हैं । धारा व रूपना व्यय और अर्पहीन जान पड़ती है । हम धारा व्यावहारिकता में बहुत अधिक पस गये हैं । राती बरसा, गृहस्था व समाज—व्यवहार वा पत्र वृद्धि यही सब प्राथमिक आवश्यकताएँ धारा व्यवहार समस्याएँ बन गई हैं ।

धारा व गहर में मिनराल के कारण उगकी कोई कीमत् नहीं मानी जा रही है । जब धार भीड़ चुकती है तब हवा को मिनरी में लान वा क्या भाव

क्षमता है ? परन्तु हम जानते हैं कि और सब प्राथमिक चीजा से हवा की आवश्यकता प्राण धारण के लिए कहीं अधिक है। उसके बिना सास लेना असम्भव हो जायगा।

मेरी तो यह भी भासा है कि जिसके पास कुछ भी दिखाई नहीं देता, जो अकिंचन है आज की भाषा में जो शोषित या सबहारा है कमबेष्टा में वह भविष्य का विधाता है। उसके पास अपना भविष्य है। शायद वह हमारे भविष्य का भाग्य पुरुष है।

सत्ता का बल आदम का दवा तो सकता है उसकी बाणी को कुछ काल के लिए भवच्छ भी कर सकता है। किन्तु जो मानवता को इसमें मुक्त करेगा वही महान होगा। मानवता का उद्धारक बुद्ध का स्वरूप होगा।

जो सत्ता के बल से बनी जान पड़ता है उसके पास अन्याय का बल है। परन्तु उठाने वाला उभारन वाला सत्ता से दूर होगा। अकिंचनता उसकी विवशता न होगी अकिंचनता तो ऐसे का सकल्प होगी प्रतिभा होगी। स्वराज मिले भारत में गुलचन अधिक दुर्लभ हो गया है। जगत भी समस्याओं से सकुलित अनुभव करता है। और हमन निरीह मानव का मूल्य शून्य के रूप में आका है। उसकी अकिंचनता अकिंचनता मानी गई है। हम तो अहित को सगटित सत्ता और समूह में दब रहे हैं। मानव के प्रति हमारे भीतर गहरी अनास्था है और यही व्याधि के मूल में है।

हम अकिंचन सवाप्रती अमी मानव को बवल एक मात्र मानते हैं। और मानते हैं कि सगत्र सनिक हमारी रखा करता है। प्रत्येक दम सनिक को महत्व दे रहा है। सनिक को अज्ञानिक विधि से शिक्षाओं दी जाती है कि यह भूल जाये कि वह भावुक है वह दूढ़ रूप से यत्र की भावि से सहार करने की क्षमता उत्पन्न कर ले और भयानक भाव से सहार करने लगे। विवास कदे कि अपने दास्रा से वह दुष्ट-मानताइयो को मार रहा है।

निरीह मानव को स्वच्छा से सेवावृत्ति बन अम करन वाले को शून्य मान लिया गया है और अथमिक सनिक को भोग के सारे सामान उपलब्ध किए जाने हैं। दास्रा की निशा पाकर वह हमारी रखा जो करता है। सहार का बाय ही जो उसके जीवन का सब कुछ बन बठा है। इनीलिए आज के समाज में सम्मान अमिक का नहीं सनिक का है।

इतिहास मनुष्यता को उष्ठा उठायेगा तो वह सम्मता जिसने सैनिक को महत्व दिया है बबर मानी जायगी संस्कृति व सम्मता वही है जो ऐसे मानव को महत्व दे कि जो अह को अपनी इकाई को महत्व न दे अपने को छोकर-

मिटाकर सबके हित में श्रम का प्रयोग दें। यही मेरी श्रद्धा है और आपका श्रद्धा भी यदि हम पर हो तो मैं आपकी कृपा को स्वीकार करता हूँ।

मैं अधिकतरता व अभाव में पला-पुसा आत्मी हूँ। कभी उम गरीबा को दुर्भाग्य भी मान लेता था। परन्तु आज आसपास की स्थितियाँ देखकर अब यह भाव नहीं रह गया है। मैंने देखा उनको सम्मान जम बभब व पत्र-गल्प परन्तु सम्भवतः उनको विकास में उन्नत मानव बनने में यह सुविधाएँ बाधाएँ ही अधिक बनी।

मैंने कुछ अधिक पढ़ना-लिखना नहीं पाया। भगवान ने यह कृपा की कि मुझ बचपान से इतना जड़ित नहा रहा। सम्पन्नो का जीवन बचपान में अत्यन्त जड़ित हो जाता है। यह साधन-सम्पन्न बचपान इतने निम्न है कि यह है कि भविष्य की उन्हें कोई अनुभूति ही नहीं रहती। बचपान की रक्षा में ही व भाव बढ़ रहते हैं। उनको जीवन की परिभाषा सामयिक व वृत्रिम बन जाती है। व अपने जीवन को वृत्रिमता से एसा सम्भ्रान्त बना लेते हैं कि वह असली नहीं रह जाता।

आज व लोकतंत्र जनतंत्र का क्या माप है? जो समाजगत नहीं है वे सामाजिक जन के ऊपर बठ है। सामारण जन पर विचार जन धामीन है। यह जनतंत्र नहीं विसर्पो का तंत्र है। यह तंत्र चलने वाला नहीं। माग बल वास्तव में सामारण में है, तो उसकी प्रतिष्ठा भी होना चाहिए। उसकी भावनाओं का सम्मान भी होना चाहिए। यदि जन बल की श्रद्धा का ठीक से परिपालन और उपयोग किया जाय तो अवश्य ही वह साधक और उपयोगी सिद्ध होगा।

अपने बचपान और बाद में ही गांधीजी भी अपने गये। तब हम हमारी आजादी बहन अधिक परेगानिया घर सार्द है। इनका हल निबालना साहित्यिक कार का बतम्प है। आजादी सार्द तो परन्तु वह एक गगनित दम व पाग सार्द। पर जनतंत्र में यह आजादी ता हर आत्मी के पाग पहुँचनी चाहिए। और हम पहुँचाने का काम बही शक्ति कर सकती है जो पत्र में नहीं सेवा और गहानुभूति में विश्वास करनी हो। नहीं तो हमारी यह आजादी ही बचपान बन जायगी। और तब सभलना भी बचिनी ही जायगी।

हारे जन-समूह को शक्ति-सम्पन्न बनाना ही जनतंत्र है। यह दान जब सबको मुक्त होगा तभी सच्चा जनतंत्र होगा। अभी व तो हमनी श्रम और सेवा का गिवना नहीं पस रहा प्रतिष्ठा व प्रभाव व बचपान कार्य बसाया जा रहा है।

व्यवस्था है? परन्तु हम जानते हैं कि और सब प्राथमिक चीजों में हवा की आवश्यकता प्राण धारण के लिए कहीं अधिक है। उसके बिना सांस लेना असम्भव हो जायगा।

मरी तो यह भी आस्था है कि जिसके पास कुछ भी दिखाई नहीं देता, जो अविचन है आज की भाषा में जो शोषित या सबहारा है कमबख्ता में वह भविष्य का विधाता है। उसके पास अपना भविष्य है। शायद वह हमारे भविष्य का आन्ध्र पुरुष है।

मत्ता का बल आदम का दवा तो सकता है उसकी बाणी को कुछ काल के लिए अवरुद्ध भी कर सकता है। किन्तु जो मानवता को इसमें मुक्त करेगा वही महान होगा। मानवता का उद्धारक बुद्ध का स्वरूप होगा।

जो सत्ता के बल से बनी जान पड़ता है, उसके पास अत्याय का बल है। परन्तु उठान वाला उभारन वाला सत्ता से दूर होना। अविचनता उसकी विधवाता न होगी अविचनता तो ऐसे का संकल्प होगी प्रतिज्ञा होगी।

स्वराज्य मिले भारत में सुख चन अधिक दुःख हुआ गया है। जगत भी समझाया से संकुलित अनुभव करता है। और हमने निरीह मानव का मूल्य शून्य के रूप में आका है। उसकी अविचनता अविनहीनता मानी गई है। हम तो अविचन को सर्गादित सत्ता और समूह में देख रहे हैं। मानव के प्रति हमारे भीतर गहरी घनास्था है और यही व्याधि का मूल में है।

हम अविचन सेवान्वीत श्रीमानव को बलवान मानते हैं। और मानते हैं कि सशस्त्र सैनिक हमारी रक्षा करता है। प्रत्येक दश सैनिक को महत्व दे रहा है। सैनिक को वगानिक विधि से शिक्षा दी जाती है कि वह भूल जाये कि वह भावुक है वह दुःख रूप सयत्र की भाँति से सहार करने की क्षमता उत्पन्न कर ले और नयानक भाव में सहार करने लगे। विन्यास बदे कि अपने दासों से वह दुष्-प्राप्तताओं को मार रहा है।

निरीह मानव को स्वेच्छा से सेवान्वीत बन अयम करने वाले को शून्य मान लिया गया है और अश्रमिक सैनिक का भोग के गार सामान उपलब्ध किए जाते हैं। दासों की शिक्षा पाकर वह हमारी रक्षा पान करता है। सहार का काम ही जो उसके जीवन का सब कुछ बन बठा है। इसीलिए आज के समाज में सम्मान श्रमिक का नहीं सैनिक का है।

इतिहास मनुष्यता को उच्चा उठायेगा तो वह सम्यता जिसने सैनिक को महत्व दिया है बबर मानो जायगी संस्कृति व सम्यता वही है जो ऐसे मानव को महत्व दे कि जो अह को अपनी इकाई को महत्व न दे अपने को छोकर-

मिठाकर सबके हित में श्रम का अग्रण दें। यही मेरी श्रद्धा है और आपकी श्रद्धा भी यदि इस पर हो तो मैं आपकी कृपा को स्वीकार करता हूँ।

मैं अकिंचनता व अभाव में पना-पुसा आदमी हूँ। कभी उस गरीबी को दुर्भाग्य भी मान लेता था। परन्तु आज पासपास की स्थितियाँ देखकर अब वह भाव नहीं रह गया है। मैंने देखा अनको सम्पन्न जन्म वैभव में पल-बल परन्तु सम्भवतः उनके विकास में उन्नत मानव बनने में यह सुविधाएँ बाधाएँ ही अधिक बनीं।

मैंने कुछ अधिक पढ़ना लिखना नहीं पाया। भगवान् ने यह कृपा की कि मुझ वतमान से इतना जड़ित नहीं रखा। सम्पत्तियों का जीवन वर्तमान से अत्यन्त जड़ित हो जाता है। यह साधन-सम्पन्न वतमान इतने निरस्त हो जाते हैं कि भविष्य की उन्हें कोई अनुभूति ही नहीं रहती। वतमान की रक्षा में ही वे आग्रह रहते हैं। उनके जीवन की परिभाषा सामयिक व कृत्रिम बन जाती है। वे अपने जीवन को कत्रिमता में ऐसा सम्भ्रान्त बना लेते हैं कि वह असली नहीं रह जाता।

आज का लोकतंत्र जनतंत्र का क्या माप है? जो समाजगत नहीं हैं वे साधारण जन का ऊपर बठे हैं। साधारण जन पर विशेष जन' आगीन है। यह जनतंत्र नही विधायो का तंत्र है। यह तंत्र चलन वाला नहीं। सारा बल पासवत यदि साधारण में है तो उसकी प्रतिष्ठा भी होनी चाहिए। उसकी भावनाओं का सम्मान भी होना चाहिए। यदि जन बच की श्रद्धा का ठीक से परिपालन और उपयोग किया जाय तो अवश्य ही वह साधक और उपयोगी सिद्ध होगा।

अधज चल गये और वाम में ही गांधीजी भी चले गये। तबसे हमारी आजादी बहुत अधिक परेशानियाँ पर आई है। इनका हल निकालना साहित्यकार का कर्तव्य है। आजादी आई तो परन्तु वह एक संगठित दल का पास आई। पर जनतंत्र में यह आजादी तो हर आत्मी के पास पहुँचनी चाहिए। और हम पहुँचाने का काम बड़ी शक्ति कर सकती हैं जो पर में नहीं सेवा और महानुभूति में विश्वास करती हो। नहीं तो हमारी यह आजादी ही बचन बन जायगी। और सब समझना भी बठिन हो जायगा।

हारे जन-समूह को शक्ति-सम्पन्न बनाना ही जनतंत्र है। यह दान अब सबका मुक्त होगा सभी सम्पन्न जनतंत्र हागा। अभी न तो अर्थमी श्रम और सेवा का गिरना नहीं खस रहा प्रतिष्ठा व प्रभाव का बच पर कार्य असाया जा रहा है।

प्राज जिसे हम गिनती में लाना नहीं चाहते जिसको विचार में लेना सामर्थ्याती माना जाता है। जो कुछ-नहीं-जैसा बचारा है। ऐसे व्यक्ति-मरित्य पर मानव के ही पास शक्ति की ज्योति है। और साम्यवाद के दशन के पक्ष में इतना ता कहा ही जा सकता है कि उसन मानव-श्रद्धा को पन से जन की धार मोड़ दिया। भव्य ही उसने व्यक्ति को नहीं समूह को महत्व दिया। व्यक्ति के उन्नत होने से समूह भी सबल व उन्नत होगा इसे वह ध्यान में नहीं लाया। धामद कारण कि उसन उन्नति को सदा आक्रिक और भौतिक रूप में देखा। वहाँ भव्य मर्यादा है कि एक की उन्नति दूसरे का भवनति पर हो। पर उन्नति जो नतिक हो वह एक के साथ सब की होती है। साम्य विचार को सोचना होगा कि जनता के नाम पर निरकुण अधिनायक तंत्र का व्यवहार निस्तार का माग नहीं है।

परन्तु फिर भी उन विचार में इतनी गुजायग तो है ही कि मानव की इकार्फ नहीं तो मानव के समूह में श्रद्धा रखी जाय। अब उस परिष्कृत इतना ही करना है कि यदि श्रद्धा जनसमूह में जनता में रखी जा सकती है तो वह जन में भी रखी जाय। और ऐसा होने पर जनता के नाम पर शासन नहा किया जायगा जनता की सेवा का प्रसार हागा। शासन जन-जन का ध्यान करेगा। व्यक्ति साम्य और शासन का मापदण्ड होगा। इसी स्वप्न को साकार हाना है। वही प्राथमिक और मावकानिक है। अन्तिम निव की प्राप्ति का रूप यही हो सकता है।

इसे भूलकर मानव-सत्य त्याग कर इसमें ध्युत होकर राय स्थापित सता में चिपक रहता है। बाद या राष्ट्र का मोह उस धाबद कर सता है। परन्तु हमारी प्राणा तो प्रकृत मानव से ही पूरी होगी। प्राज नहीं ता कुछ काल के बाद प्रकृत मानव भव्य उठगा। लगी हुई कुबिमनायें बाधन उस दवाकर न रख सकेंगे। उन्हें पर्यन्त व ध्वस्त करने वह भव्य उठगा। धपन वास्तविक रूप और भाव में प्रतिष्ठित हागा और सब राज्य की नहीं। मानव सहानुभूति की नीति में शक्ति होगी। इसे भाग्य या भवितव्यता कह सकते हैं परन्तु मेरी भास्या है कि वह मानवता का दशन मानवता को भव्य प्राप्त होगा और वह भारत से हागा। कारण भय बहा से उसके प्राप्त होने की सम्भावना धना तो शिवाई नहीं देता।

साहित्यकार तो मैं हूँ नहीं परन्तु मानव के नान में इसी निव का सान व निष्प्रयत्नशील हूँ। उस निव एसा मानव जिसके पाम दिल है जो बुद्धि चानुरी के शरा श्रम से बच जाना नहीं चाहता श्रम का हा भोग जानना और मानना

है वह सत्ता के स्थान पर सम्मान के पद पर प्रतिष्ठित हो और साहित्यकार जाने और अनजाने इसी दिशा में काम करता है।

जो इसके विपरीत करता है वह प्रसिद्धि तो प्राप्त कर सकता है। विज्ञान पत्र द्वारा निक्कमी दवायें भी खूब प्रसिद्धि प्राप्त कर लेती हैं परन्तु वे रोग को मिटा नहीं पाता। उसी प्रकार विपरीत काय करने वाला व्यक्ति प्रसिद्धि व प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकता है पर भागे बाल की मधि में उसकी व्ययता मिट्ट होकर रहेगी। यह साहित्यकार का काय तो नहीं है विपयता का पोषण करना। ऐसी स्थिति भी घाती है कि किसी-न किसी का पक्ष लेना अनिवाय मा

जान पडता है। उस स्थिति में जब हम इस उत्तीणता के सिद्धांत को काय में साते हैं तो व्यावहारिकता के समपक नह सकते हैं कि यह बच निकलने का ढंग है हर्ना तरीका है। परन्तु मैं तो तीसरे भाव का ही समपक हू। यह वाद या वह राष्ट्र कोई भी हो यदि मानवता की प्रतिष्ठा नहीं है तो हम उसकी स्थापना के लिए सक्रिय होना चाहिए। इसी प्रवृत्त मानव के बल पर ही वा राष्ट्र सपप सामर्थ्य प्राप्त करत हैं। भावयनता है उम प्रवृत्त मानव की भात्मनेतना को जागृत कर देने भर की।

उसी के बस पर सब स्थापित हैं परन्तु उसी का स्थान कही नहीं है। भीषण कोलाहल में उसका स्वर मुखर नहीं हो पाता है। कारण उसका स्वर भीमा है परन्तु वही मीठा है। गमहिठ में हम उसे धनुषबोगी भी कह सकते हैं, सामयिक काय का भी हम वह न जचे। परन्तु वास्तविक वही स्वर है यह अपने स्थान पर स्थापित होकर ही रहेगा।

प्राज के भारत के पास राजनीति के सिवा अपनी कोई चीज ही नहीं। केन्द्र में कानून को राजनीतिक एकता है। परन्तु उसके बाद प्रत्या और भाषाओं का विभाजन है और यह विभाजन और भी कठोरा होता दीस रहा है।

भारत राजनीति में कभी प्राज के समान नतने बडे रूप में एक नहीं था। सम्राट अंगोर के जमाने में भी नहीं। यह गौरव मानने का भी बाव है। दण में हजारों ही राजा थे राजाभा रिवाजना में देग बना था। परन्तु भीतर उस काल भी भारत एक था। हजारों वर्षों से भारतीय एकता की परम्परा अविच्छिन्न बनी आ रही है और वह एकता भी आरिभिक एकता। मूया प्रादणों की सम्पता व शक्तिक की एकता और प्राज विधान की कानून की एकता है। परन्तु उमम भावात्मक एकता का नितान्त अभाव है। सांस्कृतिक एकता का अभाव होने पर राजनीतिक एकता केपन अल्पन मात्र होती है। परम्पर का अभाव का ममत्व का निषाव उमम नहीं हागा और दण उगाणन साहित्य

ही दे सकता है।

हम विराट कांग्रेस अधिवेशन कर सकते हैं। लाखों सदस्यों का समूह जमा हो सकता है। परन्तु राजनीतिक होकर प्रत्येक मानस जहाँ दूसरे के काट की बात सोचता है। ऐसा सगठन जिसमें सबकी भावनाएँ स्पर्धात्मक रूप में कार्य करें तो वह व्यर्थ हो जाता है। और इस कमी को साहित्यकार नहीं तो और कौन पूरा करेगा? अब यदि मैं इस रूप में साहित्यकार होता तो आपकी शृषा का पात्र भी हो पाता।

भाज का हिन्दी का साहित्यकार क्या घरे में भाव्य होना चाहता है? क्या वह विंगलता को त्याग रहा है? यदि साहित्यकार का सच्चा कर्तव्य पूरा करना है तो हम प्रथम हिन्दी पर कम बल देना होगा यही कर्तव्य हर भाषा का साहित्यकार अपनी जगह कर रहा है। साहित्यकार प्रमचद ने मानव अनुभूति भावनाओं और बदनामों को साकार बनाया है। तो वह हिन्दी में लिखने के ही कारण केवल हिन्दी के ही नहीं है। वे सबके हैं सभी भाषा के साहित्यकारों के हैं। हम हिन्दी पर अधिक बल देकर उन्हें घिराएँ म बाध कर नहीं रख सकते।

और दूसरे भाषा भाषी साहित्यकारों को क्या हम सम्मान नहीं देते? क्या टानलगाय और बास्टायवस्की वसी भाषा में लिखने के ही कारण केवल रूस में ही हैं मेरे नहीं? हम तो इस राष्ट्रवदी को स्वीकार नहीं करते और इसी प्रकार क्या दूसरे भाषाभाषी भाषा के साहित्यकारों के विषय में नहीं विचारते? साहित्य सब का है उस घरे में बाधा नहीं जा सकता। यही नहीं ऐसा करना साहित्य को हानि पहुँचाना होगा।

उदाहरण स्वरूप बंगाल में बबीन्द्र रवीन्द्र को अत्यधिक बगला या बनावर बहुत बड़ा प्रहित किया है और आप भी यदि ऐसा ही करेंगे तो आप भी बहुत बड़ा प्रहित ही करेंगे।

भाषा के कारण भाज सघष बढ गया है। अब प्राणिकता से बढकर यह सघष कई प्राणों का समूह हावग एक-दूसरे का विरोध करने पर पहुँच रहा है। यह अत्यन्त प्रहितकर व घातक प्रवृत्ति है और यह केवल इसीलिए हो रहा है। हम बाह्यी अभिव्यक्ति के माधन को ही स्वतंत्र महत्व देने लग हैं। भाषा अभिव्यक्ति का एक माधन मात्र ही तो है? और उम नाते किसी स कम पवित्र नहीं है।

भाषा का निर्माण व्यवहार में होता है। मैं हिन्दी भाषा बानता हूँ या निश्चिता हूँ तो व्याकरण का विचार करने नहीं। पण्डिता को ऐम व्यवहार में व्याकरण के दोष दिखाई दे सकते हैं। पण्डित तो अब भी विद्या सम्पन्नता से

भाषा पर बठ हुए हैं। प्रेम की अभिव्यक्ति स्वाभाविक गति से साहित्य में होती है। पण्डितों को उस भाषा में व्याकरण पर जोर पड़ता हुआ मालूम होता है। धसन में प्रवाह-मं खोर तो पड़ता ही है। गति में जोर पड़गा ही। अतः भाषा पर जमकर बैठना हुआ पण्डित ही अचल हो जाता है। साहित्यकार है वह जो भाषा के द्वार पर भित्तारी है। प्रभु नहीं पुजारी है और भाषा से प्राप्त वरदान से रचनाकार बनता है। मरी दृष्टि में भाषा को बड़ी मन्वी साधकता का नवय दता है।

भाषा की सम्पन्नता का जोरों में नहीं हृदय का स्फुरण देने वाली अनुभूतियाँ उमंगों व प्रणयों का व्यक्त करने का गति से होती है। इसीलिए भाषा का मानवता में या साहित्य से अलग रूप देना ठीक नहीं है। भाषा के पण्डित व साहित्य-मण्डल से अलग हात हैं। साहित्यकार को जब जनता स्वीकार करती है तब पण्डित भी उस मायता में दत्त है। इसलिए आज की निमित्त में स्पष्ट रूप में यह कह देना अत्यावश्यक हो गया है कि हम भाषा को मानवता के मान्य प्रदान व साधन के रूप में स्वीकार करें, अपने अज्ञान मोह व अधिकार लिप्ता की पूर्ति का साधन न बनाए। भाषा को किसी से अलग या बंध रखने का ध्येय न करें।

भाषा विषय में विवाद न तुल्य पकड़कर अणजी भाषा को १५ वर्षों की छुट्टि दिला दे है। हम भूल गए कि भाषा साहित्य का माध्य है। भाषा रचना का साधन बनती है। यदि अपनी भाषा को अपूरणताओं का अनुभव करके हमने उसका साहित्य को समृद्ध बनाया होता तो हम ध्येय करने की आवश्यकता ही न होती। हमारे भाषा का प्रगाढ़ ही अपने प्रभाव को मान्य करा सता।

हिन्दी कानून से राज्य भाषा है। आज भी हिन्दी भाषा और अन्य भाषा-भाषी एक जन है जो इन राष्ट्रभाषा नहीं स्वीकार करते। मैं तो इस राष्ट्रभाषा ही मानता हूँ। राष्ट्र भाषा कानून के अन्तर्गत नहीं अपने व प्रभाव के अन्तर्गत अपनी सजीवता व विस्तार के आधार पर।

इस हिन्दी साहित्य सम्मेलन में योगिता बाई का मगदा उठ गया हुआ है। उपर राष्ट्र भाषा प्रचार परिषद् सरकारी मान्यता प्राप्त करके गार देना में अपनी परीक्षायें धनान की सम्भायनायें दे रही है। यह परिस्थिति बन्नामय है।

भाषा को साहित्य से अलग करके उग स्वतंत्र रूप देने की नीति की गई है। हम तो भाषा को सरल मपर और हृदय को रचना करती हुई बनाना होगा अपने स्वयं और निरन्तर पर अधिक महत्त्व में देखें कि उसका अणु प्रस्तुत करते हम राष्ट्र को अधिक शक्ति बनाने में महायत्न होंगे।

भाषा को किसी सिद्धान्त विशेष से न जकड़कर उसे व्यवहार से, जीवन के प्रवाह से और हृदय से जोड़ा जाये। अभिव्यक्ति की अनुभूतिमा किसी समय साहित्यकार को सीमा न बघा नहीं रहने देगी। अतः शब्दों का प्रवाह मुक्त होना चाहिए। किसी सिद्धान्त अथवा सूत्र विशेष से बचकर उसे नहीं रहना चाहिए।

भाषाएगर्दी जीवन का स्वभाव बन गया है। माता को चिन्ता होती थी कि यह लडका कसे जियेगा ? आजीविका कसे जुटायेगा और है भी सच। अब भी कुछ इसी तरह से चल रहा है। परन्तु जब धन कमाने का राऊर ही नहीं तो उस और सोचा ही क्यों जाय ?

देग मे सन् २१ से ४२ तक यह फक्कडपन की हवा प्रबल बेग से चली। सोचा जाता था कि औरों के भासू पीछने के लिए अपने को होम देना चाहिए। कोरे धन की कमाई ध्यर्य है। बह कमाई सबके बस की भी नहीं पर खु अपने को मिटाकर औरों के भासू पीछने की साम्य तो है। बघन मुक्त होना है। धाधा विघ्नों से हसकर खेलना है। मस्ती से निधनता म सुख प्राप्त करना है। परन्तु स्वतःप्रता भाते ही हवा बदली।

युग की आवश्यकताए तो आज उस फक्कडपन को और अधिक व्यापक रूप में चाहती हैं। नये निर्माण के लिए उसकी तीव्र आवश्यकता है और इस बदली हुई हवा को बलने का साम्य साहित्यकार में ही है। साहित्यकार ही को इसे बदलना होगा।

साहित्यकार का वैयक्तिक स्वातंत्र्य और सामाजिक दायित्व

साहित्यकार, स्पष्ट है, कोई भ्रमण या क्षास भ्रातृभी नहीं है। जो उसके बारे में सही है, वही हर एक के बारे में सही होना चाहिए।

साहित्यकार होने के नाते हम उसकी ओर से बात बन वह ठीक पर वह मानव के पक्ष की बात है।

स्वातंत्र्य मेरे निकट एक मूल्य है। किन्तु उपयोग से भ्रमण उसका विचार अवास्तव हो सकता है। यानी स्वतंत्रता मानव का अधिकार है, इस कहने में मैं मुझे विशेष आशय नहीं प्राप्त होता।

उपयोग से हम स्वतंत्रता का निर्माण करते हैं। दुरुपयोग उसे सीमित करता है और बाधन बनता है। समीचीन उपयोग उसे फलाता और व्यक्ति को व्याप्ति देकर उत्तरोत्तर उसे मुक्त करता है।

दायित्व व्यक्ति का अंगल में व्यक्तिगत और आत्मिक है। यानी वह जीवन में अभिन्न है। यहाँ तक कि वह दायित्व के रूप में अनुभव में नहीं आता स्वभाव से लगता है। सच्चे दायित्व का रूप यही है। वह आनन्दमय है। वह स्वतंत्रता से अभिन्न है। वह गृहनात्मक है। उसका नियम अपने में है। समाज में उसका परिणाम है प्रतिफल है। आनन्द का उत्स भीतर है इसीसे अनिवाय है कि उसका प्रवाह बाहर की हो।

दायित्व को सामाजिक कहना परिणाम की ओर से उग देना है। उसकी अभिवृत्ति अतना स्वयं समाज के हित में दृष्ट नहीं है।

प्रेम दायित्व नहीं है। किन्तु यही है जो एक को अनेक में जोड़ता है। सम्बन्ध सब यही में उगत हैं। उग प्रेम की अनियमितता को सब जीवन मृत्त होता है। वह सबत है कि जीव का जीवन प्रेम है। इन तरह सामाजिकता व्यक्ति पर आच्छादन नहीं है उगका सहज विभाग और प्रकाश है।

दायित्व कुछ छोड़ी-नी चीज है। वह वह बनस्य है जिसमें रग नहीं भी है। एका दायित्व भीतर कुछ दमित भी छोड़ आ सकता है। उसका अनिवाय

माया को किसी सिद्धान्त विशेष से न जकड़कर उसे व्यवहार से जीवन के प्रवाह से और हृदय से जोड़ा जाये। अभिव्यक्ति की अनुभूतियाँ किसी समय साहित्यकार को सीमा में बंधा नहीं रहने देगी। अतः शब्दा वा प्रवाह मुक्त होना चाहिए। किसी सिद्धान्त अथवा सूत्र विशेष से बंधकर उसे नहीं रहना चाहिए।

भायारागर्दी जीवन का स्वभाव बन गया है। माता को चिन्ता होती थी कि यह सबका कसे जियेगा ? आजीविका कैसे जुटायेगा और है भी सच। अब तो उस और सोचा ही क्यों जाय ? परन्तु जब धन कमाने का धाऊँ ही नहीं

देता म सन् २१ से ४२ तक यह पक्कड़पन की हवा प्रबल वेग से चलती। सोचा जाता था कि औरों के आंसू पोंछने के लिए अपने को होम देना चाहिए। कोरे धन की कमाई व्यर्थ है। वह कमाई सबके बस की भी नहीं परन्तु अपने को मिटाकर औरों के आंसू पोंछने की सामर्थ्य तो है। बचन मुक्त होना है। भाषा विघ्नों से हटकर खेलना है। मस्ती से निधनता में सुख प्राप्त करना है। परन्तु स्वतन्त्रता आते ही हवा बदली।

युग की आवश्यकताएँ तो मात्र उस पक्कड़पन को और अधिक व्यापक रूप में चाहती हैं। नये निर्माण के लिए उसकी तीव्र आवश्यकता है और इस बदली हुई हवा को बदलने का सामर्थ्य साहित्यकार में ही है। साहित्यकार ही को इसे बदलना होगा।

साहित्यकार का वैयक्तिक स्वातंत्र्य और सामाजिक दायित्व

साहित्यकार, स्पष्ट है, कोई भ्रम या सास भ्रमों में नहीं है। जो उसके बारे में सही है, वही हर एक के बारे में सही होना चाहिए।

साहित्यकार हानि के नाम हम उसका धोर से बात करें यह टीका पर वह मानव के पक्ष की बात है।

स्वातंत्र्य मेरे निष्पक्ष एवं मूल्य है। किन्तु उपयोग से धर्म उभरा विचार प्रवास्तव हो सकता है। यानी स्वतंत्रता मानव का अधिकार है, इस कहने में यह मुझे विशेष ध्यान नहीं प्राप्त होता।

उपयोग से हम स्वतंत्रता का निर्माण करते हैं। दुर्भाग्य उस सीमित करता है और धर्म कासता है। समीचीन उपयोग उसे फलदायी और व्यक्ति को ध्यापित देकर उत्तरोत्तर उस मुक्त करता है।

दायित्व व्यक्ति का धर्म में व्यक्तित्व और धार्मिक है। यानी यह जीवन में अभिन्न है। यही तब कि यह दायित्व के रूप में अनुभव में नहीं आता स्वभाव-मा सगता है। सच्चं दायित्व का रूप यही है। यह धर्मन्याय है। यह स्वतंत्रता से अभिन्न है। यह गृहनात्मक है। उसका नियम धर्मने म है। समाज में उसका परिणाम है प्रतिफल है। धर्म का उत्स भीतर है। इतिम अनिवाय है कि उसका प्रवाह बाहर की हो।

दायित्व की सामाजिक कहना परिणाम की और यह उभर दगता है। उसकी अतिरिक्त चेतना स्वयं समाज का हित में दृष्ट नहीं है।

प्रेम दायित्व नहीं है। किन्तु यही है जो एक का धर्म से जोड़ता है। सम्बन्ध सब यही में उभर है। उभर प्रेम की अनिवार्यता को सब जीवन स्पष्ट होता है। वह गता है कि जीव का जीवन प्रेम है। इस तरह सामाजिकता व्यक्ति पर धारणात्मक नहीं है। उभर गहन विभाग और प्रवाह है।

दायित्व कुछ छोटी-सी भीज है। वह वह बनस्य है जिसमें रम नहीं भी है। उभर दायित्व भीतर कुछ दमित भी उभर जा सकता है। उससे व्यक्तिव

विमक्त बनता है। इन्द्र उससे निवृत्ता तो नहीं उलटे कुंठा बनकर गहरे जाता है। स्पष्ट ही इससे समाज में विपमता उपजती है जो समाज के स्वास्थ्य को पनपने नहीं देती।

इस तरह समाज की पृथक और पृथक्त्वमूलक चिन्ता एक असामाजिक काम है। उस पद्धति से ऐसा नेता और उद्धारक पदा होता है जो समाज पर कब्जा चाहता है स्वयं उसमें किसी तरह हल नहीं हो पाता। यह एक ऐसा आदर्शवादी पुरुष है जो मूल में केवल दृष्टिक है। अर्थात् ओढ़ी हुई समाज चिन्ता एक गहरा रोग है और रक्त में रमी स्व रति का चिह्न है। व्यक्ति इस पद्धति से समाज में मुक्त नहीं हो पाता बल्कि उलटे वहाँ गाँठ के मानिन्द होकर अटन बनता है।

समाज में प्रति यानी अन्य व्यक्तियों के प्रति सहानुभूति का भाव एक आंतरिक विवक्षा अधिक होनी चाहिए राजकीय अथवा सामाजिक दायित्व कम। प्रेम धर्म है और उससे बड़ा कोई दायित्व और कर्तव्य नहीं हो सकता।

समाज का वही से आरम्भ है जहाँ व्यक्ति की सीमा है। सीमा पर दोनों का एक दूसरे के प्रति भाव है। सीमा सरत नहीं रहनी चाहिए और जहाँ वह लगभग नहीं है वही स्थिति मुक्तिबोध की है। बाहर से चेतना पर पढ़ने वाला दबाव अठ्ठात्मक और हिंसात्मक कहा जा सकता है। भीतर से बाहर की ओर जान वाला उसका उत्तर विमय और अहिंसात्मक होकर ही विकास-साधक हो सकता है।

इन दो पक्ष और चेतन शक्तियों के ज्वलन संघर्ष में से गहरी सपना होता है। शरीर जो स्वेच्छा से भरता और अपने ऊपर दूसरे को पूरी यानी आग्ने शक्ति की स्वतन्त्रता देता है।

अर्थात् स्वतन्त्रता का सही उपयोग सत्ता उभरने देने में है। हमारी स्वतन्त्रता अयचितक मानवीय और सामाजिक-स्वतन्त्रता इसमें है कि हम दूसरे पर आरोप न लागू अथवा न कहें। दूसरे दायों में यह कि जहाँ तक हमारा सम्बन्ध है हम हर किसी को स्वतन्त्र मानें कि वह हम गाली दे सके।

शहीत जीवन की गति को उसने नियम को प्रभावित करता है।

मेधा असमय हो जाए अगर समाज का व्यक्ति को समाप्त करने का अधिकार अनधिकृत ठहरा लिया जाय।

वह अधिकार अत्यन्त प्रवृत्त है। दोर का अपने निवारण पर अधिकार तक तक रहेगा जब तक यह दोर है। इसलिए हिंसा के अधिकार का प्रश्न नहीं है। वह प्रवृत्ति में ही अभिन्न है और सत्ता रहेगा। अमन में हिंसा अधिकार ही अधिकार है और अधिकार की बाई चेतना संघर्षा हिंसा से गून्प नहीं है।

किन्तु यह तो प्रकृति हुई। इस भूमिका से तो सस्कृति का मात्र धारण है। प्रश्न यहाँ से घुल जाता है और सस्कृति की ओर से दखने पर स्वतन्त्रता यह अधिकार हो जाता है जो हम सब को देते हैं। यानी हमारे लिए वह अधिकार से अधिक है अर्थात् शतव्य है।

व्यक्ति का अधिकार शाहादत है। सब म यन ही धम है। इगम से जीवन का परम निमम गत्याग्रह प्राप्त होता है।

गत्याग्रह व्यक्ति की ओर से विनम्र ही हो सकता है। यानी दूसरी ओर से वह गत्याग्रह और गत्याग्रह के अधिकार को इस रूप में स्वीकार करता है कि स्वयं उसे नहीं अपनाता।

गत्याग्रह के स्वीकार में व्यक्ति को समाज से प्रथमता मिल जाती है। यह प्रथमता समाज की गति और विकास के लिए परम मूल्यवान् वस्तु है। अस्मात् जिन तो यह है ही नहीं। बल्कि ऐसा प्रतीति होता है कि समाज-मगल के धम में यह ओर भी अमोघ मूल्य है।

समाज के ज्ञाता वे ही समझे गये हैं और समझ जायेंगे जो अपने प्रम को इनकार नहीं कर सके हैं, यहाँ तक कि समाज ने चाह करने हायो उन्हें उसके लिए मृत्यु ही दी हो। यह मृत्यु जीवन का प्रतीक अनन्तर इतिहास को प्रभाव देती रही है।

इस प्रथमता का स्पष्ट आधार यह है कि समाज अत में एक परिमाण है। अतः करण उगम यदि है तो वह अमूर्त व्यक्ति के ही रूप में हुआ करता है।

सांसाजिक दायित्व यह संज्ञा स्वयं व्यक्ति ही उत्पन्न कर सकता है। समाज की ओर से पढ़ने वान दबाव को दायित्व के रूप में मन का गमवता अत में व्यक्ति पर ही टिकती है। अन्तर उसके प्रेम है सभी वह उस अत्याचार में कहकर दायित्व कहता है। अर्थात् समाज की ओर से उसका रूप बेवत दबाव का है। व्यक्ति अपना आंतरिक सामता में उद्य दबाव को उठाता ही नहीं, बल्कि स्वच्छाखुवन उसे अपनाता तक है। इगम स्वयं व्यक्ति के स्वातन्त्र्य की स्वीकृति है।

समाज धारणात्मक मता है। धारणात्मक उमका रूप राष्ट्रीय है क्योंकि मानव ज्ञान की व्यवस्था राष्ट्र राज्य की परिभाषा में पड़ती है। स्पष्ट यह ऐसी सीमित धारणा है कि व्यक्ति अपना सामग्य अनुभूति और मवन्ता को लेकर उगम में नहीं हो सकता। उनको बाध्य किया तक उसे अमित के साथ में मानी है। अन्तर यह दगता है चाँ तोर दगता है और आकाश केमता है जो अगाप है और मदा पूरा है। उसका विज्ञान अज्ञान को उमक

निकट सतत खोलता और अनन्त बनाता जाता है। इस सब से कट कर प्रमुख समाज में बंध कर बह रहना चाहे भी तो यह उसके बंध का काम नहीं है। अधिक से प्रति उसका सम्बंध सब से प्राथमिक रहने ही वांछा है। प्रसन्न स्वीकृति का सबंध भास्तिकता है छद्म स्पर्धा का होने पर वही नास्तिकता है। पर दोनों सामाजिकता की दृष्टि से एक-से उत्तीर्ण हैं और दोनों ही अनन्य रूप में प्राथमिक हैं।

घड़ीय इस प्राथमिक के सम्मान में गौण और सापेक्ष को किनारा दे रखा है तो यह सापेक्ष की अप्रतिष्ठा नहीं है। बल्कि किंचित उसकी सेवा ही है।

साहाय्य को मैं अतिम मूल्य मानता हूँ। इसी से कहता हूँ कि स्वतन्त्रता मरने निकट मूल्य ही है। यानी उसको अपनाकर अपने को उसमें देकर हम उसे परिपूर्ण ही करते जाना है। जिसेसे समाज बलिदान पाये तो कुठित और अमित व्यक्तियों का नहीं धरन् उसे प्रसन्न आत्मदान मिले आहुत व्यक्तियों का और ऐसे उत्सवत्तर भरपूर और निःशासन होता जाय।

हिन्दी और राष्ट्र

इस अवसर पर आपसे कुछ कहने के लिए आपने मुझ इतनी दूर स याद किया इसका मैं आपका मानता हूँ। समय के जादू की बात में छुटपन से मुनता आया हूँ। सब ही इस प्रदश पर प्रवृत्ति ने अपना जादू बिगोरा है। फिर राष्ट्रभाषा के प्रति आपका प्रेम न और प्रयत्न न भी कम जादू नहीं है। हिन्दी आपकी भाषाभाषा नहीं है लेकिन सगन से उस अपनाया है और उमम ऊँची योग्यता प्राप्त की है। इसने लिए मैं आपको बधाई देता और आपका कुछ मानता हूँ। कुछ इसलिए कि मुझे तो वह भाषाभाषा का रूप न मिली और उस सीमने के लिए मुझे कुछ भी मेहनत नहीं करनी पडा। हिन्दी प्रत्येक वाक्यों पर एक तरह इतर प्रान्त-वागियों का यह श्रम ही है कि आप अतिरिक्त श्रम से हिन्दी साखत है। उच्छ्रयता का उनके पास सब यही उपाय है कि वे भी आपकी तरह कोई एक प्रान्तीय भाषा अपनाय ही लीयें।

आपने हिन्दी को राष्ट्रभाषा माना है। कुछ सगन उम राष्ट्रभाषा कह कर इति करते हैं। आपसे के मानने हैं कि राष्ट्र के अतर प्रान्तीय काम-काज के लिए हिन्दी का महारा हम न में तो बग है। आगे सबके पास अपनी विविध भाषाएँ हैं ही। इसलिए उमे राष्ट्रभाषा कहने की उन्हें आवश्यकता नहीं जान पडती। लेकिन राष्ट्रभाषा ता ऊपर से भी आ सकती है। जस प्रपञ्ची भारत का राष्ट्र भाषा रही और है। उसका राष्ट्र काज न सभा पर वह राष्ट्र स्वराज नहा हो सका। भारत न स्वराज सान के लिए गांधीजी ने राष्ट्रभाषा का रूप न हिन्दी-प्रचार को एक बुनियादी रचनात्मक काम बनाया। सधे जी न पहन भी राष्ट्रभाषा का तौर पर जो जुबान धनती रही वह राष्ट्रभाषा नहीं थी। उगने समाज में पाँके बनी रही और राजा प्रजा न दा पण रहे और उनम पागना रहा। पर भारत ने स्वतंत्र होकर सोवतंत्र अपनाया है और उगका भाषा स्वतंत्र पूरा नहीं हा गवता जस तरह राष्ट्रभाषा ही राष्ट्रभाषा न हो।

राष्ट्रभाषा कहन से अपनापन उगन ग्यरूप के बारे न कई बातें साद हा जाती है। मानी भाषा काँ आपन गाँविर राष्ट्रभाषा नहीं हो जानी। हिन्दी

यदि राष्ट्रभाषा है तो इसलिए नहीं कि वह इतर भाषाओं से बढ़ बढ़कर है या उसमें सबसे ऊँचा साहित्य है। भाषा के नहीं राष्ट्र के कारण से वह राष्ट्रभाषा है। यानी इस कारण से कि भ्राम वीर पर वह देश भर में सब जगह समझ ली जाती है और एक बहुत बड़े हिस्से में बोली जाती है। इसमें विवाद स्वयं नट जाता है और उसका दृष्ट स्वल्प भाष ही सुलभ हो जाता है।

भाषा के लिए हम अपने देश की ओर देखने की जरूरत है। कौन एसी विविधता है जो यहाँ नहीं मिलती। विद्याता ने मानो भारत की मन्व्य की प्रयोग भूमि के वीर पर सिखा। इतिहास ने भी यहाँ उसी उद्देश्य की सिद्धि की। बाहर से नाना जातिया आई और नाना प्रभाव धार्ये। हो सकता है कि वे प्रहार बनकर आए हों लेकिन समय बीतने के लोग और प्रभाव यही के हो रहे और यहाँ की संस्कृति में रच गए। कहा तो समझा जाता था कि वे इस देश की परम्परा को उल्लिखन कर रहेंगे वहाँ से उनसे सम्पन्न करन का निमित्त हो रहे। इस तरह भारत भूमि भेदों को भ्रुचती और उन्हें अपनी धन्तरण धास्या की कीमियाँ से अभेद में परिणत करती रही है। उसके हृदय में भक्त क्षमता रही है और नियम धृति की उमे वभी जरूरत नहीं हुई। उसका स्वास्थ्य मानो सब धात्मसात् करके पुष्ट ही होता गया है। इसलिए वह संस्कृति घट्ट रही और बाल उसमें भग नहीं ला सका। वभी राज्य के रूप में सनवार के साथ ऊपर आने और धपना साम्राज्य विस्तार करने की उमे नहीं सूझी। और देशों में संस्कृतिया उठी हैं लेकिन दर्पोद्धत होकर धार्ये विजय को निकली हैं कि फिर उसी कारण मित्रकर धल में सो गई हैं। भारत की संस्कृति वभी राजकीय नहीं हुई वह नसिक ही बनी रही। वह धमन्य प्रजाजन व और उनके रचनात्मक धम के साथ रही। राजमिक औद्धत्य के साथ उसने किनी को चुनौती नहीं दी। वहाँ धावाहन रहा भूमि की ओर से निमत्रण रहा। उन मूल भूमिका पर ऊपर राजात्मा के दद-ध भी चलते रहे लेकिन उस सब उपनव और छाहव के नीचे भारतीय प्रकृति और संस्कृति धधुण्य रही और धपने धम धम से नहीं हिली।

गार्धी जी इमी सनातन भारतीयता के प्रतिनिधि थे। वह भारत व धात्म प्रनीक व। उन्होंने हम राष्ट्रभाषा का मत्र लिया। स्वयं गुजराती थे और उन भाषा के बड़े धानीवार थे लेकिन उन्होंने कहा कि यहाँ की राष्ट्रभाषा हिन्दी है। बुद्धि भंग होने पर धागे उन्होंने कहा कि वह हिन्दी हिन्दुस्तानी है।

उस सब में मार यह था कि मारो की भाषा जो हो और चाहे तो वहाँ जितना भी विचार और धारण हो राष्ट्रभाषा ता उन धनगिनन जनता के लिए

है जो अक्षर से हीन है पर जीवन में भरपूर है। मंच है कि भारत का प्राण उन्हीं देहात वासियों में बसा है। यकिन वहाँ से सेनी है और संघ का भी यही पहचाना है। अथवा राजनीति निष्प्राण रहेगी और उद्यम ममन मुलभंगे नहीं उससे उलझते जायेंगे।

लेकिन सवाल महामा से चलकर हम अक्षराभिमानियों के पास आया तो मानो वह राष्ट्रहित में अधिक भाषा विवाद का हा गया। उद्यम प्राण पहने लगे और जो चीज खुली रहने और फलने के लिए थी वह तद्-तद् के मन्ध्यों से लपने और घुटने लगी। सब में अपनी अपनी चतना जगी और उनमें आपस में जिन पहने लगे। राजनीति का रंग वहाँ भी पहुँचा और मिलान और मस को एक बनाने के लिए जो राष्ट्रभाषा का सवाल था उसी को उबर दन बघने लगे।

स्पष्ट हो कि राष्ट्रभाषा का काम संघ का और रचना का है। वह मस का या तुलना का नहीं है। बिगड़ और स्पर्धा वहाँ के लिए तनिक मगन नहीं। वह समुक्त भाषा के फलाव का काम उतना नहीं है जितना भारतीय जनता के साथ एकमेव होने का है। यदि वह वृत्ति है तो जो सवाल सामने आयेंगे हन होने आयेंगे। अथवा जान पड़ेगा कि आगे बढ़ते उलभन है रास्ता चारों ओर में रखा हुआ है और पराई भाषा के आशय में ही निस्तार है।

राष्ट्रभाषा के विषय में नीचे की तीन बातों पर बुद्धि भट उपजता देखा जाता है

- १ उर्दू के साथ उसका सम्बन्ध।
- २ संस्कृत के साथ उसका सम्बन्ध।
- ३ प्रांतीय भाषाओं के साथ उसका सम्बन्ध।

उर्दू के साथ हिन्दी के सम्बन्ध की बात इधरे बहुत साथ हो जाती है कि हिन्दी की लिपि नागरी है और उर्दू की लिपि फारसी (या उर्दू) है। इतना होने के बाद रंग का बोर्ड प्रान नहीं रह जाना। नागरी में छाने पर मारा उर्दू माहित्य हिन्दी में गए जाना चाहिए। उगरी हिन्दी की धनि नहीं श्रीवृद्धि ही होगी।

[दूगरी ओर में यह भी मानना है कि उर्दू हफों में छान पर हिन्दी माहित्य भी उर्दू का मरना हो सकता है। उर्दू को उगम करना न चाहिए, बनि उगमें छाना पानना पैगना चाहिए।]

उद्यम का समुक्त भाषा के बारे में अमरिताता अमराम्य की ही निगानी बहनायगी। मगभव है कि बाहर के भाषों को उग कि बाहर की हवा को पदे

यदि राष्ट्रभाषा है तो इसलिए नहीं कि वह इतर भाषाओं से बढ़-बढ़कर है या उसमें सबसे ऊंचा साहित्य है। भाषा के नहीं राष्ट्र के कारण से वह राष्ट्रभाषा है। यानी इस कारण से कि धाम तौर पर वह देश भर में सब कहीं समझ ली जाती है और एक बहुत बड़े हिस्से में बोली जाती है। इसमें विवादास्पद स्वयं बट जाता है और उसका इष्ट स्वरूप भाष ही सुलभ हो जाता है।

भाषा के लिए हम अपने देश की धार रखने की जरूरत है। कौन ऐसी विविधता है जो यहाँ नहीं मिलती। विधाता ने मानों भारत को समन्वय की प्रयोग भूमि के तौर पर सिरका। इतिहास ने भी यहाँ उसी उद्देश्य की सिद्धि की। बाहर से नाना जातियाँ आईं और नाना प्रभाव आये। हो सकता है कि वे प्रहार बनकर आए हों लेकिन समय बीतने के लोग और प्रभाव यही के हो रहे और यहाँ की मस्तिष्क में रच गए। कहा तो समझा जाता था कि वे इस देश की परम्परा को उल्लिखित कर रहे हैं कहा कि उससे उसे सम्पन्न करने का निमित्त हो रहे हैं। इस तरह भारत भूमि भेदों को भूलती और उन्हें अपनी भूलगत भाषा की कामिया से अभेद में परिणत करती रही है। उसके हृदय में घनत क्षमता रही है और निरपेक्ष वृत्ति की उसे कभी जरूरत नहीं हुई। उसका स्वास्थ्य मानो सब आत्ममात् करके पुष्ट ही होता गया है। इसलिए वह मस्तिष्क अटूट रही और बाल उसमें भग नहीं ला सका। कभी राज्य के रूप में सत्कार के साथ ऊपर आने और अपना साम्राज्य विस्तार करने की उसे नहीं मूमी। और देशों में मस्तिष्किया उठी है लेकिन दर्पोद्धत होकर आगे विजय को निकली है कि फिर उसी कारण मिटकर धूल में सो गई हैं। भारत की मस्तिष्क कभी राजकीय नहीं हुई वह नतिव ही घनी रही। वह असंख्य प्रजाजन के और उनके रचनात्मक श्रम के माय रही। राजनिक घोटक के माय उसने किसी का चुनौती नहीं दी। वहाँ आवाहन रहा भूमि की ओर में निमंत्रण रहा। उस मूल भूमिवा पर ऊपर राजाभा के दद-पक्ष भी चलते रहे लेकिन उस सब उपर्य और तांडव के नीचे भारतीय प्रकृति और मस्तिष्क प्रगल्भ रही और अपने धर्म धम में नहीं हिली।

गांधी जी इसी सनातन भारतीयता के प्रतिनिधि थे। वह भारत के आत्म प्रतीक थे। उन्होंने हम राष्ट्रभाषा का मंत्र दिया। स्वयं गुजरानी थे और उस भाषा के वड़े शानीकार थे। लेकिन उन्होंने कहा कि यहाँ की राष्ट्रभाषा हिन्दी है। बुद्धि भेद होने पर प्राय उन्होंने कहा कि वह हिन्दी हिन्दुस्तानी है।

उस सब में मार यह था कि भाषा की भाषा जो हो और चाहे तो वहाँ उज्रमना भी विवादास्पद और भाष्य है। राष्ट्रभाषा तो उस अनगिनत जनता के लिए

है जो अक्षर स हीन है पर जीवन में भरपूर है। मच है कि भारत का प्राण उही देहात-वासियों में बसा है। शक्ति वहा से लेनी है और सेवा का भी वही गढ़ुवाना है। अथवा राजनीति निष्प्राण रहगी और उससे भ्रमले सुलभने नही उलट उलभने जायेंगे।

लेकिन सवाल महात्मा से चलकर हम अक्षराभिमानीयो के पास आया तो माना वह राष्ट्रहित से अधिक भाषा विद्या का हो गया। उसमें धाँह पडने लग और जो चीज धुली रहन और फलने के लिए भी वह तगहू-तगहू के मतव्यो से लाने और घुने लगी। सज में अपनी अपनी चतना जगी और उनमें आपस में ज़िद पडने लगी। राजनीति का रंग वहा भी पडुचा और मिलाने और देश को एक बनाने के लिए जो राष्ट्रभाषा का सवाल था उसी को लेकर दब बचन लग।

स्पष्ट हो कि राष्ट्रभाषा का काम सेवा का और रचना का है। वह इन का मा तुलना का नहीं है। बिगड़ और स्पर्द्धा वहा के लिए तनिक संगत नहीं। वह धनुष भाषा के फलाव का काम उतना नहीं है जितना भारतीय जनता के साथ एकमेव हान का है। यदि वह वृत्ति है तो जो सवाल सामने आयेंगे हल होत जायेंगे। अथवा जान पडगा कि भाग बेहद उलभन है गस्ता चारो और में रघा हुआ है और परार्द भाषा के आशय में ही निस्तार है।¹

राष्ट्रभाषा के विषय में नीचे की तीन बातों पर बड़ि भेद उपजता देखा जाता है

- १ उदू के साथ उगका सम्बन्ध।
- २ गहरत के साथ उगका सम्बन्ध।
- ३ प्रान्तीय भाषाओं के साथ उसका सम्बन्ध।

उदू के साथ हिन्दी के सम्बन्ध की बात इससे बहुत गाफ हो जाती है कि हिन्दी की लिपि नागरी है और उदू की लिपि पारसी (या उदू) है। इतना होने के बाद रगड का कोई प्रान नहीं रह जाता। नागरी में छाने पर माय उदू माहित्य हिन्दी में लय आना चाहिए। उमन हिन्दी की शक्ति नहीं श्रीवृद्धि ही होगी।

[दूसरी ओर मैं यह भी मानता हूँ कि उर्दू हफों में छाने पर हिन्दी साहित्य भी उदू का बनना हो सकता है। उदू की उगम इतना न चाहिए, बल्कि उसमें बनना पापना देगना चाहिए।]

उमन बात धनुष गणों के बारे में अगलानता अखारख्य की ही निगानी बहनादगी। धगमध है कि बाहर के गणों को खे कि बाहर की हवा को परे

हो रोक रखा जाय और पास न जाने दिया जाय । कोई हृदयन्दी यह नहीं कर सकती । जीवन का सारा इतिहास बताता है कि यह भूठी कौशिल्य है । प्रकृतियों सब रास्ते में गिरती गई हैं और आदमी एक दूसरे के पास आता गया है । बद जगह नब कहलाती है और कोई मकान नहीं हुआ जिसमें दीवारें ही हों द्वार गवास न हों । हमारा भ्रमलपन बदपन टूटेगा कि हम मुक्त हो व्यापक हों । भाषा इसी व्याप्ति की राह में आदमी को मिली है । स्वयं वह फिर बठ यह एक-दम बनहोनी बात है । समुची मानवता का एक होना अब स्वयं-स्वयं की बात नहीं रह गई वरन् हमारे कार्यक्रम का भग बनती जा रही है ।

संस्कृत से तो हिन्दी का सम्बन्ध घट्ट है । उन्हें बिछुड़ाने बलिये तो पाइयेगा कि हिन्दी फिर बही बचती ही नहीं है । पर गणोत्री से निकलकर गंगा वहां सौट नहीं सकती । बढ़ना उसे सागर की ओर है और राह में उन सब धाराओं को अपने में मते घलना है जो सहज प्रवाह से उसमें घा मिलती हैं ।

यह सिद्धान्त कि उत्तम प्रयोग न आए सद्भव रूप में ही आए, राष्ट्रभाषा के लिए गलत है । या यह कि बनाय जाने वाले सब नये शब्द मूल संस्कृत शब्दों से ही रचे जायें यह भी गलत है । दोनों इसलिए गलत हैं कि दोनों मतवाद हैं और भाषा सम्बन्धी हैं । व उपयोग से भलग भाषा को लना चाहते हैं । जैसे प्राण से शून्य शरीर की चिता आवश्यक हो ।

प्रवाह में जो शामिल होगा और समरस हो सकेगा वही गंगा में गणोदक हो जायेगा । उसे भलग करना न समभव हागा न उपादेय । क्या मक्त सुरदास ने नहीं गाया—

इक नदिपा इक मारि कहावत मसो नीर भरयो ।

मिलि रोज जब एक बरस भई सुरसरि नाम परयो ॥

दृष्टि यदि जन-सागर की धार है और उसमें मिल जाने की कामना है तो उत्तम और उद्भव देशज भयवा संस्कृत-मूलक शब्दों की समस्या तनिक भी सेवक कायकर्त्ता को अपने में घटका नहीं सकेगी । विद्वानों की वह समस्या है और सेवक कायकर्त्ता उस विद्वानों को ही सौंपकर निर्जित भाग बढ़ता जायगा ।

तीसरा प्रश्न प्रान्तीय भाषाभाषा के साथ राष्ट्रभाषा का सम्बन्ध का है । कुछ भाषाएँ सशक्त हैं और वहीं तो हिन्दी प्रचार में साम्राज्यवादी की गय तक भी जाती है । ये प्रश्न व्यवहार के हैं और राष्ट्रभाषा का काम करने वाला को उनसे बेताबनी मिलती रहनी चाहिए । वृत्ति में सेवा से प्रतिरिक्त भाषाभिमान तनिक भी भाषा तो उसकी प्रतिप्रिया सही नहीं होगी । राष्ट्रभाषा हिन्दी की उन्नति उतनी ही होगी उन्मत्त तनिक भी अधिक न हो पायेगी तिनका इतर

प्रान्तीय भाषाओं का उसकी योग मिलेगा। योग स्वेच्छित ही हो सकता है बनाते होने वाला योग नहीं बंध है। इसका मुख्य दायित्व हिन्दी वालों पर पड़ा है। असल में हिन्दी के राष्ट्रभाषा होने से वे सारे राष्ट्र क नरणी बन जाते हैं। इस कारण वे नत और विनम्र ही हो सकते हैं। प्रत्येक भाषा या राज्य स्वयं नियम करे कि हिन्दी को वह किस रूप और सीमा में स्थावर करना या बनाना चाहता है। भयवा कि सारे राष्ट्र की दृष्टि में राष्ट्र की विधान सभा या सरकार वह अनुपालन करे। हिन्दी सेवक उस नियम को अपने हाथ में नहीं ले सकता है वह तो अपनी सेवा ही समर्पित कर सकता है। इस तरह यह प्रश्न व्यवहारिक राजनीति का हो रहता है और वही उसका समाधान है।

किन्तु एक बात स्पष्ट है और वह प्रमोद भी है (भारत का भाग्य एक है) भारत अखण्ड सत्ता है। राजकीय और राष्ट्रीय में अधिक वह नैतिक और धार्मिक सत्ता है। उसका प्रयोग हिन्दी के द्वारा हागा विकास भी हिन्दी के द्वारा होगा। भारत उठता है तो उसके राज्य उठते हैं और भारत उठेगा तो उसके सब भागों के आत्ममान से उठेगा। अंग्रेजी से सब भागए दखी हैं और अंग्रेजी में चलने वाले भारत के राज-कारण और राज-शासन से जल्दी तोर पर भारत की सम्बन्धि दबी है। इसलिए सब भाषाभाषी का भविष्य हिन्दी का भविष्य के साथ है। अगर अंग्रेजी से हिन्दी को हीन और परास्त ही रहना है तो निश्चय है कि उस परामर्श से अन्य प्रान्तीय भाषाएँ मुक्त नहीं हो पाएगी। इस तरह उन भाषाओं में और राष्ट्रभाषा में द्वेष-विग्रह तो नहीं है ही नहीं। प्रश्न केवल विभिन्न राष्ट्रों में उन हितों के अनुमन और सामंजस्य का है जो कुशल और आस्थावान नेतृत्व से निरूपण जा सकता है।

इन अंतरण उत्तमनों के बावजूद बहिरंग रूप की भी बातें हैं और राष्ट्र भाषा के व्यवस्थापकों को उनसे सारे में भी परसता करना है। प्रान्तीय भाषाएँ क्या सब एक नागरी लिपि को ही नहीं अपना ल सकतीं? अंगभष तो यह नहीं जान पड़ता क्योंकि मूल बलमात्ता सब वही समझ एक है। यह हो तो उनका आपस का अंतर एक साथ बहुत कम हो जाता और परिषद का माग परम्पर गुप्त जाता है। उसमें मिला हुआ लिपि सुधार का प्रश्न है। कुछ जिनका हिन्दी में नहीं है और उनके शूबक अगर हिन्दी में जुड़ सकते हैं। भयवा कि कुछ अंतर कम हो सकते और उनका काम मजबूती में चला लिया जा सकता है। एम छाप और टाइप में इतना सुभीता किया जा सकता है कि नागरी के में इतना ही बिग्री भी भाषा को पकड़ गये।

इत्यादि प्रश्न हिन्दी सेवकों के सामने हैं। हर हान हिन्दी को बड़ा दायित्व

उठाना है। वह एक बड़ देश की भाषा है। वह देश अब विस्तार में ही बढ़ा नहीं बल्कि दुनिया का उससे बड़ी बड़ी भाषाएँ हैं। आज तो वह विश्व-नीति का केन्द्र देश है। उसका इतिहास अनोखा रहा है और गांधी के नतत्य में लड़े गये उसका स्वातन्त्र्य-युद्ध का जवाब तो कहीं दूढ़ नहीं मिल सकता। बिना दुश्मनी के वह लड़ाई लड़ी गई और मानव जाति का राजनीतिक इतिहास में शक्ति और प्रेम का युद्ध-नीति का सूत्रपात हुआ। आज जब सबके दिमागों में एक दूसरे की घाँटा है और मनो में भयंकर युद्ध की भाँजना तब यह देश पशु से भ्रसंग है और शक्ति ही उसका ध्रुव है। उस देश को प्रागे विश्व निर्माण में हिन्दी के द्वारा ही अपने को सिद्ध और सफल करना है।

मानव इतिहास अब एक मोड़ पर आया है अणुयुग शुरू हो रहा है। अगर मनुष्य का समाप्त नहीं हो जाना है तो निश्चय है कि यही अहिंसा का भी युग होगा। अणु शक्ति न हिंसा का विकरालता को इतना सामन कर लिया है कि उसी कारण सदा के लिए उसका अश्रद्धा मानव मन में गहरी बँठ जान बानी है। आज शक्ति के हाथ न्याय नहीं रह सकता। शक्ति की जगह नीति लगी और युद्ध द्वारा नियम बनने की विधि पुराना पड़ जायगी। मानव का यह स्वर्णयुग भारत का गांधी से प्रकाश लेगा और उसी राह पूँजवा की धार बढ़ाएगा।

भविष्य अज्ञात है तो इसीलिए कि हमारे हाथों उस बनना है। गांधी के उत्तराधिकारी हम भारतवासियों पर उन भविष्य के निर्माण का काम आया है। भारत को इसमें भाग होना और दुनिया को अपनी राह बनना है। हम दामेंगे कि यदि भारत न अपना भाग पूरा किया तो हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा ही नहीं बल्कि विश्व की एक प्रमुख भाषा भी होगी। क्योंकि अहिंसा और अपरिग्रह का जीवन-शास्त्र विश्व को मूल हिलनी में से प्राप्त होगा।

अधिक काल विश्व की प्रगति की बागडोर पश्चिम की जीवन-व्यवस्था के हाथ रहने वाली नहीं है। उसमें उन्नति दी है पर साथ ही स्पर्धा की भी धार दी है। इसलिए उन्नति का चरम युद्ध में चरिताय होता है विज्ञान की सिद्धि संहार में दीखती है। अणु-शक्ति विज्ञान का अन्त्येष्ट उद्घाटन है लेकिन कम बना सकने की स्पर्धा में वह उपलब्धि हुई है। मानो धुँ जीवन और दूसरे को हराने की ही प्रेरणा है जो उन्नति की साधिका है। उस तरह की प्रेरणा अब धुँने रूप में भ्रान्त और अनिष्ट दीख आई है। उसका सोम अब जलने ही पीका पड़ जान वाला है। मानव मर्दान के हाथ बिका रहेगा बल्कि मर्दान को अधीनता में लेगा। पश्चिम में मर्दान है, लेकिन पूव में मानव है। आज जो विश्वनीति पूव की धार सिद्धक रही है उसका भीतर का सत्य यही है। पूव दिखड़ा हुआ

यदि है तो मशीन की अपेक्षा में अन्यथा मानव नीति और अध्यात्म नीति का प्रबल पूव में हो मिलेगा।

अब मन में सन्देह नहीं है कि भारत जब आत्मसिद्धि की ओर बढ़ेगा तो उसकी अभिव्यक्ति की भाषा अंग्रेजी नहीं होगी हिन्दी होगी। इसलिए हिन्दी के कम-से-कम पूव की अन्तर्राष्ट्रीय भाषा हो रही। आज भी यहाँ जो गार्धी नीति के गहन जीवन प्रयोग चल रहे हैं और उसके परिणाम में जो साध-शास्त्र और समाज-शास्त्र तयार हो रहा है महज रूप से हिन्दी में हो हो रहा है। इस उनका महत्व न जानें तबिन माने वाली पीढ़ियाँ योजकर उस पाएगी और उस भाग्य की प्रतिष्ठा देंगी।

भाषा हिन्दी को ऊपरी अन्तःप्रान्तीय काम-बाज ही नहीं समालना है बल्कि उस उन्नत साहित्य की भाँ सयोजना और रचना करनी है। भारत के पास जो श्रेष्ठ और उत्कृष्ट है गहन है और अगम है जो आत्मवान् और प्राणवान् है उस हिन्दी में प्रकाश में लाना होगा। अंग्रेजी काम-बाजी यह पर हिन्दी को तो भारत के साथ हार्दिक भी होना है। जहाँ-में जहाँ व्यवस्था होनी चाहिए कि सब प्रांतीय भाषाओं की उत्तम पुस्तकें हिन्दी में आ जायें। इस सिद्धांत में भाषा और भाषा जस दूसरे ज्ञानवत् बड़ी सदा बर सफल है। अपनी अपनी भाषाओं का भाषा छान डालें और जो प्रारूप हो उस हिन्दी में कर डालें। ऐसा सम्मिलित प्रयत्न सब भाषाभाषा में चल तो भारत का वास्तविक को महत्ता मालूम हो कि उनसे अपने ही पास साहित्य का क्षितिज अगाध भंडार पढ़ा हुआ है। भाषा तो यह देश अंग्रेजी पुस्तकों के बड़ सरीसृपों में है। यह उन्नी घारा बही जा सकता है। सब यह कि पश्चिम के विज्ञान हमारे अज्ञान यहाँ हमारी साहित्य निधि में म चुन चुनकर सामग्री अपने यहाँ ल जान और जान का संवर्धन करत हैं। लेकिन फिर भी समय है कि घारा सब मीथी बन, भारत अपनी ही निधि की सुधि ल पाय और दूरों का दना धारम्भ करे। उद्योगीकरण में भाग लेता है यह ठीक हो लेकिन मनुकृतीकरण में अवश्य उग दन को भी है और वह दन का तम अविनम्ब शुरू हो जाना चाहिए। जा एक में अक्षिप्त भाषाएँ जानत हैं या मानकर विज्ञानी भाषाएँ जानत हैं उनका लिए यह बड़ा काम करने को पडा है।

बड़ी सम्पदा और पाठना के पुरखों का इपर ध्यान नहीं है। बड़ी पूत्री भी इस ओर उन्नी है। उस सिद्धांत की सम्भावना शास्त्र उन पर अपनी गुनी नहीं है। लेकिन मैं बतना चाहता हूँ कि यह बात उबर शेष है और निश्चित करत हूँ कि वह अपनी पक्षि और सापनों का इपर उपयोग दें। वह उपजाऊ मयीषान

ही न होगा, मुझे निश्चय है पर्याप्त पुरस्कृत भी होगा। यह भी मुझे विद्वत्ता है कि इसमें हमारी राज्य सरकारें और केन्द्रीय सरकार सहयोग और सहायता से पीछे न रहेंगी।

मैंने बहिनो और भाइयो, आपका काफी समय ले लिया है। अधिक मुझे नहीं कहना है। राष्ट्रभाषा का काम करते हुए आप भारत की राष्ट्रियता की विविधता को न भूलें। राष्ट्रवाद दुनिया के साथ एक रोग भी बन गया है। यह भाग्यमय हो जाता है। वह स्वायत्तवादी और शासनात्मक होता है। इसमें यह तोड़ता भी है और टूटता भी है। वह रगड़ उपजाता और परस्पर भय सग्य पैदा करता है। भारत की राष्ट्रियता ने कभी बस राष्ट्रवाद को जन्म नहीं दिया। वह राष्ट्रियता हमेशा सबके लिए आश्वासन और अभय का कारण बनी। हमारा राष्ट्रियता की प्रकृति सांस्कृतिक रही कभी उसे सशस्त्र सीमा की आवश्यकता नहीं हुई। कभी वह लकीरबन्द नहा हो गई। क्योंकि वह मूल में बहुमन्य की जगह अहिंसक थी और जय-विजया की जगह उसमें सदा भावना थी। मुझे विद्वत्ता है कि अगर भारतीय राष्ट्रियता की अतः प्रकृति आपन पहचानी तो आप राष्ट्रभाषा की सेवा और उसके प्रचार के द्वारा उस मानव जाति के अग्र दूत होंगे जिसकी ससुर को माग और प्रतीक्षा है। वह जाति सत्तात्मक और राजनीतिक न होगी बल्कि सत्ता की राजनीति से ही वह मानव जाति को मुक्ति देने वाली होगी।

अपनी मातृ भाषा न होते भी आपने हिन्दी सीसी है जानता हूँ राष्ट्र पर किसी उपकार के नाते नहीं बल्कि अपने हक के नाते आपने यह किया है। राष्ट्र आपका है राष्ट्रभाषा हिन्दी भी उतनी आपकी है जितनी किसी की है। आपका यह असम प्रदेश भारत का सीमान्त देश है और उसका बड़ा महत्व है। अपने सीमान्त पर ही राष्ट्र की और राष्ट्रियता की बसौटी होती है। मैं आपको बधाई देता हूँ कि आप हिन्दी में योग्यता की यह सतद पा रहे हैं। मैं आपको उतना ही आप दायित्व भी ल रहे हैं। मुझे भरपूर है कि आप उसकी राष्ट्रियता को सच्चा पोषण और विस्तार देने वाले होंगे और आपने कामों से देश का गौरव बढ़ेगा।

अप्रैल ५५

भारत राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, गुवाहाटी व दूसरे समावतन पर दीक्षान्त
आपका ।

साहित्य में नैतिकता

उस रोज़ यहाँ मराठा के साहित्य-सम्मेलन में जिसका नाम चर्चा सुन मिली। एक भाई ने तीन या चार प्राधुनिक उपन्यास लखने के नाम गिनाकर कहा— इनको तो मराठी उपन्यास-परम्परा में मैं क्षुब्धयन् गिनता हूँ। ये मटके हुए हैं इनमें आदर्श की प्रतिष्ठा नहीं है, काम की प्रतिष्ठा है। उन्होंने सत-साहित्य को बारहवें और पुष्ट साहित्य बताया। उनमें वाँ एक यधु धाये जिहोन कहा— सत-साहित्य अनतिक और निर्वीर्य साहित्य है। पुरुष में पौरुष बढ़ नहीं जाता बल्कि षडता जाता है। जहाँ शीघ्र है वहीं शृंगार हो सकता है। भोग से भयाने वाला योग एक पलायन है। ऐसा साहित्य दमन का समर्थन करता है जिससे वासना का दमन नहीं होता बल्कि विस्फोट की समावना बढ़ती है।

ऊपर शब्द भरे हैं। इसलिए 'गामद उठने सीमा नहीं हा पाये हैं जिनसे उन महाप्राप्ती ब्यक्तार्थ के ये। उनमें समा नहीं थी समर्प नहीं थी सामग्र्य की तन्त्रिष वेष्ण नहीं थी। धायह या और गुला प्रहार या और स्पष्ट या कि एक पदा इमारे की सहता यानि रहने देना नहीं चाहता।

आज यह नहीं है कि सम्मेलन में उस कारण वातावरण तन्त्रिष विभुष्य या बलिष स्थिति में पूरी प्रहणशीलता थी। शीघ्र विभुष्य न था केवल दोनों पक्षां में अपने-अपने प्रतिपादन और समर्थन के लक्ष्य में पूरी ईमानदारी और युष्ता थी।

इस तरह नैतिकता में की मानिष् इमारे-न-उपर फेंकी जा रही थी और सम्मेलन में आता था कि उगरी स्थिति कहीं है और वह किम और है? मयम और दमन में है या निष्पत्ता और मुक्तता में है?

मेरा हाम अब तक समा ही दयनीय है। यद्यपि नैतिकता में मुक्त क्रिय है और नैतिकता का मैं कायम हूँ पर बाहर दुनिया में नीति की रेशा कहीं और बने शीघ्र जाये कि नैतिक एक लक्ष्य हो जान और अनतिक दूमरी लक्ष्य रह जाये यह मेरी सम्मेलन में नहीं आता। और वायु नैतिकता का प्रयाण का आद्यपरी है कि कहीं रेशा है और नहीं तो। इसलिए मैं नारद्वारक बाध

पूद में उस शक्ति के प्रयोग से बचा रहना चाहता हूँ। मुझे लगता है कि अपनी अनीति मुझे स्वयं पता भंगे बिना रह नहीं सकती। ऐसे उसका भान सब के अन्दर है। अनीति मुझे कष्ट देती है, सुनीति मुझे उत्तीर्ण करेगी। और इन दोनों के बारे में यदि कुछ देर के लिए मेरे मन में भ्रम पदा भी होगा या अनुभव से वह दुविधा मिट जायेगी और नीति-अनीति का भेद मुझ में जगकर स्पष्ट हो जायेगा।

पर उस नीति से काम किस का चलने वाला है जो सबके अपने-अपने पास हो जाती है। वादी का और प्रतिवादी का काय तो ऐसे कभी नहीं चल सकता। और लगता है कि समाज का और राज का काम चलाने के लिए पोषी बन्द-नीति के कुछ नियम चाहिये जिससे सज्जन को दुष्ट से अलग किया जा सके। दुष्ट का दलन और सज्जन का मनन हो सक। एक को दंड दिया जा सके और दूसर को सम्मान। साह और धोर एक हो जायेंगे तो कैसे काम चलेगा ? इसी तरह राव और रव भी एक नहीं हो सकते। जज और मुजरिम की अलग-अलग अणी होनी चाहिये। दखने हैं धीजो में दो नल होत हैं। दायाँ और बायाँ होता है तभी वस्तु संपूर्ण होती है। अच्छे को भरने के लिए बुरा चाहिये नहीं तो अच्छे का महत्व नष्ट हुआ-सा मालूम होता है।

यह जो जोड़ियाँ हैं अच्छा और बुरा नीचा और ऊँचा इत्यादि इनका भेद बना रहता है तभी तक स्थिति बनी रहती है। स्थिति पालन की दृष्टि से यह पायी बंद नतिवता बड़ी काम की चीज है। उससे अनुशासन बना रहता है और स्थिति भंग नहीं हाती।

किन्तु स्थिति ता टिकती नहीं गति भी आवश्यक होती है। गति स्थिति को स्वीकार भर करती है उसका शक्ति जमाने की जगह उस वह कुछ उलाड़ती ही कही जा सकती है। स्थिति मजबूत होकर जम रह तो उन्नति कस हो ? स्थिति से स्थिति-यन्त्र होने रहना चाहिये। जड़ चेतन में यही भेद है। जड़ में केवल स्थिति है चेतन गतिमाल है।

इस गति की आवश्यकता की और स वस्तुओं को और जीवन को देख-कर एक दशन प्रस्तुत हुआ जिसने बताया कि नतिवता अपने आप में कोई स्वतंत्र मूल्य नहीं है। वह नतिवता बदलती रहती है और दग काल पर निर्भर करती है। अमल में नतिवता की दुहाई देने वाला लोग व ही हैं जो सुविधा प्राप्त है। वे अपने भोग और धाराम का बचाव रखने के लिए सब नीति शक्ति से अपनी रक्षा में आगे और धरा डालत हैं। अंग्रेजी में एक शब्द है Conscr-
vative नतिवता की दुहाई ऐसे ही लोग देते हैं।

ऊपर की बात एकदम सिद्धा नहीं है, इसके प्रमाण इतिहास में हर नहीं मिल सकते हैं। हर नेता को शहीद होना पड़ा है हर सत्त को दुष्ट कहा गया है। घम जितने धने प्रतिराध और विरोध के बीच से उन्हें माग बनाना पड़ा है। कोई झन्झड़ सहज भाव से बड़ नहीं सकी उससे पहले बुरा समझा गया है और उस पर तरह-तरह के उपसर्ग और परीपह डाले गये हैं।

इस दान के अनुसार बिद्रोह घम ही जाता है। मर्यादा के पालने में ज्यादा उम साधने में महत्व धड़ जाता है। नैतिक को म्यति के साथ जोड़कर यह दृष्टि जस गति और उन्नति के साथ अननिक को जोड़ देता है। एम प्रवाद चल पड़ता है कि प्रतिभागाती यही ही सक्ता है जो तनिक अननिक भवस्य हो। जो मसा है वह महान नहीं है जो मर्यादागीम दिग्ता है उमम भवस्य शक्ति की कभी है। कहा भलापल दुबलता के समानाप हा जाता है।

इस जगह नतिवता के मवष में उलमन पला हो जाती है। यह उममन सहज साधने से बाहर अलग नहीं की जा सकती। जहा वह उममन एकात्म कटी दीगती है यहाँ अमम मममरिक्ता नहीं हाभी यकिन घायह होता है। जय हम एबागी होने हैं यानि या तो घनीत स धिपट रहने हैं या निरे भावी में उठ रहने हैं तभी ठेठा होता है। अन्यथा यह उममन अतिमम अतिवाय है और घायह विवर स ही उसम मनुवन रखकर चला जा सकता है।

उम विवक के द्वारा नाति और मनाति को इतनी गूढमम में जाकर दखना होता है कि पापी में पाप में सिगई द। पाप स्वतंत्र सिधने तय जय और इस तरह पापी को स्वय निष्पाप दया जा मक। यह विवक साधना महज नहीं है (पापी में पाप को ममम करना बन नहीं पाता। परिणाम यह कि पाप स धधने के लिए पापी में बचा जाता है और पाप नाग के लिए पापी को नष्ट करना भीसा उपाय समझ लिया जाता है। इस तरह माथ ही घनीति स्वय घनीति का घोर मबाना घुम्करती है। यानि जितनी घनीति के बनात निम्नन की घण्टा है घनीति का उतना ही प्रमार होडा जाता है।

इसमें स्पष्ट हो जाना चाहिये कि नीति मम प्रम ही है। नीति के प्रतिरिक्त नीति एक सिध्याचार और दम्भाचार हो सकती है। प्रेम कृत्य में नहीं होता है भाव में हाता है। पहचान हमारी कृत्य में घनीति है इमीलिए वह पहचान भाषण के धपूरी और घोडा रह जाती है। प्रेम-नीति कय नतिक समझ लिया जाता है और प्रम स्वय ऐसे कम-रुकी के हापों घनीति ममम जाकर दक और भास पाता है।

एगाचार इस सिधरी बढ़ी है उम या तो घायर के रूप में देगा है या

सत् की ओर उसे देख सकते हैं। इन दो दृष्टियों में भगवा चलता ही रहता है। एक हृद सदाचार होता है जिसे प्रकृत और हादिक सदाचार उन्सयन करता हुआ देखा जा सकता है। सत् पूर्वक आचार ही सदाचार हो सकता है। किन्तु जिसकी सत् स लगन है उसका आचार हृदाचार से मल खाता हुआ जो नहीं दीखता इससे उसको नाना मातनार्ये सहनी पड़ती हैं।

तो यह क्या चीज है जो स्वय लिखे-बर्षे नीति नियमों को लाध जाने का साहम रखती है? यह क्या स्वय भ भनतिक है? नहीं। मरत मानना उल्टे यह है कि गुड नैतिक यही है। सत्य से बड़ी नीति कोई नहीं है सत्य जो प्रेम द्वारा पाला जाता है।

प्रमहीन या प्रमविरद सत्य ग्रहकार है। ग्रहकार ही असामाजिक होना है। प्रेम के आग्रह से रखा गया या फलाया गया सत्य कितना भी असामाजिक दोषे मूलन सामाजिकता की बुनियाद को वह मजबूत करता और लोगों के मनो को मिलाता है।

समाजोपयोगिता से सत्य बधा नहीं होता। इमतिण सत्त्वा सतपुरण समा जानुगामी उतना नहीं जितना कि समाज नता होता है। सामाजिक सदाचार स्वय उससे मर्यादा प्राप्त् करता है वह अपनी मर्यादाए डालकर उसे घेरने में असमथ रहता है। कृष्ण का आदेश इसी सत्य का प्रतीक है और कृष्ण-चरित्र उसका सचरित्र निष्पण है।

कृष्ण मर्यादा-पुरुषोत्तम राम के निषेध नहीं थे। राम के चरित्र में समाज-मर्यादा को चरम प्रतिष्ठा है। यह तनिक भी अयुधत नहीं किन्तु समाज धर्म की प्रतिष्ठा सत्य-धर्म की अप्रतिष्ठा में से निष्पन नहीं हो सकती। अतः कृष्ण राम का पूरण हैं। बिना कृष्ण के राम उमी तरह से असमथ हैं जैसे बिना उत्तर के दक्षिणी ध्रुव असमथ हो जाता है। दोनों ध्रुवों को समाप्तने वाली बुँ ही भारतीय ससृति है या मानव-ससृति की रीठ हो सकता है।

गीता में आरम्भ कर्तव्य से है। कर्तव्य-धर्म में निबिग बाध्यता है। किन्तु सिद्धि वहां नहीं है जहां धर्म में बलात् कर्तव्य का भाव ही। वहां धर्मा सहज धर्मभाव होत जाना चाहिए।

इस दृष्टि से देखें तो नैतिक उसना सयत कर्म नहीं है जितना मुक्त धर्म है। निग्रह में हम नतिक को दायने के प्राणी हैं जैसे मुन में धर्नतिक ही रह सकता हो। ऐस पूर्णता मिला सकती है इसम संह है। कु' को पाकर केवल 'मु' रह जाने की कोशिश धमी कारणर हुई है इसवे प्रमाण नहीं मिलते। प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। निस्व्यगुण्यो भवानुन कहपर भगवान ने धर्न को एक

बेबल सात्विक गुणवासी होने के लिए नहीं कहा। क्योंकि तीन में से दो को नष्ट करके बेबल तीसरे की रचना संभव नहीं है। तीन बेबल गणित में तीन है, यथाय धानि और अन्त में तो निगुणता ही है। गुणत्व भयवा भवगुणत्व उनमें गिनती के साथ आता है। गिनती का उपयोग बुद्धि के लिए है, विवेचन के लिए है। जीवन तो निगुण एवम मायता है।

निगुणता गुणहानता नहीं है वह गुणों का सामञ्जस्य है। 'हु' का 'गु' से फसे सामञ्जस्य होता है यह कहा नहीं जा सकता। विवेचन की भूमिका गणित की और भेद की भूमिका है। निगुण जीवन अभिन्न है। जीवन की साधना भ्रम-बुद्धि से उतनी नहीं होती वह अस्तव साधना है। उसमें अभेद भाव अभिन्न भूमि साध्य।

'गु' में 'हु' के प्रति क्या अभेद बुद्धि हो सकती है ?

मैं मानता हूँ कि हाँ 'गु' में ही यह अभेद बुद्धि हो सकती है।

और हु है ही वह निश्चय यह अभेद-बुद्धि कभी नहीं हो सकती।

अर्थात् हु वह है जो बुनियात में भेद-बुद्धि पर आधारित है।

यह अज्ञान और सत का ही काम है कि अपने को बुरा ठुलित तल बार्मा' देखे और दोष या दह किसी को न देना चाहे।

जो हर दूसरे की भुक्ति दयता और बुराई बनाता है वह अपने में बुराई दगने के डर से घबरा कर ही एमा करता है। यह मूल में डरपोष है। यह डर ही उस बुरा बनन को एस मजबूर करता है कि उस अपने से बाहर सब नहीं बुराई दीण।

मुझे जान पड़ता है कि जीवन शोधन की समय और वैज्ञानिक दृष्टि धम, धम काम और माग का सतुमस और चार विभागों में विभक्त नहीं दगगी बल्कि इन चतुष्टय में एक मूलता दग सगगी। जीवन का स्वयं साधन का स्वयं वह दृष्टि नटा पोसगी क्योंकि जीवन मूलतः अमड है। कारण उनका सोन ईस्वर है या नितान्त अदत है।

सत्य-मूल्य की प्रतिष्ठा

एक रात मालूम हुआ कि मुझे बोलना है। सभी से प्रयास रहा है कि मैं उस बारे में कुछ भी सोचूंगा नहीं। सुविचारित ही कहना मैं नहीं चाहता था। विचारित में कुछ पीछे भी रोक लिया जाता है। तय करके ही कुछ दिया जाता है। उससे अधिक मैंने चाहा कि मुझे सहज होना चाहिए। जो मुझमें है मीठ के साथ धगर बढ़वा हो ता वह भी आपसे सामने खोलकर रख देना चाहिए।

विचार मेरे पास न था पावें यह मेरी कोशिश तो रही पर यह सम्भव नहीं हुआ। कारण बाबा (विनायक) ने जो कहा कि नतिक के ऊपर सत्य-मूल्य की प्रतिष्ठा का दायित्व साहित्य का है तो इस बात से मैं छुटकारा नहीं पा सका। वह मेरे मन की बात है। बड़ महत्व की भी है। नतिक से कमशन का काम बनाया जाता है। वहाँ आवश्यक होता है कि चीजों को हम बाँटकर दखें अच्छे में और बुरे में। भजन-वजन का अन्तर बड़ रखें। कुछ का पुरस्कार दें कुछ दूसरो को बण्ड भी देना आवश्यक समझें। इस तरह बधावध की सकीरों बीच में डालकर हम व्यवस्था को चलाया करते हैं। पर उन सकीरों पर ज्यादा निभर करने मग जायें तो विग्रहवादी और सधपवाद का एक सस्वज्ञान ही खडा हो जाता है। उसमें सं हिंसा का समथन था मिसता है। एसा मालूम होता है कि धमुक्त रखा क पार हमको कुछ ममभने या सहानुभूति रखने की आवश्यकता नहीं है। अगर हम मान सकते हैं कि सौ फीसली सही बही है जो हमारी मुट्टी और बुद्धि में है तो दूसरे क लिए भवज्ञा और उपेक्षा बिलकुल सहज हो जाती है। उससे आगे बढ़कर अगर कम का नगा भी हम पर सवार हो जाये तो उसने विनाश भी भी हम अपने में उचित ठहरा लेते हैं। वानों और मता में जो बसह और द्वन्द्व देखन में आया वह इधी मनोवर्ति के कारण था।

मालूम होता है कि इन पक्षगत में ऊपर विगा एक समन्वयमूलक मूल्य की आवश्यकता है। साहित्य का उगी का सर्वोपरि ध्यान रखना होगा। सत्य सर्व व्याप्त है। वह अखण्ड है निगमदा है। उमने प्रति साहित्य जाग्रत नहीं रहेगा, तो अन्त में दुनिया को एक बना का काम फिर दूसरे किस उपाय से हो सकेगा।

काम में जो ऐकान्तिकता है साहित्य उसका परिणोष करेगा }। जान घोलें यों
तो दो रंग हैं और एक-दूसरे से उलटते हैं। लेकिन उही दोनों के समीचीन उप-
योग से चित्र खिल उठता है। वही पता भी नहीं चलता कि रंग दो हैं। सारे
चित्र से एक भाव प्राप्त होता है जो अनुभूति में सत्य बन जाता है।

साहित्यकार सज्ज तो होता नहीं। रूचि-भरचि की अपनी उमके पास रहती
है। फिर भी उसका काम होना चाहिए कि सबका सहानुभूति दे। यहाँ ऊँच है,
नीच है सम्पन्न है दरिद्र है साधु और दुष्ट हैं, उनमें विषय तो प्रतिशय ही
है। लेकिन धरती सबको धारण करती है। गूरज का घप भी आदमी आदमी
में फन्क नहीं करती। गड़े मीठे, कड़वें सभी फला को धरती समान निचन
देती है। साहित्य की भी कुछ उगी तरह रहना होगा। यह अभंग-बुद्धि विवेक
को छोड़कर प्राप्त हो सकती है सो नहीं। आज तो सायब इग प्रकार का बुद्धि
साक्ष्य भी देखने में आता है एक विशेष प्रकार के नखन में प्रश्न और सायब
इतना तीव्र होकर छा गया है कि जैसे विषय सब व्यथ और झड़ूत हो। जी
नहीं भविष्य में सब अभंग नहीं प्राप्त होगा। समस्त का विवेक का ही धरम
और परम रूप कहना चाहिए।

उस अभंग की भूमि पर विवेक चगानिब बनता है। साहित्य का काम पक्ष
सेना नहीं है क्योंकि साहित्य का काम 'करना' नहीं है। काम तो बर्ता के अनु-
गत होगा। साहित्य की बर्ता की खेतना में घुल रहता है। उसकी दृष्टि इसलिए
सदस्य और सबधानी हो सती है। उस दृष्टि के बाव आवाग घनावयव ही
आपगा और महानुभूति गुल सकेगी। साहित्य में व मर्यादाएँ नहीं निकना त्रिनक
आर-आर महानुभूति में जा सके। सभी दोवारें बनाकर काम आज हम चलान है,
उन पर चौथी पहरा भी बिठाउ है कि कुछ उपर पर घनपिडित इधर न आ जाय।
उन सबीरों के हिमाक में हम घनवेरन—घाना दग भूमि गभ्यता घानि—
को धरते हैं और रंग सामा के बाव विरह के सम्बन्ध का उचित टहगान हैं।
साहित्य रंग घौचिय की दग प्रकार नहीं बघने नहा न मरता है।

लेकिन यह घाना की जान सगगी। निचय ही घाना-मूल्य की प्रतिष्ठा
साहित्य की पहली प्ररणा है } लेकिन फिर घाना में घाना का प्रोचन पूरा नहीं
हगा। उम घाना-मूल्य का व्या-चाल घम में है ही। लेकिन घमों के घाना-घात
रूप घम ही गबर है। दूसरे तरफ-घम जो हर घम में बन गठ हाय है जीबन
रम में घाना मतापही घोर घौचिय बन जाय है। व कुछ उम घपर में ही रहने
है। तो घमों के धन में ता बगिना रहनी नहीं। घ्यति बहा भावादिरेक में
बगिनाइमों की घाना में न साप जाता है। बगिनाइमों में दूर नहा हाती हा

नहीं होती। थोड़ी दूर के लिए भूलभर जाती हैं। धम का वह समाधान कर्म में टिकता नहीं है। धमभाव में सम्पूर्णता की ओर परम एकता की ओर में हम जा पहुँचते हैं। पर धम के क्षेत्र में जब विभेद विरोध ही दीखता है तो ऐसा लगता है कि आत्म-जगत् और वस्तु-जगत् दो हैं और उलट हैं। परमात्मा के लिए धामद ससार की ओर पीठ देना होगा और ससार में समय बनना ही तो आत्मा-परमात्मा के छटाराग से बच रहना होगा।

यह द्वैत बहुत प्रकट है। अब आस्था ही एकता की हो सकती है। कर्म की ओर गति को तो अनर्थक में ही साधना होता है। एक्य की आस्था को लेकर अनेकता के साथ कसं बतन करना यह प्रश्न आता है। धर्मी इधर से पीठ मोड़ता है यह कहकर कि जगत् माया है। कर्मी उधर से मुह मोड़ता है और कहता है कि वह मिथ्या है। धम और कर्म के बीच यह खाई बड़ी है। उनके पाठों का बाधा ने ठीक कहा साहित्य सेतु है।

फिर भी सेतु इस तट को एक बिन्दु पर उस तट के दूसरे बिन्दु से मिलाने देता है तटों के दोषों को दूर नहीं करता। क्या मैं कहूँ कि साहित्य वह गंगा का प्रवाह है जो दोनों तटों को हर बिन्दु पर परस्पर मिलाने और छटा छुभा बढ़ता है। वहाँ 'उप रह नहीं जाता कर्ता और कृत दोनों उपकृत होते हैं। ज्ञाता ज्ञेय एक बनते हैं। वस्तु-निरपेक्ष में आत्मा को देखा जा सकता है न वस्तु को आत्मा निरपेक्ष। दोनों को परस्पर सामञ्जस्य में देख और दिखाकर वहाँ समग्रता की भाँजी ली जाती है।

प्रतीत होता है कि अगर परम एक्य की प्राप्ति कभी होगी—व्यक्ति के अन्तर में अथवा बाहर समाज एवं विश्व की व्यवस्था में, तो साधन के रूप में साहित्य ही सगठ होगा। क्योंकि वही है जो जीवन को दो धारामों में नहीं फटने देता है; बल्कि दक्षिण-धाम दोनों का समान भाव से अपने आसिगन में लेता है।

साहित्य का माध्यम है शब्द और शब्द-शक्ति का विचार करना होगा। आज जिस गति का हम अनुभव करते हैं वह सभ्यता की है सत्ता की है, शास्त्रात्मक की है। शब्द चपरासी बनता है। उसकी आत्म-अंतना जागती नहीं। उसमें स्वयं मूल्य नहीं पड़ता। मूल्य उसमें है जिसका शब्द है। साहित्य का शब्द उद्यम भिन्न है। ऊपर की सीमा प्रसार की परिधियों से हम अनुभव करते हैं समस्याएँ कभी नहीं हैं जन्मि होती जा रही हैं। अगर कहीं तो मुझे लगता है वह उन गति के शरा के सँके जिनका स्वयं शब्द है। शब्द जिसे अपने से बाहर और किना परिप्लान की आवश्यकता नहीं है। वह सभ्यता सत्ता या शक्त का प्रतिनिधि नहीं है न हीना चाहता है। उसका धम स्वयं में

है। उसका बस सत्य है और हित है।

यहां एकाएक मुझको सूझता है कि साहित्य वह है जिसमें हित सत् के साथ है। 'हित' के साथ जो 'स' लगा है उसे सत् का प्रतीक हम मान लें। सत् और हित इन दोनों को साथ रखना बड़ी कला है। साहित्य की और गायद जीवन की, वही है। क्योंकि सत्य पर आप्रह हुआ कि उसमें विशेषकर (सामने वाला) हित उपेक्षित रह जाता है। मत वाद और सिद्धांत भाषि के हठ में ऐसा ही हो जाया करता है। दूसरी ओर हित पर ही बल रखें तो जैसे ऋजुता और आद्रता इतनी आ सकती है कि सखे हाने को रीढ़ ही न रह जाय। जीवन के लिए एक मात्रा में बठोरता भी आवश्यक होती है। सत् के बिना वह कठोरता कि नहीं सकती। सत्य से च्युत होकर प्रेम भावुकभर रह जाता है सामर्थ्य उसमें से नष्ट हो जाती है। निरपे प्रेम को भ्रमनाकर जो रह गया वह साहित्य व्यसनतात्मक हो गया—रोमांटिसिज्म की तरफ बहल गया। वह भावश्यकता से अधिक गीला होता है। राष्ट्रा और जातियों को उत्तिष्ठ और उन्नत नहीं कर पाता। उसमें स रस की चुस्की तो मिनती है। पापण की शक्ति पर्याप्त नहीं मिल पाती। भत उत्कृष्ट साहित्य वही नहीं है जिसमें हित राग है बकि भावश्यक मह भी है कि उसमें सन भाव हो। गहरे जायें तो सत् भाव में ही हित भाव समा जाता है। सस्कृत का सद्भाव शब्द ही हितभाव से दूसरा नहीं। वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करन पर जान पड़ेगा कि सत् में ही सच्चा हित है। भावुकता और ममतावाग जो हम अपना और दूसरो का हित मान लिया करते हैं वह अधिकाग स्वाथ से जुडा रहता है। साहित्य उससे ऊचा उठ्या। ऐसा हित जो दूसरे के अहित पर निर्भर हो साहित्य को अमान्य हो जायगा। समस्याए अधिकतर हितों के परस्पर विराध से होती है। स्थापित हित स्वाथ बन जाते हैं और उनमें विग्रह ठन रहता है। साहित्य को ऐसे किसी बन्द हित में नहीं पड जाना है। हित के पहले जो स लगा है उसकी मानों वही खेलावना है। वह हित जो सबका है अविरोधी और शुद्ध हित है साहित्य में उसीकी प्रतिष्ठा है। और यह हित सत् से भिन्न होकर रह नहीं सकता। दूसरे शब्दों में साहित्य में सत् की प्रतिष्ठा है।

सत् है बीज, वह है मूल। मानों वहां से प्ररणा आनी चाहिए। वह सोन है जहां से भाषाविर्भाव होगा। फिर उसकी अभिव्यवित की सम्मुखता में हिनभाव आता है। शला आदि का सम्बन्ध वही से है। जिसके आधार पर कोई पेशक अपने में मग्न रह जाय यह साहित्य नहीं है। वही मग्नता दूसरे को दे सबको दे तब वह साहित्य होता है। यहां हम देखें कि साहित्य अपने रक्षयिता से मुक्त हो

नहीं होती, थोड़ी देर के लिए भूलभर जाती है। धम का वह समाधान कर्म में टिक्ता नहीं है। धमभाव में सम्पूर्णता की ओर परम एकता की गोद में हम जा पहुँचते हैं। पर कर्म के क्षेत्र में जब विभक्त विराध ही दीखता है तो ऐसा लगता है कि आत्म-जगत् और वस्तु-जगत् दो हैं और उनमें हैं। परमात्मा के लिए शायद ससार की ओर पीठ देना होगा और ससार में समर्थ बनना ही तो आत्मा-परमात्मा के अन्तरांग से बंध रहना होगा।

यह ईश बहुत प्रकट है। जब आस्था ही एकता की हा सकती है। कर्म को और गति को तो अनन्य म से साधना होता है। ऐक्य की आस्था को तफ़्द अनेकता के साथ कस वतन करना यह प्रश्न आता है। धर्मों इधर से पीठ माड़ता है वह कहकर कि जगत् माया है। कर्मों उधर से मुह मोड़ता है और कहता है कि वह मिथ्या है। धम और कर्म के बीच यह खाई बड़ी है। उनके पाठन को जाना ने ठीक कहा साहित्य सतु है।

फिर भी सेतु इस तट का एक बिन्दु पर उस तट के दूसरे बिन्दु से मिलाने देना है तटों के दीपन को दूर नहीं करता। क्या मैं कहूँ कि साहित्य वह गंगा का प्रवाह है जो दोनों तटों का हर बिन्दु पर परस्पर मिलाता और छूता हुआ बढ़ता है। वहाँ उप' रह नहीं जाता कर्ता और कृत दोनों उपहृत होते हैं। ज्ञाता ज्ञय एक बनते हैं। वस्तु-निरपेक्ष में आत्मा को देखा जा सकता है न धम्नु को आत्मा-निरपेक्ष। दोनों को परस्पर सामजस्य में देख और दिखाकर वहाँ समपता की भाँकी साँ जाती है।

प्रतीत होता है कि अगर परम ऐक्य की प्राप्ति कभी होगी—व्यक्ति के अन्तर में अथवा बाहर समाज एवं विश्व की व्यवस्था में तो साधन के रूप में साहित्य ही सगत् होगा। क्योंकि वही है जो जीवन को दो धाराओं में नहीं फटने देता है; बल्कि दक्षिण-वाम दोनों तटों का समान भाग में अपने आनिगन में लेता है।

साहित्य का माध्यम है शब्द और शब्द-शक्ति का विचार करना होगा। आज जिस शक्ति का हम अनुभव पाते हैं वह सत्ता की है सत्ता की है, शक्ति की है। शब्द 'चपरासी बनता है। उसकी आत्म-चेतना जागती नहीं। उसमें स्वयं मूल्य नहीं पड़ता। मूल्य उसमें है जिसका शब्द है। साहित्य का शब्द उसमें मिला है। ऊपर की तीना प्रकार की शक्तियों से हम अनुभव करते हैं समस्याएँ कभी नहीं हैं जन्म होती जा रही हैं। अगर कर्मेंगी तो मुझे लगता है वह उन शक्ति के द्वारा बन सकेंगी जिसका सवस्व शब्द है। शब्द, जिस अर्थ से बाहर और क्रिया अधिष्ठान की आवश्यकता नहीं है। वह सत्ता, सत्ता या शक्त का प्रतिनिधि नहीं है न जाना चाहता है। उसका धन स्वयं में

है। इसका बस सत्य है और हित है।

यहां एबाएक मुझको सूझता है कि साहित्य वह है जिसमें हित सत् के साथ है। 'हित' के साथ जो 'स' सगा है उसे सत् का प्रतीक हम मानें। सत् और हित इन दोनों को साथ रखना बड़ी कला है। साहित्य की और शायद जीवन की, वही है। क्योंकि सत्य पर आप्रह हुआ कि उसमें विरोधकर (सामने वाले का) हित उपेक्षित रह जाता है। मत, वाद और सिद्धांत भाषि के हठ में ऐसा ही हो जाता करता है। दूसरी ओर हित पर ही बल रखें तो जैसे ऋजुता और भावता इतनी आ सकती है कि खड होन को रीढ़ ही न रह जाय। जीवन के लिए एन मात्रा में कठोरता भी आवश्यक होती है। सत् के बिना वह कठोरता टिक नहीं सकती। सम स च्युत होकर प्रेम भावबभर रह जाता है सामर्थ्य उसमें से नष्ट हो जाती है। निरे प्रेम को अपनाकर जा रह गया वह साहित्य व्यसनान्मन् हा गया—रोमांटिसि म की तरफ बहक गया। वह आवश्यकता से अधिक गीला हाता है। उष्ट्रा और जातियों को उत्तिष्ठ और उन्नत नहीं कर पाता। उसमें से रस की चुस्की तो मिलती है। पौषण की शक्ति पर्याप्त नहीं मिल पाती। मत उत्कृष्ट साहित्य वही नहीं है जिसमें हित राग है यदि आवश्यक यह भी है कि उसमें सत् भाव हा। गहरे जायें तो सत् भाव में ही हित भाव समा जाता है। ससृष्ट का सद्भाव सत् ही हितभाव से दूसरा नहीं। वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करन पर जान पड़ेगा कि सत् में हा सच्चा हित है। भावुकता और ममतावाग जा हम अपना और दूसरों का हित मान लिया करते हैं वह अधिकतर स्वाय स जुटा रहता है। साहित्य उसमें ऊग उठगा। ऐसा हित, जो दूसरे का महित पर निभर हा साहित्य को अमाय हा जायगा। समस्याए अधिकतर हितों में परस्पर विरोध में हाती है। स्थापित हित स्वार्थ बन जात हैं और उनमें विग्रह टन रहता है। साहित्य का एग विगी बन्द हित में नहीं पठ जाना है। हित में पहल जा स' सगा है। उगकी मानों यही वेतापनी है। वह हित जो सबका है अविरोधी और गुद हित है, साहित्य में उसीकी प्रतिष्ठा है। और यह हित सत् से भिन्न होकर रह नहीं सकता। दूसरे शब्दों में साहित्य में सत् की प्रतिष्ठा है।

सत् है बीज वह है मूल। मानों वहां से प्रेरणा आनी चाहिए। सत् सत् है, जहां में भावाविर्भाव होगा। फिर उसकी अभिव्यक्ति की सम्भ्रमण में हितभाव आता है। शैली आदि का सम्बन्ध वही से है। जिसका आशय सत् सत् कथक अपने में मग्न रह जाय वह साहित्य नहीं है। वही मग्नता सत् सत् दे तय वह साहित्य होता है। यहाँ हम देखें कि साहित्य सत् सत् में सत् ही

नहीं होती, थोड़ी देर के लिए भूलभर जाती है। धम का वह समाधान कर्म में टिकता नहीं है। धमभाव में सम्पूर्णता की और परम एकता की गोद में हृम या पद्मपत्र ही पर कम के अत्र में अब विभेद विरोध ही दोलता है तो ऐसा सगता है कि भात्म-जगत् और वस्तु-जगत् दो है और उलट है। परमात्मा के लिए दायद सत्कार की और पीठ देना होगा और सत्कार में समय बनना हा तो आत्मा-परमात्मा के खटराग से बच रहना होगा।

यह द्वैत बहुत प्रकट है। धम आस्था ही एकता की हो सकती है। कम की और गति को तो अनस्य मे से साधना होता है। ऐक्य की आस्था को लेकर अनेकता के साथ कैसे बतन करना यह प्रश्न आता है। धर्मों उधर से पीठ माहता है यह कहकर कि जगत माया है। धर्मों उधर से मुह मोहता है और कहता है कि वह मिथ्या है। धम और कम के बीच यह खाई बड़ी है। उनके पान्ने को बाबा ने ठीक कहा साहित्य सेतु है।

फिर भी सेतु इस तट को एक बिन्दु पर उस तट के दूसरे बिन्दु से मिलाकर देता है तटों के दोपद को दूर नहीं करता। क्या मैं कहूँ कि साहित्य यह गंगा का प्रवाह है जो दोनों तटों को हर बिन्दु पर परस्पर मिलाता और छूटा हुआ बढ़ता है। वहा 'उप' रह नहीं जाता कर्ता और कृत दोनों उपवृत्त हात हैं। ज्ञाता ज्ञय एक बनत है। वस्तु-निरपेक्ष न आत्मा को दला जा सकता है न वस्तु को आत्मा-निरपेक्ष। दोनों को परस्पर सामजस्य में दल और दिसाकर वहाँ समग्रता की भावी सी जाती है।

प्रतीत होता है कि अगर परम एक्य की प्राप्ति कभी होगी—व्यक्ति के अन्तर् म अथवा बाहर समाज एवं विश्व की व्यवस्था में तो साधन के रूप में साहित्य ही सगत होगा। क्योंकि वही है जो जीवन को दो पारामा में नहीं फटने देता है; बल्कि दक्षिण-वाम दोनों तटों को समान भाव से धरने धारिगत में लेता है।

साहित्य का माध्यम है शब्द और शब्द-शक्ति का विचार करना होगा। आज जिस शक्ति का हम अनुभव पाते हैं, वह सत्ता की है सत्ता की है, शस्त्रास्त्र की है। शब्द चपरासी बनता है। उसकी आत्म-धरना जागती नहीं। उसमें स्वयं भूय नहीं पड़ता। भूय उसमें है जिसका शब्द है। साहित्य का शब्द उससे भिन्न है। ऊपर की सीनो प्रकार की शक्तियों से हम अनुभव करते हैं समस्याएँ कनी नहीं हैं जगल होनी जा रही हैं। अगर कनी तो मुझे सगता है वह उस शक्ति के द्वारा कनी सकेगा जिसका सधस्व न है। शब्द जिस अपने से बाहर और किना अधिष्ठान की आवश्यकता नहीं है। वह शब्दा सत्ता या शक्त का प्रतिनिधि नहीं है न होना चाहता है। उसका धम स्वयं में

है। इसका बस सत्य है और हित है।

महा एनाएक मुझको सूझता है कि साहित्य वह है जिसमें हित सत् के साथ है। 'हित' के साथ जो 'स' लगा है उस सत् का प्रतीक हम मान लें। मत और हित इन दोनों को साथ रखना बड़ी कला है। साहित्य की और शायद जीवन की, वहीं है। क्योंकि सत्य पर भावग्रह हुआ कि उसमें विशेषकर (सामने बाल का) हित उपेक्षित रह जाता है। मत बाद और मिथ्यान्त भाति के हठ म एसा ही हो जाया करता है। दूसरी ओर हित पर ही बल रखें तो उस ऋजुता और भाद्रता इतनी भा सकती है कि खड होन को रोढ़ ही न रह जाय। जीवन के लिए एक मात्रा में कठोरता भी आवश्यक होती है। सत् के बिना वह कठोरता टिक नहीं सकती। सत्य से च्युत होकर प्रेम भावबुद्धि रह जाता है सामर्थ्य (11) उसमें स नष्ट हो जाती है। निरे प्रेम को अपनाकर जा रह गया वह गार्हिय व्यसनात्मक हा गया—रोमान्सि म की तरफ बहक गया। वह भावदयवता से अधिक गीला हाता है राष्ट्रों और जातियों को उत्तिष्ठ और उन्नत नही कर पाता। उसम से रस की चुस्की तो मिलती है पापण की शक्ति पर्याप्त नहीं मिल पाती। मत उत्कृष्ट साहित्य वही नहीं है जिसमें हित राग है बल्कि आवश्यक मह भी है कि उसमें सत् भाव हो। गहरे जायें तो सत् भाव में ही हित भाव समा जाता है। सत्त्व का सद्भाव एका ही हितभाव से दूसरा नहीं। वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर जान पड़गा कि सत् म ही सच्चा हित है। भावुकता और ममतावण जा हम अपना और दूसरों का हित मान लिया करते हैं वह अधिकान्त स्वाय स जुड़ा रहता है। साहित्य उससे ऊंचा उठगा। ऐसा हित, जो दूसरे का अहित पर निर्भर हो साहित्य का अभाव हो जायगा। समस्याए अधिकतर हितों के परस्पर विराध म हाती है। स्थापित हित स्वाय बन जाते हैं और उनमें विग्रह ठन रहता है। साहित्य को एस रिनी बन्द हित म नहीं पड जाना है। हित म पहन जो स' लगा है उसका मानों पही चेतावनी है। वह हित जो सधका है अविरोधी और शुद्ध हित है सत्त्व म उसीकी प्रतिष्ठा है। और यह हित सत् स भिन होकर रह नहीं सक्ता। दूसरे प्राणों म साहित्य म सत् की प्रतिष्ठा है।

जाता है। अपने प्रभाव के लिए उसे व्यक्तित्व पर निर्भर नहीं रहना होता। मानों रचनाकार केवल माध्यम है। केवल माध्यम वह उसका कर्ता और स्वामी नहीं है। कर्ता के रूप में जो व्यक्ति समझ है उसकी भाषा सीमित है कुछ एक बरस जी जिलाकर वह घसा जाता है मगर उसके साथ साहित्य उठकर नहीं चल देता। मरते आत्मी के साथ वह नहीं भरता बकि वही है जो भरकर बनता है। वही फिर परवर्ती युगों को पूर्ववर्ती युगों से मिलाता और एक रखता है। नाल को वह भव्य करता है। जो स्वयं खड़-खड़ है क्षण-क्षण मर रहा और दूसरो को भी मार रहा है ऐसा काल साहित्य के शरा भवाल बनता है। यानी मृत्यु ही जिसका अभिगाप है, साहित्य उसका चिरतनता देता है।

एक शक्ति की जो ऊपर घात भाई उसकी यही भक्षर-महिमा है। पर शब्द वह जो मन भीतर के सत और हित से निर्माण पाकर खड़ा हो। वह शब्द योज बन जाना है। वह अपने म से चैतन्य की सृष्टि करता है। वह स्वयंभव और स्वप्रतिष्ठ होता है। न सभ्या का न राज्य का न प्रतिनिधित्व का सहारा उसे चाहिए। वह हर प्रकार की निर्मरता से स्वतंत्र होकर मानो शक्ति का मात्र बनता है।

आज राजनीति के जमाने में जब राज्य ने देवाधिदेव का स्थान पा लिया है इस एक शक्ति को जगान की परम आवश्यकता है। वह शक्ति टूट गई है। मानों जान-बूझकर उस ताड़ा गया है। उस शक्ति के साथ सांगी मानव-जाति का हित जो ससम्पन्न था सो एक फट स्वायत्तों के लिए आवश्यक हुआ कि वे उस शक्ति को तोड़ डालें। भयभीत उनके लिए फल फूलना सम्भव न था। बाणी प्राप्त की थी आत्मी न कि एक-दूसरे के निषट्ट भायेगा और उसके द्वारा परस्पर को प्राप्त करेगा। बाणी को विस्तार देने के लिए फिर उसने भाषा की रचना की। उसके सहारे शब्द समय में और मसार में दूर तक अपना प्रभाव न जान में समय हुआ। लेकिन उती को उलटे काम में लाया जान लगा। अपना अन्तमन खोजने में नहीं बकरन के काम भाया जाने लगी। कूनीति पैदा हुई और वह सर्वोच्च बना ममनी गई। भाषा को लेकर लोग अपने को एक-दूसरे से बचित और भसग रखने लग। आत्मदान से ज्यादा भाषा स्वायमान के काम जाने लगी। बाणी और भाषा पहन मसृष्टि के हाथ थी सो शब्द युग उपस्थित है कि राजकारण का मारत्र बन भाई है। आज बड़े-बड़े राज्य समूह संगठित हैं और राजनीतिक दल धराधड यत्रा के परिप शब्द छापकर और दूसरे तरीका में गुणानुगुणित करके उन्हें गुजा रहे हैं। शिब-मानम उन गणा के तुमुन न छ प प्रसंग हो गया है। गग कोलाहल

में मूल्य जसे खो गये हैं। शब्द की शक्ति बिखर कर रह गई है। सशय बढ गया और भाषण का भरोसा उठ गया है। किसी के वचन का विश्वास नहीं बचा है। और यद्यपि हर बात को दस्तावेज में बांधकर रखने की आज भावना है पर धुन उन दस्तावेजों की कीमत सिफर हुई जा रही है।

शब्द की इस अप्रतिष्ठा उसकी बहुलता अनतता और तज्जनित व्यथता के जमाने में यह और भी जरूरी है कि साहित्यिक हकें और सोचें। उनके पास और दूसरा धायुध नहीं है। उसके मन उन्हें रहना और जीना है। उसी के द्वारा कुछ करना और कराना है। अधिक संभव यही है कि शब्द के इन अपार रोर में उनका घीमा-मीठा शब्द धनमुना रह जाय। प्रचार के युग में अप्रचारित शब्द भावनों के बीच धपुस्तुत रह जाय। लेकिन इस कारण और भी धाव धमक हो जाता है कि शब्द वह भव्य हो जो सभ्या और प्रचार के बल से उभरकर ऊंचे धाने और शोर बनने की कोशिश न करे बल्कि मन की मच्चाई और व्यथा में से आवर इतना भारी सिद्ध हो कि चाह तक उतर जाय। तब बल उस शब्द का शब्द में ही होगा और स्थिर और स्थायी होगा। समय की सतह की सहरो के बठने पर वह अपनी जगह चमकेगा उसकी सच्चाई प्रकाश देगी और उसमें समाया हितभाव अपना स्नेह विकीण करेगा।

आज जिस विधि से हमारी व्यवस्था चल रही है उसमें एक मान्य मूल्य है राष्ट्र। उसके बारे में समान्यता का प्रश्न ही नहीं है। राष्ट्र इकाई है दुनिया की और राष्ट्रीयता उन-उन इकाइयों का धम बन गया है। ऐसा मालूम होता है कि राष्ट्र वह धारणा है जिसकी रमा में धगर हमको कुछ बसा काम करना पड़े जिसको मामूली तौर पर हम गलत समझते हैं तो राष्ट्र प्रेम के कारण वह गलत नहीं रह जाता। मानो राष्ट्र के लिए हो तो गलत भी सही हो जाता है। यहाँ ही साध्य और साधन का प्रश्न पदा होता है। साध्य को एकान्त सिद्ध मानकर धनना खतरनाक हो सकता है। तब हर साधन उस सिद्धि के लिए उचित ठहर जाता है। और इस तरह मूल्यों में बड़ी धब्यवस्था होती है। आज हम क्या देखते हैं? नारा है कि गान्धि के त्रिण युद्ध की तयारी साजिमी है। ऐसी ही मच्छे लक्ष्य के नाम पर उठाय गये बुरे बढम भी तब मच्छे धन जाते हैं। उस ढंग से आत्मी की बुद्धि हर जाती है और वह साधन के बारे में विवेक करने की आवश्यकता से अपने को धरी मान नेता है। लेकिन स्पष्ट है कि साधन में साध्य मूल्य भिन्न नहीं हो सकता। साधन स्वयं साध्य का निर्माण करते हैं। अनुभूयता में अधिक साध्य-साधन में अभिन्नता तक लेखी जा सकती है। बीज जो आज बोने हैं बल फल उससे दूसरा नहीं हो सकता है। यह बात

सामूची तौर पर हमारे मन में साफ रहती है। व्यक्तिगत जीवन में दुविधा नहीं होती अन्तर ध्वनि साफ बतला दिया करती है। लेकिन सामूहिक और सामुदायिक रूप में घसने पर, खासकर राष्ट्र की धारणा को साफ लेकर, सो असावेष पदा होते और उचितानुचित का मान ही बल दिया करते हैं। राजनीतिक भावनों और भावश्यकताओं के अधीन हम मानवोपित मूल्यों से जाने-अनजाने भटक जाते हैं और उस कारण किसी प्रकार का विवाद भी अपने अन्दर पैदा नहीं होने देते हैं। कर्मजिन तो उस भावेष में काम करते ही हैं और उन्हें किसी प्रकार का दोष नहा दिया जा सकता। पर साहित्य को उन भावेषों से मुक्त रहना है। नहा तो फिर कोई साधन नहीं रह जायेगा जो उन भावेषों के क्षोभ के बीच मानव-मूल्य का मूषण्य रखे। नीति-नियम सब एक ही हैं। ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड में है। समष्टि-अष्टि में अन्तर्ग गीति का भेद नहीं हो सकता। व्यक्ति से उठाकर जब हम लोक या राष्ट्र के सन्दर्भ में प्रश्न को ल जाते हैं तो अक्सर अपने को मुतावा दे लेते हैं कि नीति का नियम वहाँ बल गया होगा। इसीलिए जिसे तौर पर जिसको हत्या कहते हैं, राष्ट्रीय मुद्रा में उसीका गौरव मानस हैं। स्पष्ट है कि दुनिया आज शान्ति चाहती है लेकिन यह भी सतना ही जाना-माना यथाय है कि दोना और अणुबम बन रहे और मुद्र की मक्कर सैवारिया हो रही है। कोई पक्ष हिंसा का व्यासा नहीं है। दोना उन्नति चाहते हैं और सम्यसा का विकास चाहते हैं। विन्व का हित उनका उद्दिष्ट है। लेकिन उस उद्देश्य में और अणुबम में अन्वव और अन्वमेत है यह सहसा जो दोना में से किसी राजपदा के नेताओं का प्रकट नहीं हो पाता है तो कारण यही कि साहित्य की भावाज मन्द और मद्धिम है। साहित्य दिनन्दिन जीवन के इन यथाओं से अपने को अछटा नहीं रख सकता और इसलिए साहित्य साधन के बारे में भ्रम में नहीं पड़ सकता।

प्रश्न के इस पहलू पर मैं आपका ध्यान आचना चाहूंगा। अस्तुस्थिति की सीमाएं होती हैं। सम्पूर्ण ऐक्य आज यन्ति यन्ता नहीं है। बीच में अन्वय और विग्रह पर्याप्त है। लम्बी राह हमको चलना है और सपनों में से वह राह पूरे होगी। इसलिए यथाय की मर्यादाओं के प्रति साहित्य में सहानुभूति का अभाव नहा होना है। कर्मजिन उन मर्यादाओं पर जूमन हैं उन मर्यादाओं की रसा पर बटिबट होकर वे जा करते हैं उनको समझ साहित्य को रमनी है। निन्द्य और तिरस्कार पर नहा उतरना है। राष्ट्र का शान है अथवा और दूसरे अन्वक नेक शान है तो उनके प्रति पूरी तरह आपत्त रहे बिना साहित्य का काम नहीं बनगा। राजनाति तत्वातिवृता का गुण है यह कहकर उपर दे-ध्यान रहना

ठीक नहीं है। सण और शाश्वत में एक अभिन्नता और निरन्तरता है। शाश्वत मूल्य की प्रतिष्ठा वर्तमान के प्रति भ्रमावधान रहने से नहीं हो सकती। घटना जगत् और कम-जगत् उतना ही साहित्य के लिए रस और रहस्य का विषय है जितना कि मनो-जगत् और कारण-जगत्। सिद्धान्त लोक में पहुँचकर इस प्रत्यक्ष जीवन के प्रति विमुख और तटस्थ साहित्यकार रह नहीं सकता। कम-स-कम साहित्य यह नहीं कर सकता। सत्य और तथ्य में व्यवधान डालकर साहित्य सामर्थ्य संपादन कैसे करेगा? स्फूर्ति वह मूल्यों और भावदशों के जगत् से ले लेविन जहाँ उस स्फूर्ति को रूपाकार लेकर फलित होना है वह तो सामने फला यह घटना का संसार है। होना व्यर्थ है, अगर करने में वह उजागर न हो। शब्द रचना या और किसी प्रकार की अभिव्यञ्जना उतनी ही समय और प्रभा शक्ति होती है जितना गहरा रचनाकार की दृष्टि में आत्म और वस्तु लोको का अनुबन्ध होता है। कुल मिलाकर प्रतीत होता है कि साहित्य द्वारा जीवनोंत्पन्न साधना चाहने वाले साहित्यकार के लिए आवश्यक है कि वह मन को भावदश स्तर पर रखे तब हाथ को घटना की नब्ब पर रखे। वास्तव के प्रति भ्रमगत रहे प्रबुद्ध रह, भलवत्ता लिप्त वहाँ न रहे। वहाँ राग न रखे पर वीतरागी भी न हो। वहाँ झुझने से बचे नहीं किन्तु मनोकामना ऊँची रहे। स्वाध हमारा परमार्थ में रहे तो दलबन्दी में हम नहीं पिरेंगे। भलग धसग ऊँचे-नवित्र नीत्यभिमानो बनकर भी नहीं रह सकते। विग्रह और सघष के कुक्षेत्र में किनारा लेकर चलना भगवान् कृष्ण से नहीं हो पाया। किसी चतयशील और सामर्थ्यशाली से वह सघष नहीं सकता। साहित्यिक असमय नहीं है। साहित्य को कभी असमय हुआ नहीं है हो नहीं सकता। लेकिन संसार के नाना स्वार्थों के युद्ध के बीच न्याय और सत्य के नये घमयुद्ध को उदय में लाना उसका काम है। दूसरे सघषर्ष छोड़े हैं उपले हैं झूठे हैं। नीति-अनीति सत्-असत् प्रेम और धर का सघष ही मौलिक है। राज्या और राष्ट्रों की घमासान तयारिया के बीच एक पक्ष धायद नहीं दीखता। वह मानव का पक्ष है। साहित्य को उसी पक्ष की टक लेकर सामने आना और अपना घम पालन करना है।

नवम्बर ५९

■ ■ ■

हिन्दी साहित्य सम्मेलन में

दिसम्बर का महीना पास आ गया है और बड़े दिनों में अमृतसर में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का आयोजन होगा। वह होकर चुकेगा कि ४२ का नया सन् शुरू हो जायगा। मैं आशा करता हूँ कि सम्मेलन का यह नव वय उसका नव वय भी होगा।

सम्मेलन के सभापति के चुनाव के समय हवा में कुछ दुविधा थी। प्रबुद्धि घट गई है। मैं चुनाव को दुष्घटना नहीं मानता। होता है सो ठीक ही होता है। आस्तिक वर्तमान को मानकर ही उसको भविष्य की ओर बढ़ा सकता है। प्रकल्प्य अतीत के माथ भगड़ता है।

लेकिन मरा यह विश्वास जरूर है कि हम चाहें तो प्रकृत घटना को दुष्घटना बना सकते हैं। हर घटना समय के रूप की परिचायक है। वह जैसे—शुद्ध बोलती है। जगद्घटन जगदीश्वर की वारणी है। उसे धनमुना करने अपनी मन-मानी में चलने में व्ययना ही हाथ लग सकती है।

सभापति के चुनाव के पीछे क्या-क्या शक्तियाँ काम कर रही थी उनके विश्लेषण में नहीं जाना है। ईश्वर का काम मनुष्य के हाथों से होता है। उसमें रास्त में मनुष्य के मन के विकार भी मिल जाते हैं। उन विकारों की बात को छोड़कर स्वयं फलित फल को ध्यान में लिया जा सकता है। आज हमारे पास चुनाव का फल यह है कि सभापति श्री अमरनाथ भाई हैं।

श्री भाई महोदय से थोड़ा मिलना हुआ तो भी गहरी छाप मुझ पर पड़ी। वह उत्तर पुरुष हैं। निपिलता उनके नीचे नहीं पल सकती। बात के मम को वह अनापाम पकड़ते हैं। सब में अपने को कम खचकर हैं। इस आधार पर मुझे पक्की आशा है कि सम्मेलन नय सर्पारम्भ से नयी व्यवस्था पहन उठेगा और उसमें निपिलता नहीं रहने पायेगी।

सम्मेलन हिन्दी की प्रकृष्टी व्यापक सत्या है। वह नगर की नहीं प्रान्त की नहीं समूची हिन्दी की है। बासी नागरी प्रचारिणी सभा को अपने नाम की पहचान की कोई कठिनाई नहीं आई। इसका स्वयं निश्चित था। इसीलिए

वह सत्पा ठण्डा और ठोस काम बराबर करती रह सकी। पर सम्मेलन को घेरी सुविधा नहीं रही और जब कि हिन्दी राष्ट्रभाषा समझी गई तब सत्ता सम्मेलन का हृदय जैसे एक दुविधा मे पड़ गया।

यह दुविधा अब तक नहीं छूटी है। इधर कुछ उनक अधिवेदानो को भ्रमण स देखने का भ्रुकु सुयोग मिला है। बहुत भीतर की बात तो जानता नहीं पर उन अधिवेदानों मे देखा है कि सम्मेलन की कायकारी शक्ति बहुत कुछ हिन्दी और राष्ट्रभाषा के निपटारे के समाल पर खच हो जाती रही है। सम्मेलन अपना स्वयम सय नहीं कर पाया है। राष्ट्रभाषा राष्ट्रनेताओ के हाथ है और हिन्दी हिन्दायानों के। दोनों मे घनिष्ठता हो सकती है सम्भाव हो सकता है बहुत कुछ सेन-देन हो सकता है—सकिन वे दोनो एक है यह स्थिति कालचित् बनने मे नहीं आई है। इसी से सम्मेलन किसका है राष्ट्रनेताओ की राष्ट्रभाषा का या हिन्दीभाषियो की हिन्दी का। सम्मेलन के अधिवेदान की बारखाइयो मे इसी प्रश्न की गर्मी और गूज छाई रहा करती है।

सम्मेलन मे राष्ट्रभाषा के काम का प्रवेश गांधी जी के साथ हुआ। उन्होंने हिन्दी को राष्ट्रभाषा की भावश्यकता पूरी करने वाल माध्यम के रूप मे अपनाया। परिणामस्वरूप दक्षिण भारत में हिन्दी प्रचार शुरू किया गया और सम्मेलन प्रक्षित भारतीय रूप ले उठा।

स्पष्ट है कि हिन्दी के प्रति गांधी जी की आस्था राष्ट्रीय दृष्टि से है। राष्ट्र की भावश्यकताओ की धोर से हिन्दी के काम को उन्होंने हाथ लगाया। नहीं तो वह सम्मेलन के सभापतित्व का अपने को अधिकारी न मान सकते।

दूसरी दृष्टि हिन्दी को उसकी परम्पराओ की धोर देखती है। राष्ट्र अधवा किसी और प्रयाजन के नाते वह हिन्दी परम्परा से प्युत हो यह वे नहीं सह सकते। प्रमाण अधवा काशी मे रहने वाले हिन्दी-हितयो को एक एक है कि वह कहे तुम्हारे राष्ट्र को मैं नहीं जानता पर अपनी हिन्दी को मैं जानता हूँ। उस हिन्दी को मैं विगड़ने देने को तयार नहीं हूँ। तुम्हारे राष्ट्र मे दखल देने मैं नहीं पडूँगा हूँ। मेरी हिन्दी पर हृपया तुम भी कृपा करो।

मैं जानता हूँ कि पिछले जिनो जो गडबड रही वह इही दो दृष्टियो के प्रसामजस्य के कारण थी। दृष्टियो मे सामजस्य नहीं भी होता पर दिल मे समाई हो सकती है। मेरी धारणा है कि किही कारणो से जिनकी व्याख्या मे मैं उत्तरना नहीं चाहता हूँ। मन मे एक-दूसरे के लिये वह समाई भी कम होती गई है। अब सरट उपस्थित है। दोनों दृष्टिया स्पष्ट अपने को पहचान लें, यानी अपने अन्तर को पहचान लें तो कोई कारण नहीं कि सकट टल न सके।-

पिछले चार वर्षों से मैं यह मानता घोट कहता भी रहा हूँ कि सम्मेलन को अपने स्वयं की मर्यादा बना लेनी चाहिए। चाहे तो वह 'राष्ट्रभाषा' सम्मेलन बन सकता है। पर यदि उसको हिन्दी साहित्य सम्मेलन ही रहना है तो अपनी मायबता उसे हिन्दी-साहित्य की ही दिशा में देखनी होगी।

हिन्दी साहित्य की कम समस्याएँ नहा हैं बहुत माँग हैं जो भाज जैसे की जा रही है। विश्व के बीच हिन्दुस्तान नगण्य नहीं रहने वाला है। नगण्य तो यह भाज भी नहीं है। पर कौन जानता है कि भागे क्या अन्तर्राष्ट्रीय प्रत्याशाएँ उस पर धारा रहने वाली नहीं हैं। ऐसी हालत में हिन्दी को किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के समकक्ष जन्दी सजादी बन जाना चाहिए। भाज तो हिन्दी पर यह लांछन तक सही है कि उपयुक्त पुस्तक के अभाव के कारण वह विद्वद्विद्यालय की ऊँची शिक्षा का माध्यम नहीं बनाई जा सकती। सम्मेलन के रहते हिन्दी का यह लांछन स्वयं सम्मेलन का लांछन बन जाता है। यह सब कुछ सम्मेलन को नहीं तो जिसको करना है। हिन्दी साहित्य की इस रचनात्मक भावस्थिति को पीठ देकर सम्मेलन राष्ट्रभाषा में उनके तो कसे कहा जा सकता है कि वह हिन्दी-साहित्य सम्मेलन है। यह स्थिति हम हिन्दी वालों को भाज असह्य हो जानी चाहिए। सम्मेलन से हमारा तबाबा और तान्य सम्मेलन के प्रति हमारा समर्पण बढ़ जाना चाहिए।

इस दृष्टि से मैं इन तीन परिणामों पर पहुँचना हूँ—
 १. राष्ट्रभाषा के प्रश्न और काम में सम्मेलन अपने को मुक्त कर ल और इस प्रकार उस सम्बन्ध में अपना आलोचना का अधिकार मन के लिए सुरक्षित बना ले।

२. राष्ट्रभाषा प्रश्न की समस्या और व्यवस्था को पूरी तरह उन्हीं को सौंप द कि जिनसे वह कल्पना सम्मेलन को प्राप्त हुई। यानी वह मामला गांधीजी पर छोड़ दिया जाय।

३. निम्ना अधिवक्ता में मान्य की गई हिन्दी की परिभाषा सम्मेलन के आयोजन की सीमा समझी जाय।
 पहली बात सम्मेलन की शक्ति को बढ़ाने के लिए जरूरी है। कांग्रेस सरकार के अखिर जो कुछ हुआ या प्राण जो कुछ हो उससे सम्मेलन अपने को बचा हुआ पाय यह स्थिति सम्मेलन के हित में अनिष्ट है। पहले उसी से गठबन्ध मची। राष्ट्रभाषा प्रश्न से सम्बन्ध रखने वाली सम्प्रा तो राजनीति से अप्रसूती नहीं रह सकती। किन्तु उसकी शायबाही से सम्मेलन भी नैतिक रूप से यदि बच जाय तो सम्मेलन का हिन्दी के हित में काम करने की शक्ति पर

संसदे दबाव पहना साजमी है। सम्मेलन को सदा के लिए इस स्थिति में पड़ने से इन्कार कर देना चाहिए। राष्ट्रीय काम-काज के नाते भाषा-सम्बन्धी ऐसी कारवाहियां होना अनिवाय हैं कि सम्मेलन जिनका आलोचक और विरोधी होना अपना कर्तव्य समझे। राष्ट्रभाषा के दायित्व के साथ अपने भाषाको सीधा भटकाकर सम्मेलन की वह विरोधिनी शक्ति निबल पड़ती है। सम्मेलन का भाव रह रहा है और उचित रूप से रह सकता है कि वह तो राष्ट्रभाषा को हिन्दी ही कहेगा। जहां तक हिन्दी के साथ राष्ट्रभाषा का प्रचार समतल हो तहां तक ही उसको सम्मेलन का बन मिल सकता है भागे नहां।

इसके साथ ही हम स्वीकार करना चाहिए कि अहिन्दीभाषी प्रांतों में हिन्दुस्तानी शब्द को निषिद्ध ठहराकर राष्ट्रभाषा प्रचार का काम निर्विघ्न नहीं फलाया जा सकता। अर्थात् राष्ट्रभाषा को हिन्दुस्तानी कह सकने के विकल्प की सुविधा राष्ट्रभाषा प्रचारका के लिए आवश्यक ही है। सम्मेलन यह सुविधा हिन्दी मस्या होने की हैसियत से अपने लिए नहीं चाह सकता। वह भाग तो उसके लिए प्रलोभन का हो जायगा। इसका फलितार्थ यह है कि इस अधिवेशन में राष्ट्रभाषा प्रचार समिति न पुराना कायम की जाये और न कोई नई निर्वाचित की जाय। वरिष्ठ सम्मेलन के विधान में सही उसको निर्दोष कर दिया जाय और वर्तमान समिति का सब चाज गांधीजी के हुक्मों पर दिया जाय।

तीसरी बात है हिन्दी की परिभाषा। इन्दौर की परिभाषा पूना में बदली गई। उसके अलावा गिमला अधिवेशन की परिभाषा है। इन्दौर और पूनावाली परिभाषाएं राष्ट्रभाषा की दृष्टि से हैं। याना सम्मेलन यदि साहित्य सम्मेलन है तो उसके लिए उपयुक्त गिमला अधिवेशन वाली परिभाषा रह जाती है। राष्ट्रभाषा की परिभाषा राष्ट्रनायकों से मिली होकर यदि कुछ बनायी जायगी भी तो वह राष्ट्रभाषा पर असर नहीं डालेगी, बल्कि बनाने वाले के ऊपर ही बर्धन रूप हो जायगी। मगर अग्निप्राय है कि सम्मेलन उस ऋण में न पड़े। पूना में इन्दौर परिभाषा में कुछ फरक-फार कराने सम्मेलन ने अपने रुत को तो प्रकट किया उससे अधिक उसका फल नहीं हुआ। सब पूछिय तो सम्मेलन का सहा रूप गिमला परिभाषा में व्यक्त होता है। सम्मेलन के काम की भाषारंगिता तो वही हो सकती है और होनी चाहिए। वह पूना की परिभाषा रा ही नहीं बल्कि इन्दौर वाली में भी अविशया है और यह राष्ट्रीय दृष्टि रखने वालों को सम्मेलन की ओर में भापी जाना चाहिए।

अगर सम्मेलन इस बार की बैठक में अपने स्वयं की स्थिति अपने और

१०६ परिचय

सबके निकट स्पष्ट कर दे और फिर हिन्दी-साहित्य की भावश्यकताओं को पूरा करने में अपने को प्राणपण से डाल दे तो इससे हिन्दी और राष्ट्र दोनों का ही हित होगा। राष्ट्रभाषा और हिन्दी में जो खीचतान नज़र आती है उसकी जगह फिर दोना में सद्भाव नज़र आने लगेगा। उदूवाले उदू को राष्ट्रभाषा कहलान के पचड़े में न पडकर उदू का ज्यादा काम करते रह सके हैं। राष्ट्रभाषा या हिन्दुस्तानी के सम्बन्ध का कोई प्रयत्न मौलवी अब्दुल हक साहब को बिना पूछे शायद ही चल सके। कारण यह खुलकर उदू के रहे हैं। इसी तरह राष्ट्रभाषा सम्बन्धी कोई गहरी और असली कारवाई सम्मेलन की मोट में डालकर किसी भाति नहीं की जा सकेगी यदि सम्मेलन शब्द के सच्चे अर्थ में हिन्दी की सर्वांगपूर्ण प्रतिनिधि-संस्था बन रहेगा। राष्ट्र नेताओं के नामों के सफ़्त सम्मेलन अपने का अखिल भारतीय मानकर सतोप कर ले तो बात दूसरी है पर क्या वह सचमुच हिन्दी भाषी प्रान्तों का भी प्रतिनिधि है। उसकी व्यापकता भी असलियत में एक बहुलावा ही रह जाती है। उस व्यापकता का माह छोटहन का समय आ गया है। अब उसमें असलियत पडनी चाहिए और वह असलियत ठडे ठोस सतत रचनात्मक काम द्वारा ही आ सकती है।

■ ■ ■

दिसम्बर ४१

मैं कौन ?

मुझ पर बहुताई की कृपा है। इसके लिए मैं परमात्मा का और उन सबका कृतज्ञ हूँ। पर उन सबको सन्तुष्ट कर पाऊँ ऐसा मुझ से नहीं बनता। तब सोचता हूँ कि क्या करूँ ? हितपियों की कृपा और सदभाव से बचित मैं अपने को नहीं बनाना चाहता। लेकिन अगर मैं आज्ञा का मान रखने में असमर्थ सिद्ध होता हूँ तो क्या मैं उनसे आशा कर सकता हूँ कि वे मुझ से अपनी आज्ञा का पालन नहीं मांगेंगे ? क्या मैं आज्ञा करूँ कि उनसे असहमत रहूँ फिर भी वे मुझ पर कृपालु रहेंगे ?

काम के लिए मेज पर बठा ही था कि एक सज्जन आये। कई बार सभाओं में उन्हें देखा था। अच्छे वक्ता थे स्थानीय सनातनधर्म सस्था के स्तम्भ थे। पर मेरा उनका यह परिचय नवीन था।

उन्होंने कहा—उस दिन मैंने आपका भाषण सुना था। सोचा मैं आप से मिलूँगा। आप तो सनातनधर्म के सिद्धान्तों को मानने वाले मालूम होते हैं। फिर गिवासूत्र क्यों धारण नहीं करते ? आज क्या जरूरत नहीं है कि मालूम हो कौन मुसलमान है और कौन हिन्दू ?

मैंने कहा—क्या इसी के लिए आपने कष्ट उठाया है ? इस समय मेरे गिवासूत्र नहीं है यह जानता हूँ। किंतु इस कारण अच्छा बनने में मुझ में कुछ अक्षमता रहती है ऐसा भी बोध मुझे नहीं है। लेकिन कहिये मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? ठण्डाई मगारू ?

बोले—भारतवर्ष में हिन्दू हैं अथवा अहिन्दू हैं। व्यक्ति को तय कर लेना होगा कि वह क्या है। गिवासूत्र उनके बीच की रेखा है। आप उससे उदासीन नहीं रह सकते।

किन्तु मुझमें तत्सम्बन्धी विनोद जागृति नहीं हुई। मैंने चाहा कि बताइये मेरे लिए क्या आज्ञा है। सेवा के लिए मैं प्रस्तुत हूँ। छोटी की बहस के मामले में मैं हारता हूँ। क्या यह सम्भव हो सकेगा कि वह मुझे अपने अनुसार ही रहने दें ?

पर उनका भी मत स्पष्ट था। बिना शिक्षासूत्र में भ्रष्ट रहूँगा भ्लेच्छ रहूँगा। तब नरक में ही मुझ ठौर होगा और वह मरे सम्बन्ध में आशा-शील हैं मुझ पर स्नह रखते हैं। कबे व अपनी आँखों के सामने यह मझन करें कि मैं नरक के योग्य रहूँ ? उनके प्रेम का तकाजा है कि वह मेरा उद्धार करें।

अब क्या उनकी चिन्ता और प्रेम के लिए मैं उनका श्रेणी न बनूँ ? किन्तु कस क्या ? मैंने कहा—महाराज, क्या और कुछ मेरे लिए सेवा का आश्रय नहीं दे सकते जो मुझसे हो सके ?

यह श्रवण नि स्वयं सज्जन थे। भग उपकार हा चाहते थे। पता उन्हें दरबार न था मेरी श्रद्धा उन पर भट्ट थी। पर अपने स इन्कार कर दू इसना असत्य मुझ स न हो सका और प्रस्तुत विषय के सम्बन्ध में मैंने उनसे यही चाहा कि वह मुझे मुझ पर ही छोड़ दें।

मैंने अन्त में पाया कि वह टप्ट हो गये हैं। मरे महा का जलपान उन्हें स्वीकार न हुआ और वह मुझ तज कर चल गये।

मैं अपने काम में लगने को भूँका—

कुछ दर बा एव और महानाम धामे। बातचीत आरभ करके धोले—तो क्या आप आयसमाजी नहीं हैं ?

मैंने कहा—हूँ तो नहीं पर कहिये।

कहने लगे—बड स की धाम है।

मैंने माना स की बात हो सकती है। पर मुझसे क्या और कोई सेवा मेन की आना वह कृपया मुझ नहीं दोगे ? पर व सबसे पहले यह चाहते थे कि धृष्ट करने में उद्द बतना मकू कि समझार होकर मैं किस प्रकार आयसमाजी होने में बच सकता हूँ। हा उन्होंने कहा त्रिद का इलाज उनके पास नहीं है। पर यह निश्चय है यदि आयसमाजी मैं नहीं बन सकता हूँ तो घम म मेरी समझारी पर उक्त तका होगी।

मेरे लिए अपनी समझारी पर अहवार का मौका नहीं है। पर अपनी अमानता का जानकर भी अपने ही प्रति विरुद्ध और विरुद्धाचारी बनूँ कतना दम मुभम नहीं है।

घाय समात्र पम कायाणवर है। मरव है और जो कुछ भी वह कह सके सव है। उनका बलव्य म मेरे लिए आपत्ति का तनिक भी अवकाश नहीं है। पर अपनी अममयता का मैं क्या बना सकता हूँ। निवृत्त करने को मेरे पास अपनी साचागी ही थी और मैंने कहा—एक वम घाय समाजी भी रहा तो कितना दुनिया का नुरमान होगा क्योंकि वह बहुत महा है इसलिए वह जने

सह लें।

पर उन्होंने भी मुझपर तरस नहीं किया, रोप ही किया। और जब मेरे सम्बन्ध में निरे निराग होकर वह चले गये तब मैं भी तनिक क्षिन्न हुआ और फिर मेज पर झुका कि—

एक जन विद्वान की कृपा-दृष्टि इन दिनों मुझ पर आ गई थी। कुछ देर बाद वे पधारे। उन्हें भरोसा था कि मैं जन हूँ और अभव्य नहीं हूँ। वह चाहते थे कि जनत्व में प्रगाढ़ता प्राप्त करूँ।

किन्तु यही उनका मतव्य था। जैन धर्म ही तो धर्म है और मुझे उसे धारण रखना होगा और गौरव के साथ प्रगट करते रहना होगा कि मैं जन हूँ।

मैंने जानना चाहा कि अगर बसा करने में असक्त होऊँ तो फिर उनके पास मेरे लिए कहां जगह है? उन्होंने बताया कि जो जैन नहीं वह अजन है अर्थात् मिथ्यात्वी है। जब तक वह नरतन में है तब तक वह उसे नलकित करता है। इस योनि से छूटकर फिर उसे नरक अथवा त्रियम् योनि में ही स्थान मिलेगा।

नरक में जाने से अथवा त्रियम् योनि से डरकर क्या मैं आज अपने साम झूठा धारण करूँ? मैंने यही पंडित जी से कहा नरक आयेंगे तो झूठ बोलकर उससे मैं अपने को कैसे बचा लूँ? वह कहकर इस वारे में मैंने उनसे क्षमा चाही।

किन्तु उन्हें मेरा अपकार किसी प्रकार स्वीकार न था। मानव देह पाकर मैं उसे जन धर्म के अमृत से वंचित रखूँ यह पण्डित जी कभी न होने देंगे। प्रेम की ताकत के अधिकार की भी वह क्यों न मेरे ऊपर बरतें और मुझ समाग पर लावें? मैंने चाहा कि वे अवश्य ऐसा करें किन्तु निवेदन किया कि यदि मैं अन्त तक असुधाय ही रहा तो भी अपने स्नेह वह मुझ पर से उठा न लें।

अर्धां खासी दर तक चली पर अपने भाग्य को क्या कहें। वह बहुद गर्म होकर मेरे यहा से विदा होकर गये।

मैं फिर मेज पर झुका—

उस दिन जान पड़ता है काम होना ही न था। उसी रोज एक मुसलमान मेहरबान भी प्राय ईसाई पिता भी आ गये। मैं भोजन के समय को लाघकर उनके साथ ही बठा रहा। उन सबकी शुभाकांक्षा का मूल्य जानता हूँ। उनकी कृपा को भी अपने बस कभी नहीं लो सकता। मैंने उनको कहा कि वे मेरे पूज्य हैं मेरे प्रति अपने मे वे क्षमाभाव दोष रहने दें। यदि उनकी आज्ञा की ज्या-की स्थों पालने में असमर्थ हूँ तो भी उनका ऋणी हूँ। उनके वक्तव्या में मुझे आपत्ति

की भयवा आलोचना की गुजाश्ग नहीं है। न समझें मैं मुसलमान होने का या ईसाई होने का कायल नहीं हूँ। पर कुछ कहलाया ही बाऊ और यही फहसाया जाऊँ, इसका आकषण मुझ नहीं है। पर इस कारण मुझ बह अपने से दूर बिल्कुल न मान लें।

पर ये लोग भी अतिशय अग्रसन्न होकर ही यहा स गय और मैं फिर—

अभी व सब गये हैं। मैं नहीं जानता कि क्या मुझे हक है कि मैं उन सबकी सत् अभिलाषाओं को वापिस कर दूँ। लेकिन क्या करूँ ?

खर अब बारह बज गय हैं मुझे इजाजत दीजिय कि मैं जरा स्वस्थ हो लूँ।

भाग्य और पुरुषार्थ

भाग्य और पुरुषार्थ विपरीत नहीं तो मलग तो समझ ही जाते हैं। मैं ऐसा नहीं समझ पाता।

भाग्य का उदय मरे निकट निरपेक्ष शब्द नहीं है। स्पष्ट ही भाग्योदय शब्द में भाग्य है कि मैं प्रधान नहीं हूँ, भाग्य प्रधान है। पुरुषार्थ में कर सकना हूँ लेकिन भाग्योदय उममे स्वतंत्र शक्ति है। ही शक्ति है कि लोग का यह मानने में कठिनाई हो मुझे इस स्वीकार करने में उठ अपनी धन्यता मालूम होती है।

एक शब्द है सूर्योदय। हम जान गये हैं कि उदय सूरज का नहीं होता। सूरज तो अपेक्षतया अपनी जगह रहता है चलती घूमती घरती हा है। फिर भी सूर्योदय शब्द हमका बहुत शुभ और साधक मालूम होता है।

भाग्य को भी मैं इसी तरह मानता हूँ। यह तो विधाता का ही दूसरा नाम है। वे सर्वान्तर्यामी और सावकालिक रूप में हैं उनका अस्त ही कब है कि उदय हो। यानी भाग्य के उदय का प्रश्न सदा हमारी अपनी अपेक्षा से है। घरती का रख सूरज की तरफ हो जाय यही उसके लिये सूर्योदय है। एस ही में मानता हूँ कि हमारा मुख सही भाग्य की तरफ हो जाय तो इसी को भाग्योदय कहना चाहिए।

लेकिन ऐसा हुआ नहीं करता। पुरुषार्थ को इसी जगह सगति है। अर्थात् भाग्य को कही से स्वीचकर उदय में लाना नहीं है न अपने साथ ही ज्यादा सींचतान करनी है। सिर्फ मुह को मोड़ लेना है। मुख हम हमेशा अपनी तरफ रखा करते हैं। अपने में प्यार करते हैं अपने को ही चाहते हैं। अपने को आगम देते हैं अपनी सेवा करते हैं। दूसरों को अपने लिये मानते हैं सब कुछ को अपने अनुभूत चाहते हैं। चाहते यह हैं कि हम पूजा और प्रशंसा के केंद्र हों और दूसरे पास-पास हमारे इसी भाष में महरावा करें। इस वासना से हम छुट्टी नहीं मिल पाती। तब कभी होता है कि ऊपर से गहरा दुःख आ पड़ता है। यह हमें भीतर तक विनोद कर जाता है। कुछ क्षण के लिये जैसे हमारी घरती को ही साथ कर डालता है। यह शून्यायस्या भगवत् कृपा से

ही प्राप्त होती है। इसलिये मैं मानता हूँ कि दुःख भगवान् का करदान है। यह धीरे-धीरे किसी भीपथ से गलता नहीं। दुःख ही भगवान् का प्रभुत्व है। यह क्षण सचमुच ही भाग्योदय का हो जाता है अगर हम उसमें भगवान् की कृपा को पहिचान लें। उस क्षण सरस होता है कि हम अपने से मुझे धीरे-धीरे भाग्य के सम्मुख हों। कम इस सम्मुखता की देर है कि भाग्योदय हुआ रहता है। प्रसन्न म उदय उसका क्या होना है उसका आलोक तो कण-कण में व्याप्त सदा समदा है ही। उस आलोक के प्रति खुलना हमारी आँखों का हो जाये वस उसी की प्रतीक्षा है। साधना और प्रयत्न सब उतने मात्र के लिए हैं। प्रयत्न और पुरुष पाप का कोई दूसरा सध्य मानना बहुत बड़ी भूल करना होगा ऐसी चिन्ता व्यर्थ सिद्ध होगी।

दनिया में हम देखते तो हैं। लोग हैं कि बहुत हाथ-पंर पटक रहे हैं जिन रात जोड़-तोड़ में लग रहते हैं। वाग्विश में तो बनी नहीं है पर सिद्धि कुछ नहीं मिल पाती। तो ध्यान-ऐसा क्यों है? वाग्विश की पुरपाय में सिद्धि मानें तो यह दुःख नहीं दीखना चाहिए कि हाथ-पंर पटकने का तोय व्यर्थ और निष्फल रह जायें। अगर वे व्यर्थ प्रयास रहते हैं तो अन्त में यह कहें कि क्या करें भाग्य ही उल्टा है तो इसमें गलती नहीं मानी जायेगी। मच ही अधि काँगा यह होता है कि उनका और भाग्य का संबंध उल्टा होता है। भाग्य के स्वयं उल्टे-सीध होने का तो प्रश्न ही क्या है? कारण उसकी सत्ता सर्वव्याप्य है। वहा दियायें तक समाप्त हैं। विमुख और सम्मुख जसा वहा कुछ समक ही नहीं हैं। सब होता यह है कि एक निष्फल प्रयत्नो वाले स्वयं उसमें उल्ट बने रहते हैं अर्थात् अपने को ज्यादा गिनने लग जात हैं। धाप दूसरों के प्रति अवज्ञा और अपेक्षागील हो जाते हैं। कम में अधिनाश यह दोष रहता है उसमें एक नशा होता है। नशा बनने पर आदमी भाग्य और ईश्वर को भूल जाता है और विनय की आवश्यकता को भी भूल जाता है। यो कहिये कि जान-बूझकर भाग्य से अपनी मुह कर लेता है। सब उसे सहयोग न मिले तो उसमें विस्मय ही क्या है?

ऊपर के दायो में धाप कृपाया कम की प्रवृत्ता में दतेँ उसने साय प्रकम के महत्व को भी पहिचानें। प्रकम का आधाय कम का अभाव नहीं कसूत्व का क्षय है। मैं यह कर रहा हूँ मैं वह करने वाला हूँ मैं यह सब कुछ करने छोड़गा' आदि-आदि महवारा से किया गया कम यदि सिद्धि और सफलता न लामे बल्कि यथन और क्लेश उपजायें तो इसमें तब की कोई प्रसंगति नहीं है। पुरय का धय मेहनत ही नहीं है सहयोग भी है। यह क' वस पर चलने से यह

सहयोग क्षीण होता है। तब उसको पुरुषार्थ भी क्या कहता ?

पुरुषार्थ वह है जो पुरुष को संप्रयास रखे, साथ ही सहयुक्त भी रखे। यह जो सहयोग है सच में पुरुष और भाग्य का ही है। पुरुष अपने अह से विमुक्त होता है सभी भाग्य से सयुक्त होता है। लोग जब पुरुषार्थ को भाग्य से अलग और निपरीत करते हैं तो कहना चाहिए कि वे पुरुष को ही उसके अर्थ से दलग और विमुक्त कर देते हैं। पुरुष का अर्थ क्या पशु का ही अर्थ है ? बल विनाश तो पशु में ज्यादा होता है। दौड़ धूप निश्चय ही पशु अधिक करता है। लेकिन यदि पुरुषार्थ पशु चेट्टा के अर्थ से कुछ भिन्न और श्रेष्ठ है तो इस अर्थ में कि वह केवल हाथ पर चलाना नहीं है न क्रिशा का वेग और कोणल है बल्कि वह स्नेह और सहयोग भावना है। सूक्ष्म भाषा में कहें तो उसकी अकृतत्व भावना है। वासना से पीड़ित होकर पशु में अदभुत पराक्रम दीख आ सकता है। किन्तु यह पुरुष के लिये ही संभव है कि वह आत्मोत्सर्ग और आत्मविसर्जन में पराक्रम कर दिखाये।

भाग्योदय शब्द में हम इसी सार को पहचानें। भाग्यवादी बनना दूसरी चीज है उसमें हम भाग्य को अपने ऊपर मानते हैं। भाग्य का यह मानना बहुत भोछा और अशुभ होता है। सचमुच ही इस मानने से पुरुषार्थ की हानि होती है। पर भाग्य से अपने को अलग मानने का हम अधिकार ही कहा है ? भाग्य के यदि हम आत्मीय बनें तो हमारी उसके साथ सदाई ही समाप्त हो जाए। तब भाग्योदय का अर्थ हमारे लिए नहीं आता क्योंकि क्षण-क्षण और प्रतिक्षण हम भाग्योदय अनुभव होता है। भाग्य यहाँ से वहाँ तक हमारे जीवन को उदित और आलोकित करता है। ऐसा व्यक्ति विरोधी मूल या अर्थ नहीं करता। उसकी कुछ अपनी आकांक्षा अथवा वासना नहीं रहती। उसका काम इसलिए उसे यकाता नहीं अकर्म की प्रेरणा रहने से उसके काम में प्रतिक्रिया नहीं होती न बाधन रह जाता है। मानो काम उससे भाग्य ही करता है, इसलिए प्रत्येक काम उसके भाग्य को प्रशस्त और विस्तृत ही करता जाता है।

भाग्य के प्रति अभ्यन्तर में अर्पित होकर पुरुष जो भी पुरुषार्थ करता है वह उस उत्तरोत्तर मुक्त और समग्र ही करता जाता है। भाग्य के प्रति अथज्ञा रखना अपने से क्षय के प्रति अथज्ञाशील होने के बराबर है। यह बुद्धि के प्रमाद का ही लक्षण मानना चाहिए। हमारी हस्ती क्या है ? आखिर गिनती के कुछ साल हम जीते हैं फिर सदा के लिए मर जाते हैं। चाहे फिर फिर भी वदा होते हैं लेकिन हमारी यह अहता तो यही-की-यही रह जाती है। पर हमारे मर जाने से क्या अस्तित्व कुछ भी घटता है ? अगत और इतिहास तो चलता

ही रहता है। तब इससे बड़ी मूल्यता दूसरी क्या होगी कि हम अपने कतिपय बपों के साइ-सीन हाथ के सीमित अस्तित्व को सब कुछ मान लें और उस कारण बाकी त्रिकाल त्रिलोक को अभाव्य ठहरा दें। भाग्य को न मानना इस तरह उस सब कुछ को न मानना है जो सचमुच सीमाहीन भाव से है। हमारे द्वारा सच पूछिये तो उग्य उसी का है और हमारे पुरुषाय के भीतर से उसी का निहित अर्थ पूरा हो रहा है। उस भाग्य को प्रकृत भाव से स्वीकार करने में मैं अपने पुरुषाय के परमाय को ही स्वीकार करता हूँ उस अर्थ को किश भी अर्थ में और तनिक भी मन्द नहीं करता।

अर्थ हमारा स्वायं बन जायगा पुरुषाय वह नहीं कहलायेगा अगर भाग्य के परमाय से उस हम नहीं जोड़ सकेंगे। उस स्वायं के जो चक्र में हैं वे भाग्योदय की प्रतीक्षा में रहे ही चले जा सकते हैं। क्योंकि जिसके उदय की वे राह देखते हैं वह तो उदित है ही केवल उनकी पीठ उस तरफ है। इस लिए उन्हें मालूम नहीं है कि जिसको वे सामने देख रहे हैं वह भी उभी के प्रकाश से प्रकाशित है और कमनीय जान पड़ रहा है। इच्छाएँ नाना हैं और नाना विधि हैं और वे उसे प्रवृत्त रखती हैं। उस प्रवृत्ति से वह रह रहकर एक आता है और निवृत्ति चाहता है। यह प्रवृत्ति और निवृत्ति का अक्षर उसको द्वन्द्व में पका मारता है। इस संसार को अभी राग भाव से वह चाहना है कि अगले क्षण उतने ही विराग भाव से वह उसका विनाश चाहना है। पर राग-द्वय की वासनाओं से अन्त में भ्रम-वाह्य और छन्द-वाह्य ही उस हाथ आती है। ऐसी अवस्था में उसका यह सच्चा भाग्योदय कहलायेगा अगर वह नत नत होकर भाग्य को मिर आँखों सेगा और प्राप्त कस्यय में ही अपने पुरुषाय को इति मानेगा।

नैतिक राजनीति

कांग्रेस के जमाव का मौका हमारे लिए एक खाम मौका है। साल भर बाद यह घाता है और उन चन्द दिनों में देश अगले षण्ण मर के लिए अपने राज नीतिक कम की दिशा पाता है। कार्य कम निश्चित होता है और देश के बाहर चलने वाली राजनीतिक प्रवृत्तिया के प्रति भी रस स्थिर और प्रगट किया जाता है।

नाखो की तादाद में देश के कौन कौन से लाग वहा जमा होते हैं। बडा उत्साह मान्नुम होता है। सस्या स्वय उत्साह पदा करती है और यह राष्ट्रीय समारोह दसकों के मन पर एक स्मरण दुर्य अंकित कर देता है।

उत्साह तो ठीक ही है लेकिन आत्मालोचन की भी आवश्यकता है। दिशा विचार से मिलती है भावना का उफान ही सिफ काम नहीं दे सकता। सा सागाद सागों के एक जगह झरट्टे होने के कारण ही जो शक्ति गर्मी और जोश उत्पन्न हो जाता है वह अपने आप में स्वर्णय तक हमें नहीं ले पायगा। भीड स्वराज्य को नहीं पा सनती। अनुशासन में बधी हुई विवेकभाव से एकत्रित राष्ट्रीय सन्या ही राष्ट्र को राजनीतिक स्वराज्य तक ले जा सकती है। विवेक आत्मालोचन का नाम है।

हमको आज की अपनी स्थिति और पिछले अपने इतिहास को देखना चाहिए। दोना की तुलना से आगे के लिए कुछ सबक मिल सकता है। भविष्य बनाना है ता घममान के सफटो को समझना चाहिए और उनसे बचने का प्रयत्न करना चाहिए।

आज कांग्रेस अधिकार प्राप्त सस्था है। हिन्दुस्तान के बहुत बडे भाग में कांग्रेस का वजारत का शासन है। शासन शब्द कहते हिचकना चाहिए न्याकि सामन का छोर विदेश में है और विदेशी के हाथ में है। स्वर्णय जसी कोई बात तो धनी है वहां। फिर भी अपने आदम्नी प्रबन्ध का अधिकार बहुत कुछ वजारता ने जरिए कांग्रेस के हाथ में है। कांग्रेस के इतिहास में यह परिच्छेद नया है। इससे पहिले तब उसका काम विदेशी सरकार का विरोध और

मुकाबला था ।

इसको समझने के लिए कांग्रेस का इतिहास हमारी धारों के भागे है । लोगों ने अपने को बलिदान किया ब्रष्ट सड़े यातनाएँ भुगती । सब कुछ पर सबस्य नहीं छोड़ा । सकल्य था निस्वाध । उसम छीन भ्रष्ट की भावना का सवाल नहीं था । कस्तव्य के भाग पर विपता भेनते हुए भाग बड़त जाने का सवाल हरेक के सामन था । वह पुरस्कार न था दायित्व था ।

कस्तव्य पालन म सं अधिकार की मान्यता आती है । जो दायित्वगीत है, वह उतना ही अधिकार-पात्र है । नतिकता सावजनिक अधिकार का मूल है । कस्तव्यनिष्ठ लोगो न अपनी निष्ठा के कारण स्वच्छापूर्वक ब्रष्ट भन । असम्य जनों न जल को अपना घर बनाया और यह सब कुछ कांग्रेस क मठे के नीचे किया गया । उनी का परिणाम हुआ है कि काँग्रेस का बन इतना बन्ता गया कि विन्गी सरकार का समझौते सब धाना पडा और अपन शासनाधिकार को जनता के प्रतिनिधिया क साथ एक बाटन को लाधार होना पडा ।

नकिन क्या इच्छा पा लिया गया है ? क्या स्वराज्य समूचा मिल गया है ? क्या हम राष्ट्र की राजनीति विन्गी-नाति मुग-नीति और अथ-नीति को अपने राष्ट्रीय और भारतीय भावना क मुताबिक बनाने को स्वतंत्र हैं ? क्या हमारा बड़े-संबड़ा भाग्यी विन्गी इच्छा और कानून क नीचे अपनाय ही नहीं साबित किया जा सकता ? क्या हमारे कानून क प्रजोद्वेष को मिनट भर म जेल के अन्दर बन्द रखन की सम्भावना मित गई है ?

अगर नहीं तो अधिकारा क बाँट-बटाव की मनोवृत्ति का क्या मतलब ? जैसे काम हा चुका हा और इनाम की सूट का कवन धा गया हा । आज हम में से बहुतन अधिकार की और पण का भाग-शेड म लग दीखन हैं । कानून मानों पद भोलुपों के लिए अग्राह्य है ।

अगर हालत यह है, और यह रही तो कांग्रेस का आकाङ्क्ष बहू हान पर भी उगकी भीतर की जीवन-गति नष्ट हो जायगी । दारीर स्पूल मालूम ही लेकिन बेतन्त्र उगम नहीं रहेगा । एसा हालत म विन्गी शासन की आवश्यकता पुष्ट हो हो सकती है नष्ट नहीं हो सकती । दो सहेगे तो क्या तीसरे का काम न बनेगा ?

अतः अत्यन्त आवश्यक है कि हम अपने राजनीतिक दृष्ट की ध्यान-धीन करें । तय करें कि अपनी राजनीति को किन मौलिक आधारों पर खड़ा करना है । समूचा पयवेक्षण करें और जो अनपकारिणी है उस वृत्ति से निषमना के साथ अपनी राजनीति को काट कर गुड कर में ।

मेरी प्रतीति है कि जो राजनीति मुख्यता से अधिकार की चेतना पर सही होगी और चलाई जायगी और जिसमें बाट-बंटवारा का वातावरण रहेगा उस राजनीति में भारत जैसे देश का प्राण नहीं है नरस भले हा ।

यहां वह राजनीति चाहिए जिसका मूलधार मानव-नाति है । जो मानव जाति की नतिक मर्यादाओं को इच्छापूर्वक और समयपूर्वक अपनी ही मर्यादा स्वीकार करे । जो व्यक्ति में वक्तव्य भावना का तनिक भी मन्द न हान द । जिसकी भास पुरस्कार की ओर न हो बल्कि जिसमें उन्नतता भाषदा के प्रति हो ।

पश्चिम का हाथ हमारी भाखों के भाग तो है । उनका अध्यात्म और राजनीति ग्राह्य उसके अध कितना काम भा रहा है ? क्या पश्चिमी राष्ट्र हर घड़ी अपने को विस्फोट और ध्वंस का मुह पर बठा हुआ नहीं अनुभव कर रहे हैं ? किसको घन है ? कौन एक-दूसरे का भय से बचा हुआ है ? हरेक डर रहा है इसी से हरेक डराना चाह रहा है] 210 1 4 1

उनका वैज्ञानिक राजनीतिक अर्थ-शास्त्र क्या ऐसे आह समय उनकी मदद कर पा रहा है ? क्या वह सकट को ही भीषण बनान में मन्त्र नहीं दे रहा ? बल्कि कहना होगा म्यति का सकट उमी की उपज है ।

इसलिए विधान के उन वैज्ञानिक और धार्मिक मूय्यो से चलने वाली राज नीति भारत का धायद पूरा काम नहीं दे सकेगी । भारतीय राजनीति चाहिए । वह भारतीयता गांव में है । वह सादगा मे है । जीवन की नीति भीभी सादी है । उसमें हेर-फेर और चक्कर नहीं है । भारत का राजनीति में भी पेचीदगियों की जरूरत नहीं है । अथ प्रपच भारत की राजनीति को प्रबल और पुष्ट नहीं बना सकेगे । यहां की हर नीति-समाज नीति अथवा राजनीति-नतिक होगी तभी काम देगी । नतिक से छूटकर कम बघन नहीं काट सकेगा बल्कि धसा कम जकड़ बढ़ायेगा । राजनीतिक कम से यदि हम भागा है कि वह देश को बघन मुक्त करे तो उस कम में नतिकता का प्राण आवश्यक हा है ।

सच्ची सलाह

सदाई के सिनो में उसके जोग और घोर में दूर अणुशक्ति की खोज की जा रही थी। खुद सदाई की दृष्टि से भी मानना होगा कि उस वक्त यह सबसे महत्व का काम था।

राजनीति के जोर और जोम से अलग गांधी जी की निगाह का नीचे जो अहिंसा शक्ति की ओर पड़ रही है दुनिया के वतमान और भविष्य के मिहाज से भी मानता हूँ कि यह सबसे भारी काम है। पहले के नेत्रों में उमी और इगारा है। वहाँ नये युग की मण्डि हो रही है। मण्डि चुपचाप होती है ध्वस शोर करता है।

उस प्रयोग में हमारी श्रद्धा रहे सकती है। उस श्रद्धा से चाहे कुछ और तरह दीखें तो अखरज नहीं।

विलायत अंगमग है। उसकी पतवार मजदूर दल के नेता जी एटनी के हाथ है। अणुशक्ति की अमनर समाधान से दुनिया को बचाने के लिए अमरीका जान से पहले एक भागण में उन्होंने कहा कि स्वराज्य तो (हमारे पास) तैयार ही है बस उस से लेने वाला हिन्दुस्तान चाहिए।

जल्द ही कि यह कहने के लिए श्री एटनी को भूठा समझा जाय। पर उनके पास जो कुछ भी तैयार हो स्वराज्य के नाम पर कोई हिन्दुस्तान उनके पास से वह लेने के लिए आने वाला नहीं है। अब नहीं कभी भी नहीं।

अगस्त ४२ में ब्रिटिश हुकूमत के लिए कांप्रस ने सलाह दी—'भारत छोड़ दो'। उससे पहले ब्रिटिश सत्ता को यह सलाह गांधी जी ने निजी तौर पर देना शुरू कर ही लिया था। उस सलाह में यह शामिल था कि हिन्दुस्तान छोड़कर आप लोग अपने घर को और अपने को बचामो। मानी उस सलाह में हिन्दुस्तान के स्वराज्य का ही ग्यास नहीं था ब्रिटेन की मलार्क का भी ग्यास था। हिन्दुस्तान की अग्रिम हिन्दुस्तान को चाहे, गांधी ब्रिटेन को भी चाहना नहीं छोड़ सकते। ब्रिटेन के मत के लिए वह अपने शरीर को कुर्बान करने में नहीं आँवेंगे। मानी सच्चे मन से अगर आहा जाय तो अमरीका के पास हाथ फरना

कर जाने की जिल्ला से गोधी का हिन्दुस्तान इंग्लण्ड को बचा सकता है ।

ऐसी भावना मे भारत छोडो' की बात कहने के बाद अग्रणी सत्तनन को क्या यह समझने की गसती करने का मीका है कि हिन्दुस्तान का स्वराज्य उसमे पास है ? वह दे, और हिन्दुस्तान न ? उमक दिये जो चीज हिन्दुस्तान लेगा, वह हिन्दुस्तान का अपना स्वराज्य तो ही ही नहीं मकता है । हिन्दुस्तान न यह जान लिया है । ब्रिटेन को भी यह हमारा के लिए जान रखना चाहिए ।

लेकिन फिर क्या होगा ? हम चल गये तो क्या हिन्दुस्तान मे खून की नदिया ही न बहेगी ?

हा, सामद बहे । लेकिन खून की नदिया की फिर करना बहादुर इंग्लण्ड कब न साखा है ? क्या यह कातरता ही उसकी बहादुरी है ?

लेकिन हम पर पवित्र कतव्य है । हम उस कतव्य से मुह नहीं मोड़ने । सभ्यता की और अपने दायित्व की हम यहा रखा करनी है ।

यह कहने वाले ब्रिटेन को कहना होगा कि इस भयकर दम को भव छोडो । पहला अपने प्रति तुम्हारा कतव्य है । अपने घर पर भा सभ्यता की रक्षा की जरूरत है । बहा का दायित्व तो सिफ तुम्हारा है । जाओ और घर को संभाना नहीं तो सैनाब्र जाने वाला है और नहीं बहा जा सकता कि क्या हो जायेगा ।

ब्रिटेन फसकर भी न समझे तो हैरत है । हालत बदली नहीं है । फासिज्म मिट गया सही । पर इनके पर साम्राज्य और साम्राज्यवाद को सुरक्षित नहीं समझ नेता होगा । अचिल ने कहा था कि साम्राज्य को बचरन के लिए यह मन्त्री नहीं मने । साम्राज्य को विखरना तो होगा । मह काम अचिल से नहीं हो सकता था इससे उहे वहा से हटना पडा । जो इस काम को कर सकेगा वही मन्त्री योग्य होगा और मैं कहता हू कि वहा होगा जो इंग्लण्ड को बचाने वाला होगा ।

सन् चौह की और मन् खालीत की लड़ाया न होती अगर अग्रणी का साम्राज्य न होता । न हों अगर वह साम्राज्य न रहे । घाद स असलियत नहीं बनती, न अनलियत मिटती है । कामनवय दान अच्छा हो, पर बदर अगर मल है तो घाद वहां तक उसे डक पायगा । शब्द नहा मन चाहिए । करने का काम पहले से न होगा ।

यह था भाव उस भारत छोडो की सलाह का । उसमे प्रेम था सहानुभूति थी और सद्भाव था । वह नारा राष्ट्रीय था तो उससे अधिक अन्तर्राष्ट्रीय था । असन म वह मानवीय था ।

राष्ट्रों की राजनीति की आज की विछात पेचीदा है । सय से दयनीय न्यति है इंग्लण्ड की । वह बडी ताकत है लेकिन मधी नहीं है । अमरीका की बगल

में है तब तक घट है। ऐसी हालत में तो अहमाव दबना चाहिए और समझ मानी चाहिए। मही तो साम्राज्य उसका उसके गले की फाँसी हो रहेगा। अपनी गदन को देखे क्या वह भाज भी ऊँची उठ सकती है? क्या वह गदन जहा सहा तरह-तरह के नामा पर दबी हुई और फसी हुई नहीं है?

श्री एटली को सम्यता को बचाना है। इनके लिए दूर मन से जाकर उन्हें बम से सम्यता का खतरा है। उस बम को अपने में दबोचकर रखना है और सम्यता दोना महान्वितियों का भापस में मिल जुन रहना जरूरी बताती है। वही सम्यता क्या हिन्दुस्तान के बारे में उन्हें कुछ नहीं बनाती?

मैं कहता हूँ कि वह सम्यता नहीं है स्वायत्त है। इंग्लैंड की परम हिन्दुस्तान में है। यहाँ अगर वह सम्य नहीं है तो सम्यता का उसका दावा कही नहीं चलैगा। मुह की बात में नगी राज के काम में सम्यता बनेगी और बचेगी। विनायत में डर है कि हिन्दुस्तान में नफरत पदा हो रही है। डर मुझ भी है। लेकिन क्या सचमुच माना जाता है कि नफरत घुरी खीज है? क्या फिर मह चाहा भी गाता है कि नफरत पदा न हो और न बढ़? ऐसा हो तो ब्रिटेन के लिए दुबिया का भवसर नहीं है। उसे काम का अपना हिस्सा पूरा कर देना है। हिन्दुस्तान के भल के लिए इंगलिम्पान यहाँ हकूमत रखना चाहता है यह बात भी उसे मुह पर नहीं सानी है। इसका उठा भमर होना है। उस बात में गवाई होगी तो हिन्दुस्तान का नित उसकी गवाही भाप देगा। उस अपने मुह दुहराना नफरत बढ़ाना है।

हिन्दुस्तान का होगा वह हो जायगा। लेकिन ब्रिटेन के बने के लिए जम्मी है कि हाकिम के तौर पर वह जमीनी-जली हिन्दुस्तान छोड़ दे। राष्ट्रीय उदतता में भारत छोड़ो नहीं कहा गया था। बम-स-बम यह तत्क उस नाम नहीं बढ़ रहा है सिर्फ हुदय रखने के कारण ही उस यह बहना पड़ रहा है। इसमें दर दोना तरफ मन को विगाड़ ही सकती है।

प्रात निर्माण

प्रात निर्माण का प्रश्न मुझसे दूर है। मेरी राय उस बारे में अनिवार्य नहीं है। इससे वह कुछ सखातिक-सी हो तो अचरज नहीं। उसमें हेर-फेर हिन्दुस्तान का भाज का प्रान्तीय बटवारा भटल नहीं है। उसमें हेर-फेर की जरूरत है। सीधी-सी बात जिसके आधार पर प्रान्तों का पुनर्विभाजन हो सकता है वह है प्रान्त की सीमाओं का मापानुसार निर्धारित होना।

प्रांतों की आवश्यकता शासन के सुभीते के लिए है। इसलिए वह विभाजन भी शुद्ध स्वाभाविक नहीं हुआ करता। विभाजन अपने आप में ही कृत्रिम है। असल में भूमि पर खण्ड नहीं हैं और यदि कोई अपरिचित व्यक्ति यहाँ से वहाँ तक पैदल घूम जाये तो उसे यह पता नहीं चल सकता कि कब कहाँ वह एक प्रान्त से दूसरे प्रात में आ गया। इस तरह प्रान्त विभाजन का काम एक सांस्कृतिक कार्यकर्ता भरसक अपने जिम्मे न लेगा।

लेकिन जीवन में खाने नहीं है और कोई केवल सांस्कृतिक नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति नागरिक है और हो सकता है कि अपनी कृतव्य-तत्परता के फलस्वरूप लोकनेता का दायित्व उस पर आ पड़े। तब लोक-जीवन के सभी प्रश्न उसके सामने आयेंगे और प्रान्तीय सीमाओं के निर्माण का प्रश्न भी उनमें हो ही सकता है। स्पष्टतः यह प्रश्न राजनीति का है क्योंकि इसका व्यवस्था से सम्बन्ध है और व्यवस्था सम्बन्धी अर्थात् राजनतिक प्रश्न सीधे किसी सिद्धांत से हल नहीं होता क्योंकि वह एकमात्र बौद्धिक नहीं होता राग द्वेष की भावनाएँ उसमें मिली होती हैं। भिन्न भिन्न स्वार्थों के बीच में सामजस्य और सतुलन कायम रखने का वह प्रश्न होता है इसलिए उन स्वार्थों से अलग जाकर निरपेक्ष रूप से उसका निपटारा असम्भव है। इसलिए ऐसे प्रश्नों को बहुतमछ से हन किया जाता है। सही और गलत के बीच राज-कारण के क्षेत्र में कोई सैद्धान्तिक रेखा खिंची नहीं होती। लोकमत ही उसका निर्णायक है और लोकमत बनने विगडन वाली चीज है। इसी से धारित का हथौडा उस पर पड़ता रहता है।

प्रात विभाजन में मोटे तौर पर बोलियों के भेद का आधार मान लेना

चाहिए। पर मोटे तौर पर कहने का मतलब यह कि पूरे तौर पर यह नहीं किया जा सकता। बोलिया बन्द कमरो मे नहीं उगती। इससे व भापस में इतनी मिली-गुथी होती है कि उन्हें बाटकर एक दूसरे के प्रति पराया बनाना लगभग असम्भव काम है। सब सीमाप्रा और राजनतिक स्पर्षामो के बाबजूद बोलिया और भापाए परस्पर निकट प्राती रहती हैं और भापस म भारतीयता बढ़ाती जाती है। साहित्यिक जन यही किया करते हैं। स्नेह को मूल करने मे वे भापा को अपनी ही सीमाप्रा के बंधन से मुक्त किया करते हैं। सांस्कृतिक विकास की यही प्रक्रिया है और राजनीति उसको नहीं रोक सकती।

बुन्देलखण्ड के पठोस म भी यदि ब्रज है तो उन दोनो भापाप्रा का परस्पर एकी कारण अवश्यभावी है। वह हुआ है हो रहा है और होगा। जो हमारे भ्रखबार नहीं पढ़ते हैं और हमारे आन्दोलन जिह नहीं छूने व ब्रज भी अपने सहज मुख दुख की अभिव्यक्ति द्वारा सीमाप्रा को प्रस्वीकार करते हैं। एक सीमा रेखा के दायीं और बायीं ओर रहने वाले लोगो म यह बुद्धि हमेशा के लिए पदा नहीं की जा सकती है कि व भापस म पठोसी नहीं है। राजनतिक विभाजन और उसके आधार पर उपजाया गया स्पर्षा का भाव उहे भापस में लड़ा सकता है पर फिर भी यह लड़ाई स्याईं नहीं हो सकती और जीवन की सहज भाव-यकता भ्रन म उह मिलाकर ही छोटगी।

बुन्देलखण्ड ब्रज से भिन्न है। यह स्पष्ट भी हो पर ठीक किस रेखा पर वे भापस म एक दूसरे से भ्रसग होत है यह खोज निकालने का काम कोई मांस्ट्र तिक कायकर्ता अपने ऊपर नहीं लगा। क्योंकि उनकी भिन्नता से कही अधिक उनकी सामान्यता उनकी अभिन्नता उसके मन म बसी होगी। मरे मन में निश्चय है कि भ्रन्त म उनकी रेखा सञ्ची नहीं होगी और किसी-न किसी प्रकार स्वार्थो के सन्तुलन के निमित्त म वह बनाई जायेगी।

प्रात के बे- की बात जान दीजिये। वहा पृथक्ता तो कुछ स्थिर सी मालूम होती है। पर उस प्रान्त क सन्वर्ती जिल तहमील और परगने किस आधार पर लिए या छोडे जायेंगे ? समस्या ठीक इसी जगह है और क्योंकि ठीक इस जगह सांस्कृतिक समाधान काम नहीं द सकता इसम सिद्ध है कि वह समस्या भी राजनतिक है।

प्रांतीय चेतना यदि प्रबल और व्यापक हो उठे तो मस्त्रुतिनिष्ठ सोच-बर्मी सोच प्रतिनिधि की हैगियन से प्रात निर्माण क प्रदन म भाग ल सकता है। पर प्रांतीय चेतना उत्पन्न करने म उसका कोई भाग होने का अवसर नहीं होना चाहिए। क्योंकि उस चेतना का जन्म रनह म नही होता जो कि आत्मबलि

अर्थात् ऐक्य चाहता है। वरन् सूक्ष्म बहुमात्र में से होता है जो आत्मरक्षा की चेतना को उभारता और दूसरे की पृथक्ता और सदोपता देखा करता है। यही राजनैतिक वृत्ति का बीज है। मुझे लगता है कि स्वतंत्र प्रान्त निर्माण के प्रश्न का उद्भव उसी भूमि से हुआ होना चाहिए।

यह कहने में राजनीति से बचने का परामर्श नहीं है। केवल यही भाव है कि प्रान्त निर्माण का काम लोक-चेतना को प्रान्तीयता की दिशा में मोड़ने में नहीं बल्कि विग्रह-प्रस्त स्वार्थों को मिलाते के द्वारा सावभौम ब्रिटिश सत्ता को सत्य व्यर्थ बनाने के द्वारा अधिक सुकरता से ही सकेगा। बुन्देलखण्ड में कितनी रियासतें हैं—क्या वे किसी एक को मध्यस्थ मानकर आपस में मिल सकती हैं? ऊपर ब्रिटिश सत्ता की अधीनता में नहीं बल्कि स्वेच्छा से मिल सकती हैं? इतना हो सके तो बुन्देलखण्ड प्रान्त निर्माण का तीन चौथाई काम हो गया समझना चाहिए। तब बाद शामद ब्रिटिश प्रांतों के दो चार जिलों की बात रह जायेगी। उन जिलों को मिलाते के लिए रियासतों को भारी त्याग करना पडगा। उन जिलों के नाते ब्रिटिश सत्ता या जो केन्द्रीय सत्ता हो प्रांत पर हावी होने चायेगी। क्या उस समय बुन्देलखण्ड की रियासतें इतना त्याग कर सकेंगी या उन जिलों में अपने प्रति उतना आकर्षण पदा कर सकेंगी?

समूचा प्रश्न बुन्देलखण्ड को अलग करने का नहीं है बल्कि बुन्देलखण्ड को बाँटने का है। जनता में तो वह भ्रम भी जुड़ा हुआ है। यदि बटा हुआ है तो बट स्वार्थों के कारण। इसलिए बुन्देलखण्ड प्रान्त निर्माण का प्रश्न उतना लोक चेतन्य को उम दिशा में उद्देवित करने का नहीं है जितना उन विभक्त और 'यस्त स्वार्थों में त्यागपूषक परम्पर मिलने की भावना पैदा करने का है।

सुनता है कि अतिपय रियासतों के सम्मिलित हार्डकोट का जो प्रयोग किया गया था वह विधेय सफल नहीं हुआ। ऊपर की सत्ता के सहयोग पर भी वह प्रयोग नाकाम रहा तो यही कहा जा सकता है कि वे रियासतें अभी इतनी एकता के लिए भी तैयार नहीं हैं। फिर उस घण में भी घाने से भी इन्कार करने वाली दूसरी कई रियासतें थीं। सम्मिलित प्रान्त निर्माण के लिए सबसे अधिक उन रियासतों में हृदय परिवर्तन की आवश्यकता है।

या फिर ऊपर का धोर से वह सहज किया जा सकता है। पर उसमें प्रच्छन्न सबट है। सरकार ने ही सम्मिलित हार्डकोट का प्रयोग लोकहित की दृष्टि से न किया होगा। अर्थात् ऊपर की मुविधा के ह्याल में जो स्वतंत्र प्रान्त-निर्माण होगा उसे लोक सामान्य के हित से कोई सरोकार न होगा। मान लीजिये स्वाधीन भारत में ऊपर में अलग बुन्देलखण्ड प्रान्त बना दिया जाता है। उतने

मात्र से क्या भाज जो आपसी विग्रह की वृत्तियाँ हैं, वे चली जायेंगी ? सिवा इसके कि ऊपर से समूचे प्रान्त का एक शासक भा जायेगा और क्या होगा ? सांस्कृतिक कार्यकर्ता को इसमें विशेष तृप्ति न होगी।

सारांश १ प्रात निर्माण का प्रश्न उसी हानत [में] और उसी हृद तक विचारणीय है जहा तक उसमें वृत्ति मिलने और मिलाने की है।

२ इस दृष्टि से लोक चेतना को प्रान्तीय परिभाषा में बदलना या उमा रना अनिवाय नहीं है।

३ बुन्देलखण्ड यदि प्रान्त की दृष्टि से यदि एक नहीं है तो जिन बड़े स्वार्थों के कारण वह विभक्त है उनको पिघलाना और उन्हें किञ्चित् त्यागपूर्वक एक प्रान्त के आदान में संगठित करना होगा।

४ जनता में तो समस्त भूखण्ड अविभक्त है और अन्ततः प्रान्त-विभाजन में नहीं बकि प्रान्त-हीनता में जनता की सच्ची सेवा और प्रतिष्ठा है।

५ इस दृष्टि से तमाम विभाजन राजनैतिक काम है। और लोक प्रतिनिधि के तौर पर वह दायित्व के रूप में आ ही जाये तभी व्यक्ति के लिए उसमें पढ़ना श्रेयस्कर है।

६ ऊपर की सत्ता के बल से राजनैतिक प्रयोजन जल्दी सघता है। प्रान्त भी उसी तरह जन्दी बन सकता है। लेकिन उसमें असली लाभ विशेष नहीं है।

७ भाषाएँ आपस में दूर और अलग रहना नहीं चाहतीं। भाषा अपनी बात भागे पट्टवाने के लिए है। इस तरह भाषाओं से आदान प्रदान और समन्वय अनिवाय रूप से होता ही जा रहा है और होता ही जायेगा। यह ठीक है कि प्रान्त विभाजन बोलियों के भेद का अन्तर्व से अर्थान् राजनैतिक काम सहज विकास की तात्त्विक मर्यादों का आश्रय ले। लेकिन यह इसी में गभित है कि वह विभाजन का मूल्य अन्त और स्थिर न होगा विभाग-हीन होगा न प्रान्त स्वायत्ती होने पायेंगे जैसे कि कोई जीवित भाषा अप्रही नहीं हो सकती।

८ बुन्देलखण्ड प्रान्त का प्रश्न बुन्देली रियासतों के प्रमुखों के लिए है। और व स्वायत्त त्याग के आधार पर ही उधर बन सकते हैं।

९ जन सामान्य के मुखदुस से अलग जाकर इस प्रश्न पर विचार करने में सतत है और इस दृष्टि में पत्रों में नहा प्रतिनिधि परिषदों में चियात्मक धरातन पर उन सम्बन्ध में विचार हो तो हो सकता है।

राज्य सत्ता और नीति सत्ता

भाज के कार्यक्रम का राजसूय सवेरे ही मुझे मिला तो मालूम हुआ कि मुझे भी यहाँ बोलना है। तब से मैं असमजस में हूँ। यह असमजस का ही प्रमाण मानिये कि खड़ा नहीं हो रहा हूँ, बँठकर ही बोल रहा हूँ। असमजस का कारण यह कि दो बातें मैं जानता हूँ। पहली बात यह कि किसी वाम का आदमी न मैं रहा हूँ न हूँ। और दूसरी बात कि जिस जमात के सामने मुझे अब बोलना है, वह बेहद काम की जमात है। इसलिए अधिकार के नाते नहीं केवल आज्ञा पालन के नाते ही बोल सकता हूँ।

मेरी स्थिति दशक की है। दशक से भी कुछ बदतर नहीं है। दशक के लिए तो सामने का दृश्य तमाशा हो सकता है, मेरे सामने जो है वह तमाशा बिल्कुल नहीं है। मैं विश्वास रखना चाहता हूँ कि आप लोगों की यह जमात होने वाले शहीदों की जमात है। उन लोगों की जमात है जिनके लिए सिर्फ जमे-तसे जीते रहने का सवाल नहीं है बल्कि बड़े जीवन का समाज के जीवन का प्रश्न जिनके मन में बचनी पदा करता रहता है। इतनी बचनी कि उसी को अपने जीवन-मरण का प्रश्न बनाकर मानो अपनी निजी सुविधा की प्राप्ति देने की तयारी होकर आप यहाँ आ गये हैं। मानो अपने जीवन की और रक्त की ही अजलि में लेकर होमने की तयारी से आप आये हैं।

सर्वोप्य के बारे में मुझे लगता रहा है कि नीति का निवेदन और प्रकाशन उसका काम है अधिकतर इतने से उसका सन्तोष हो जाता है। लेकिन आज जो अभी प्रस्ताव पड़ा गया वह उस सीमा से आगे जाता है और मुझे इसकी खुशी है। कारण, उस आपा में निवेदन और प्रकाशन पर ही बस नहीं है आप उसकी ध्वनि में खनीती भी है बल्कि मैं मानना चाहता हूँ कि हमकी तरफ है। और अपनी ओर से मैं इसको सत्य-युक्त अहिंसा के बिल्कुल अनुकूल मानता हूँ।

वह अहिंसा जिसमें से मात्र निवेदन मिलता है, सकल्प की धनी नहीं मिलती है जल्दी ठीकी पक जाती है। तापमान उसमें जैसे आवश्यकता से कम

रहता है। अहिंसा वह भी हो सकती है जिसका तापमान भाव-यक्षता से अधिक हो और वह ज्यादा गरम हो। ज्यादा ठंडी और ज्यादा गरम दोनों ही अस्वास्थ्य की स्थिति बनी जायेंगी। किंतु स्वास्थ्य की अहिंसा में तापमान यथावश्यक तो होना ही चाहिए।

योरपि पहल की बात है योरप के महादीप का सबसे पश्चिम का देग इंग्लंड है और सबसे पूव का रूस और लन्दन से सीधा में मास्को गया। करीब योरप क सभी देग बीच म आ जात हैं। पर अब कौनसा देग आया और चला बो आपस म घाटती हैं। लगा एसा कि घरती है तो लगातार चला जा रही है और पानी है तो वह भी लगातार है बटा-बंटा नहीं है। आसमान जिसमें से मान बन रहा था वह तो एक है ही। लकिन घरती पर उतरते ही मालूम हुआ कि स्थिति बह नहीं है। घरती भी देगा म बटी है और सागर-धाममान भी राष्ट्रीय स्वत्वो म बट हुए हैं।

इस तरह प्रान पदा हो जाता है। मूरज के लिए घरती एक ग्रह है। यों भी घरती एक है आसमान और पाना एक है। लकिन यह भी कम सच नहीं है कि देग उस घरती पर अनेक है। अर्थात् एक और अनेक की समस्या बन रही होती है।

पहल जो एक के पानी सबकी एकता क चक्कर म रहते थे वे कवि दार्शनिक आत्मावागी आत्मा मान जाते थे। लकिन अब विज्ञान बहुत आगे बढ़ गया है। जीवन की गति बद्र गई है और आवागमन आलाप-मचार द्रुत और विस्तृत हो गया। स्वयं था बह अब यथायता के पाम आता जा रहा है। अब तो राजनता भी दसने-मानने को विवग है कि दुनिया एक है मानव जाति भी एक है। उनका हित परस्पर उमंग नहीं बल्कि आरण्ड है और भिन्ना जुला है। यह सब देखन हैं कि भी चलना उसपर आमान नहीं होना है।

देग अनेक है और अनेकता के कई कारण हैं। कारण ऐतिहासिक हैं भौगोलिक हैं सांस्कृतिक हैं आत्मा-आदि। उम अनेकता को एकरम टाल नहीं आता प्रान यह बनता है कि अनेक देग एक होकर चलें तो बस चलें ? अनेक उनकी देगनीधिया को चलाया जाय ?

में मानता हूँ कि अंगर एक बार हम स्वीकार कर लेते हैं कि मानव-जाति एक है और उमंग हित एक है तो उमम म यह निगय अनेक आन प्राप्त हो आता है कि देग-नीति और मानव-नीति परस्पर विमुक्त नहीं हो सकती।

अगर विमुख है तो वह देश-नीति विकृत है निरकुश है। मानव-नीति से बिछूट कर चलना चाहती है तो दर असल वह देश-नीति सच्ची देश-नीति भी नहीं है।

इस दृष्टि से यह भावश्यक होता है कि हर देश में ऐसे तत्व हों और वे सक्रिय रहे जो देश की नीति में यदि अस्वास्थ्य भाये ज्वर या विकार भाये तो उसको पहचानें और मानव-नीति के स्पष्ट से और स्वास्थ्य से विकार का समय-समय पर शमन कर सकें। ऐसा तत्व जिस देश में नहीं रह जाता है या नहीं रहने दिया जाता है वह देश विषय शांति के लिए सकट बन सकता है।

लेकिन आज तो एक पूरा दशन ही बन खड़ा हुआ है। उस दशन ने मानस पर प्रभुता भी हासिल की है। उसका कहना है कि समाज प्रत्यक्ष और मूर्त राज्य में होता है। राज्य ही समाज का प्रतिनिधि है, उसका अंत करण है। या तो वह दशन मानता है कि पूरी तरह स्वस्थ समाज को अलग से किसी राजतंत्र की आवश्यकता ही नहीं हानी चाहिए। लेकिन कब ऐसा होगा पता नहीं। इस बीच राज्य ही है कि जिससे समाज का सरक्षण होगा। राज्य का नेता माने वही लोक नेता भी होगा ऐसा मानने का परिणाम भावश्यक यह होगा कि देश के राज्य की नीति मानव-नीति से स्वतंत्र हो जायेगी। न केवल इतना ही बल्कि मानव नीति के ऊपर राज्य-नीति अधिपति होकर बैठेगी। वह स्वयं प्रतिष्ठ मूल्य बन जायेगी और सावरेन समझी जायेगी।

बहुत से लोग यह समझते हैं कि अगर राज्य सबहारा का हो जाता है तो पूंजी और श्रम आदि के विषय सम्बन्धों से बनी समस्याएँ समाप्त हो जाती हैं और अभिष्ट प्राप्त हो जाता है। दूसरी ओर लोकतंत्र का नाम चल रहा है, जिसमें चुनाव के जरिये कुछ लोग राजतंत्र पर जाकर बैठते हैं और राज चलाते हैं। मान लिया जाता है कि यह लोकराज है, अर्थात् राजा का राज नहीं, प्रजा का राज है। चाहे दशन मानस का किया हुआ हो या चाहे सद्गुरु गोपी विनोद जसे ऋषिणा से प्राप्त किया जाय। सबमें से यह प्रगट है कि जो राज पूरी सौर पर प्रजा का है, लोकराज है वह तंत्रप्रस्त नहीं बल्कि तंत्रमुक्त भी है। वह प्रशासन का नहीं बल्कि अनुशासन का राज्य है। उसका मतलब व्यवस्थाहीन राज नहीं बल्कि व्यवस्था अतव्यवस्था है लदी हुई व्यवस्था नहीं है।

उससे पहले जो भी व्यवस्था हो उसमें दो पक्ष होते ही हैं। एक राजा का पक्ष दूसरा प्रजा का पक्ष। नाम उस लाक्षणिक प्रशासन का है या जो चाहे भी है। शासन का काम आबन्धक होता है तो शासक के नीचे किसी शासित को रहना ही पड़ता है।

ऐसी स्थिति में मुझे लगता है कि उन लोगों की जमात एक अवश्य होनी चाहिए जो शुद्ध-नीति से तद्गत होकर चलना अपना पहला कर्तव्य मानें। मानव-नीति, सत्य-नीति धर्म-नीति ही उसके लिए पहली और अन्तिम वस्तु हो, वही उनके लिए प्रमुख और प्रधान हो। श्रद्धा लीज होने चाहिए जिनको न राजत्व दरकार हो न हक न अधिकार न पद। यानी ऐसे लोग जो दूसरे को सही राह चलाना उतना न चाहें जितना पहले स्वयं सही रहना और चलना चाहें।

ऊपर की बात को समझने के लिए हम गांधीजी के जमाने को याद कर सकते हैं। उस जमाने में गांधीजी और कांग्रेस का जो संबंध रहा उसका अध्ययन बहुत सामंजस्य होगा। कांग्रेस के पास राष्ट्र-नीति के अलावा और कोई नीति का मान नहीं था। गांधीजी ने कहा कि राष्ट्र-नीति मानव-नीति के अलावा और कुछ ही नहीं सकती। यानी राष्ट्र के काम में उन्होंने सौ प्रतिशत इस मानव-नीति का प्रयोग किया और इसका एक अमूल्य परिणाम देखने आया। राष्ट्र-चारण और राज-चारण उस मानव-नीति से समुक्त होकर निबल नहीं बने बल्कि प्रबल बने। इतने प्रबल बने कि देश में स्वराज्य आया यानी एक राजनीतिक शान्ति ही सफल हुई। यह बात विद्वानों के लोगों की समझ में नहीं आई। और आज जैसे हमें स्वयं उस पर विस्मय ही नहीं संभव भी होने लगता है।

अभी यात्रा पर रूस जाना हुआ था तो कुछ लोगों से मासूम हुआ कि हम राजनीति जानते नहीं हैं अगर ये समझते हैं कि गांधीजी ने भारत को स्वराज्य दिलाया। वह इस बात को हमारा धर्म मानते थे। तो मैंने कहा कि सत्य बात आप बसाइए। और उन्होंने बताया कि यह सही शान्ति थी जिसने भारत को स्वराज्य दिलाया!

उनमें एक वस्तु बहुत योग्य थे। उन्होंने सुनाया कि वे बेहद बेकार युवक थे। लेकिन जब शान्ति की सहर आयी तो मानो सुलग कर वे चिनगारी बन गये। उस शान्ति ने देश को साया पड़ा था उसको ऐसा अगाया कि वह डुबकार ले उठा। मैंने कहा कि आपका साथ यह घटना घटित हुई। मैं भी भुक्तमोगी हूँ और मेरे साथ भी ऐसी ही घटना घटित हुई। आपके साथ यह विचार रहा होगा कि दूसरा कोई हाथ उठायेगा कि उसको पहन ही आप खतम कर देंगे या शान्ति के बाँध सासन हाथ में लेंगे। लेकिन गांधीजी के अनुयायियों को ऐसा कोई सहारा नहीं था। फिर भी उनके उदाहरण और प्रेरणा से लोग अपनी जान का हथेली पर लेकर आगे आये जेल गये और किसी कुर्बानी से पीछे नहीं हटे। क्या आप स्वयं नहीं मानते कि फल कुर्बानी का आता है? पर उन्हें विश्वास

न आता था।

उस समय क्या देखने में आया था ? देखने में यह आया था कि गांधीजी के द्वारा मिले अन्तःकरण के जागरण में से लोगों को अपना धन खुद हराम मालूम होने लगा था। वे अपनी सुख-सुविधा को खुशी से उजाड़ने आगे आ रहे थे। आज दृश्य उलट गया लगता है। स्वायत्त की भावना के लिए नहीं, बल्कि उसकी पूर्ति के लिए ही अब लोग सामने आते हैं। यह सब इसलिए कि राजनीति मानव-नीति से पिछड़ गई है, मिछुड़ गई है। ऐसा होगा तो राजनीति स्थायनीति बनकर संकट के सिवा और किसकी सृष्टि कर सकेगी ?

आज इस प्रस्ताव से गांधीजी के युग का स्मरण हो आता है। लगता है कि वह युग ही न आ गया हो ! आज की राजव्यवस्था में हम तरह-तरह से विवश हैं—जैसे यही कि चीनी नहीं मिल रही है गुड का भी संकट है। दुष्ट हो कि साथ, कोई राज्यव्यवस्था से भ्रष्टता नहीं रहता। राज की व्यापक व्यवस्था है और वह सबको छूती है। यदि जहाँ दुःख है वहाँ सुख पहुँचाना हो तो वह नाम किसी धर्म-नीति अथवा मानव-नीति को सबथा राजनीति से निरपेक्ष रख कर कैसे हो पायेगा ? मैं मानता हूँ कि मानव-नीति अथवा मानस नीति को अधिकार नहीं है कि वह राज की नीति से उदासीन बनी रहे। मानव नीति का अगर अपनी जगह पर सन्निध्य बलवान बनेगा तो राजनीति के दोषों को दबा सकेगी। दरभसन मुक्ति के जिस प्रवास से अन्याय या धापण करता नहीं है वह मुक्ति का प्रवास ही नहीं है। वह अध्यात्म भी नहीं है। जिस अहिंसा से हिंसा करे नहीं वह अहिंसा कैसी ?

मुझे आज एक घटना से परम सतोष प्राप्त हुआ है। विनोबा ने एक दिन पहले इसी मंच से पंडित नेहरू की प्रशंसा की थी। कहा था कि वे शांति के सर्व्व सन्निक ही नहीं हैं सेनानी भी हैं। यह बात गहरी सच्चाई और गहरा विश्वास बन गई थी। दूसरे दिन इस प्रस्ताव के ही विषय को लेकर उठोने कहा कि 'डिफेंस आफ इंडिया' के नाम से हो रहा है वह 'डिफेंस अगेंस्ट इंडिया' है। दोनों बातें जवाहरलालजी पर आती हैं। और दोनों ही बल के साथ और विश्वास के साथ कही गई हैं। यही मैं अहिंसा का सत्य के साथ बल देखता हूँ। यह अहिंसा है कि जवाहरलालजी की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की जाती है। लेकिन यह सत्य है कि उसी दृढ़ता के साथ उस नीति की नरसना की जाती है जिसका अन्तिम दायित्व जवाहरलालजी पर आता है। सत्य और अहिंसा के इस मगम की घटना से सचमुच आगे के लिए आशा बचती है विश्वास प्राप्त होता है।

आपने सामने गुद-नाइसारी का प्रदन है। इस सब में जो बीता है वह

ग्रामोद्योग की नीति पर उसकी बुनियाद पर ही प्रहार है। ग्रामोद्योग का कमीशन सरकार ने बनाया है। सरकार खपता देती है उस काम में पूरा सहयोग करती है। भ्रमा श्रीमन्नारायणजी ने आपका बताया है कि ग्रामोद्योग का उन्नति में ही नहीं पचायत्ता द्वारा जो ग्राम-स्वराज्य लाने की फल्पना है उसमें भी सरकार पूरा योग देना चाहती है। फिर य दोनो बातें एक साथ कैसे चलती कैसे चल सकती हैं ?

सरकार ने कुछ नागा की पकड़ा भी है और जल भरा है। उन्हें अपराधी और दुराचारी मान कर नहीं पकड़ा है तो क्यों पकड़ा है ? सरकार को एक अपनी नीति होती है और वह देश-नीति को दृष्टि में रखते हुए बनती है। तो उन्होंने उस सरकारी नीति का भंग किया है देश हित के खिलाफ काम किया है इस लिए उस अपराध में उन्हें पकड़ा गया है। डिफेंस आफ इंडिया का कानून तो देश की रक्षा के ही लिए तो है।

अब मवाल है यह कि सरकारी विहाज में देशहित किसमें है ? तो उस हिस्से से देशहित है उद्योग बंदान में। उद्योग नहीं बंदगा तो देश भंगे नहीं बंदगा इत्यादि इत्यादि। इसमें ही नीति प्राटेकान फॉर विंग इंडस्ट्रीज की निबन्धी। उसका लिए जरूरी ही जाना है कि गन्ने का उपज का बड़ा हिस्सा कानूनन मिला का पट्टाया जाय और गुठ बनाने-ले जान पर बन्धन मान दी जाय।

इस तरह आप देखिये कि दो नीतियां बन जाती हैं। सर्वोदय प्रश्न को जिस रूप में देखता है उससे नीति प्रोटेक्शन अगेन्स्ट विंग इंडस्ट्रीज की बनती है। यह फॉर और अगेन्स्ट की दो विमुख नीतियां ही सामने आ जाती हैं। केवल 'गुठ-खाउसारी' के मामले में नहीं समूची अथ व्यवस्था और व्यवसाय उद्योग आदि के बारे में दो नीतियां हो जाती हैं। आपकी इस उभात की एक नीति है जिससे आप लोक की तरफ चलना चाहते हैं। दूसरी नीति यह है कि जिसमें सत्त का तरफ बना जाता है। इस तरह लोक और सत्त के बीच कोई सम्बन्ध नहीं रहता पूरा तलाक हो जाता है। इन विमुखता और विपरीतता को कोई मूलना है तो मैं समझता हू कि वह जबदस्ती ही उस मूलना चाहता है अन्यथा बात बहुत उजागर है।

मैं मानता हू कि सषय कभी जोयन का घम नहीं होता। लेकिन सत्य और असत्य के बीच समन्वय भी कभी नहीं हो सकता। अर्थात् समन्वय में आगे हम नहीं महा-समन्वय की तरफ न बंदन का सोचें। शास्त्रण के आगे 'महा जोड' कर जब महाशास्त्रण बना लिया जाता है तो आप जानते हैं कि उसका क्या अर्थ

बन जाता है ! इसी तरह समझ लीजिय कि महा-समन्वय से क्या चीज हो जायेगी ! प्राप्त धर्म के रूप में सधम भाये ही तो उसे महा-समन्वय से टासना मानो पसीने को कीचड़ से पीछने जसा हो जायगा । तब समझ लना चाहिए कि उसके पीछे की अहिंसा अद्वयवादी अहिंसा रह गई है । सत्यवादी अहिंसा के लिए अद्वयवादी बनने का कोई अद्वय नहीं रह जाता है ।

कम्यूनियम सिद्धांत की ओर अपने आप में क्या बुरी चीज है ? धर्मिकों के हाथ में प्रभुता हो तो क्या अनिष्ट है ? अनिष्ट उसमें है तो यह कि हिंसा को प्रतिष्ठा दे दी जाती है । परिणामतः साम्यवाद के नाम पर एक रायवाद उठ खड़ा होता है । परन्तु लोकतंत्र के नाम पर भी वसा ही राज्यवाद उठ खड़ा होने लग जाय तो क्या हो ? मुझे लगता है कि राज्यवाद में से ही जो प्राण दिखा जा रहा है सो एक बड़ी दुघटना है । जैसे राजनीति ही समूची नीति और अंतिम मूल्य हो और उसके लिए कोई ऊपर अक्षुष्य ही न हो । बड़े दुर्भाग्य की घात होगी अगर राज्यवाद को पनपने दिया जायेगा । इससे ऐसा लगता है कि शांति का प्राण लेकर चलने वाले लोगों के हाथ में शांति नहीं है बल्कि वह उन हाथों में है जो एटम बम बना रहे हैं । ऐसा विभ्रम पदा हो गया है कि रूस और अमेरिका के नेता और राजनेता चाहेंगे तो युद्ध होगा और वे चाहेंगे तो शान्ति होगी । लोग भाशा करने लगते हैं कि यह काफ़ेस हो जाय तो काम ठीक हो जायगा वह प्रस्ताव हो जाय तो बात समल जायेगी । लेकिन मैं मानता हूँ कि राज प्रतिनिधियों की काफ़ेस स्वतंत्र रूप से कुछ कर नहीं सकती । लोक मानस की तयारी और तज्जन्य विद्यमानता में से ही वे कुछ कर पाती है । काफ़ेस तो हुई भी है हो रही है और होगी भी । लेकिन हम सब लोग जिम्मेदारी न उठायें तो बचारी वे काफ़ेसों हमारे लिए कुछ विरोध नहीं कर सकती ।

दनदिन की जिम्मेदारी से अलग भाजकल एक नया रोमांसवाद शहीदवाद भी चला है । कहते हैं चलो भाई नेफा में मर जायेंगे ! मैं मानता हूँ कि बड़ी घात है यह शहीद होना । लेकिन जिन्दगी भर शहीद रहना और भी बड़ी बात हो सकती है । अगर लाखों करोड़ों शहाहत की तमन्ना में जाग जायें तो सब जानिय कि सहास और नेफा के मोर्चे खड़े ही न हो पायेंगे । जो शांति नेफा और सहास में मरने जाकर करने वाले हैं वह यहाँ से ही आप आसानी से कर सकेंगे । रोग तो यह है कि हम जान-माल के मोह में रहते हैं रक्षा जैसे उनकी करना चाहते हैं । वह सब विमज्जन करने की तयारी हमारे नित्यप्रति के जीवन में जिस रोज दीवेंगी उस रोज राजनीति भी अस्त्रास्त्र बनाने और युद्ध में लोगों को मौतने की मजबूरी से मुक्त हो जायेगी ।

इस सन्दर्भ में गांधीजी की याद आती है। स्वराज के युद्ध की कमान उनके हाथ में थी। गांधीजी इजाजत देते थे सब कोई सत्याग्रही बनता था। कांग्रेस का अध्यक्ष एक तरफ और गांधीजी एक तरफ। उस समय गांधीजी से कहा गया कि तुम स्वराज लाना चाहते हो उसके लिए कार्यक्रम देते हो, तो पहले उस स्वराज्य की शकल तो बताओ। भोग कहते-कहते हार गये पर गांधीजी ने उसकी शकल कोई नहीं बताई और स्वराज्य मिल भी गया। लोगो ने बहुत कहा तो सब एक समिति बन गई थी और उसने एक विधान भी तयार किया था। वह विधान में सब पूछा गया न अब किसी को उसकी याद होगी। मुझे थोड़ा प्रवीण-सा लगता है कि वह जमात जो नीति और कार्य की दृष्टि से गांधीजी का उत्तराधिकार पा गई है, जिसमें कि सारी रचनात्मक संस्थाएँ समूह के रूप में एकत्रित हो गई हैं वहाँ भी 'सोशलिज्म' जैसे शब्दों का व्यूह चल जाता है। कांग्रेस में वैसे शब्दों को खर उरसाह और व्यस्तता हो तो एक बात है। लेकिन सत्य से विहीन जो शब्द बवल तत्र के हैं उन शब्दों को सिर चढ़ने देना कोई बुद्धिमानी तो नहीं है।

सरकार की तरफ से जो किया जा रहा है जनता के हित में किया जा रहा है, उसके सम्मान में किया जा रहा है जो हो रहा है लोकहित में हो रहा है। उस सबकी तक-संगति प्लानिंग की रिपोर्ट में पाई जा सकती है। भाषकों घसा जवाब अन्यत्र नहीं मिलेगा। खेत में सींग वह पैदा नहीं करते जो खाने के काम आ सकता है। चीज वह पैदा की जाती है जिससे विदेशी मुद्रा मिल सकती है। उगायेंगे वह जो पैसा साय और पस से लायेंगे वह जो फिर वापस जाय। इस तरह एक लम्बा चौड़ा चक्कर चल रहा है। दौलत भी बढ़ रही है साय भूल और बकारी भी बढ़ रही है। मेरा अपना ख्याल है कि यह सब इसलिए कि शब्दों की उलझन में हमारा दिमाग भ्रामणीय हो फन जाता है, ऐसा कि तत्र की बातों में खो जान को हम तयार हो जाते हैं। मैं मानता हूँ कि 'डिमोक्रेटिक' या 'सोशलिस्टिक' जैसे शब्द सिर्फ तत्रारम्भ हैं सर्वोत्तम सध्यात्मक हैं। और मुझे लगता है कि जितना हम तत्र की बातों से मुक्ति पायेंगे उतना ही सत्य की बातों की ओर आगे बढ़ सकेंगे। राजनीतिक धरावली लोगों के सिर पर चढ़ जाती है और भूल-व्यास भूलकर निम्नलिखित बातों में फन जाता है। उससे हम बचना चाहिए।

बोवट की बात पोछ भी हो सकती है या नहीं भी हो सकती। मुख्य तो वह है जिसके लिए बोवटा है। अर्थात् वे मानव-समय जिससे समाज का बसे-

बद बनता है उस पर फिर तन्त्र क्या खड़ा हाता है खोसटा क्या उस पर जमाया जाता है, यह बात उतने महत्व की नहीं है।

मुझे धारा करनी चाहिए कि नीचे से उस यथाय और नतिक शक्ति को पैदा करने की ओर ध्यान जायगा जिससे राजनीति की निरक्षुण्णता और उसका प्रमाद कटे और राज्य-सत्ता से ऊपर एक नीति सत्ता का निर्माण हो।

दिसम्बर '६३

निर्माण और सृष्टि

'योजना' शब्द को संकर मुझे दो अरित्र पाद आते हैं। उन दोनों की पाद से प्रश्न उठता है कि योजना और सजन का आपस में क्या सम्बन्ध है ?

पड़ोस में एक बच्चा थे। उनका हाल ही देहान्त हुआ है। देहान्त के समय मैं पास उपस्थित था। मृत्यु उनकी सुखपूर्वक नहीं हुई। वह अपने बारे में अविश्वस्त थे अपने को विफल और अकृतार्थ मानते थे। सोचते थे कि नया जीवन शुरू करने का मिल तो वह नए तरीके से जीए। जिस तरह उनका जीवन गया और बीता उसमें मुख्य को उन्होंने गौण और गौण को मुख्य मान लिया था। यह भूल अन्त समय में उनको बहुत ही चुभ रही थी। भौतिक सुख सुविधा उनके भास-वास भरपूर था। परिवार भी भरा-पूरा ही था। सामाजिक मान प्रतिष्ठा भी थी। लेकिन यह सब उन्हें निस्सार जान पड़ता था और तनिक आश्वासन न दे पाता था। बल्कि उल्टे उस कारण उनको लगता था कि उनमें सगे-सम्बन्धी अन्त समय में उनके स्वयं के बारे में चिन्तित नहीं हैं, बल्कि उनकी निगाह उनके पीछे यही छूट रहने वाली धन-सम्पदा पर जमा है। उनको साफ दीखता था कि जो उनकी सेवा की जा रही है सब औपचारिक है। मन किसी का उसमें नहीं है सबका उनकी जायगद में है।

यह बच्चा सामारण स्थिति से अपने बाहुबल और बुद्धि-बल से सत्ता सम्पत्तिशाही बने थे। योजनानुसार उनका जीवन चला। परिणाम यह था कि सारा मोहन्ता उन्हां का अपना था। पन्द्रह से बीस हजार तक की मासिक आमदनी उसकी होगी। प्रत्येक निर्माण उन्होंने योजनापूर्वक किया था और जहाँ पूजा लगाने वाली उन्हें वह दुगुना लाभ दे गई थी।

इन बच्चे के जीवन में योजना की कमी नहीं थी। फिर भी अन्त में कहीं न-कहीं कुछ त्रुटि रह गई थी जो अन्त समय में उन्हें सजती थी और मृत्यु में उन्हें सान्त्वना नहीं पहुँचा पाती थी।

क्या यह कहा जा सकता है कि उन्होंने अपने जीवन में निर्माण तो बहुत किया था पर उसका रूप सृजन का नहीं था ? सृजन में मानते अपने की साहद

दूसरो के साथ बांटा जाता है। निर्माण में अपने को बाहर सरक्षित और प्रतिष्ठित किया जाता है। निर्माण बुद्धिपूर्वक बनाई गई योजना के अनुसार होता है। सृष्टि में बुद्धि की तो आवश्यकता होती ही है किन्तु उसके लिए अन्तस्फूर्ति भी अनिवार्य होती है। स्फूर्ति के द्वारा वह निर्माण व्यक्ति के हृदय में से जुड़ जाता है इसलिए वह स्वयं व्यक्ति से अलग नहीं होता और उस पर दबाव नहीं लाता। सद्भाव और सहृदयता से विहीन केवल बुद्धि के व्यापार से जो रचना और सफलता खड़ी की जाती है वह व्यक्ति से स्वतंत्र हो जाती है। बल्कि व्यक्ति को पीछे धकेलने तक लग जाती है। इसीलिए बहुधा देखा जाता है कि सम्पत्ति को लेकर आप-बेटों और भाई-भाइयों में प्रीति की जगह घर होन लगता है। यहाँ तक कि वे दूसरे के खून के प्यासे हो जाते हैं। दूसरे के एक परम बुद्धिशाली विद्वान् मित्र। गुरु से पढ़ने में तेज रहें। एम० ए० तक सब परीक्षाओं में प्रथम भाग्ये थे और विद्या में उनको इतनी रुचि थी कि किसी आई० सी० एस वगरह की परीक्षा तक में नहीं बैठे। उन्हें किंग्ण होना था और ऊँचे प्रोफेसर का यग पाना था। ऊँचा साहित्य पढ़ते थे और टायरी लिखते थे। एम० ए० करते ही उन्हें यूनिवर्सिटी में अध्यापन का काम मिल गया था। किन्तु उन्हें कम्ब्रिज जाना था और शिखर तक पहुँचना था। उनकी योजना सुनिश्चित थी। उनका विषय अग्रजी था और ३७ ३८ नहीं तो चालीस वर्ष की अवस्था तक अटल था कि भारतवर्ष में अग्रजी भाषा के प्रमत्कार में वह सर्वोपरि दिखाई दगे। मेरा उनका परिचय महा कालेज में अग्रजी के घट्ट अध्यापक बने तब हुआ था। जीवन में सम्बन्ध में उनके पास सब नक्शा लिखा खिचाया था योजनाएँ सुसम्पूर्ण थी। मन में निश्चय था कि वाधा कोई बीच में आयेगी तो गिर कर रहेगी उनकी सफलता को कोई रोक नहीं सकेगा। मेरा जब परिचय हुआ तो देखा कि उनकी याणी में अमित वेग है जीवन में भी उतनी ही त्वरा है। परिणाम यह हुआ कि शायद छ महीने तो वे कालेज में टिके। उसने अधिक निभना सम्भव नहीं हुआ। गुरु पता लगता रहा कि वह इस कालेज से उस कानेज गये हैं और फिर कहीं तीसरी जगह वह प्रिति पल बन गये हैं। यह जल्दी-जल्दी उनके स्थान का बदलना उनके वेग और अपने सम्बन्ध की अटल निश्चयता के कारण होता था। वह जो जानते थे निश्चित जानते थे और दूसरे से अधिक जानते थे। प्रोफेसर थे तो उनकी प्रिति पल ने तन भाती थी प्रितिपल थे तो कमेटी से अनवन हो जाती थी। घर का हाल यह था कि पत्नी से बनती नहीं थी। कभी-कभी भाती थी अधिकांश वह मादने ही रहा करती थी। लेकिन उस कारण उनके प्रतिभागासी पति

का घर सूना नहीं रहता था। प्रतिभा क चमत्कार से घर चमचमाता हो नियाई देता था।

अब वह मित्र नहीं हैं। पालीस वय की अवस्था उनको मिल पाई कि नहीं में कह नहीं सकता। इतना जरूर मुना गया कि अत समय एक बरस से वह बेकार थे। कोई विद्यविद्यालय उन्हें लेने को तयार न था। अपने सम्बन्ध में जिनने विद्वस्त हुआ करते थे होत-हाते दधर आकर उतने ही अविश्वासी होन लग गये थे। हर किसी से उन्हें चिड़ होनी थी। बीमारी में परिचारक और मेवक पर ही ठनने लग जाते थे। आखिर जो मृत्यु उहोंने पाई भगवान किसी को न दे।

उदाहरण और भी मन में आते हैं। पर यह दो बहुत उजागर मामलूम होने हैं। उजागर यह दिखाने के लिए कि बुद्धि द्वारा योजनाओं का जो निर्माण होना है जीवन की कृतायता के लिए उससे कुछ अतिरिक्त की आवश्यकता होती है।

आज के अस्वराज्य मिले पन्हु से ऊपर बंध हो गये है। इसमें पा-पचवर्षीय योजनाएं आई हैं और तीसरी अब चल रही है। योजनाओं का निर्माण भरपूर चिन्तन के साथ हुआ है और पूरी तत्परता से उनका पालन और फलन किया जा रहा है। कहीं थोड़ी बहुत धुटिया रही हों तो उनका होना तो अनिवार्य ही है। बड़े-बड़े कामों में इतनी चूक की गुंजाइश माननी ही चाहिए। आखिर आदमी आदमी है और सो फीसदी मशीन नहीं है। मशीन पर जिस तरह निभर किया जा सकता है वैसे आदमी पर नहीं किया जा सकता। वह विद्वसनीय लोहे फीलाद का बना नहीं होता हाट भांस का बना होता है। इसलिए जहां आदमी रहेगा वहां थोड़ी-बहुत भूल-चूक होनी तो साजमी है। उसके अज्ञात योजनाओं का काम धान से पूरा हो रहा है।

पर देखते हैं कि दिक्कत भी है। दिक्कत न होती तो कामकाज योजना क्या आती? अन्ध लोते धनुमवी और मफल और परायण और कमठ और सपस्वी नेता मंत्री को कुर्सी छोड़कर बाहर क्या आते? और तो और पण्डित नेहरू ने स्वयं आहा कि प्रधान मंत्री का काम छोड़ कर उससे जरूरी दूसर काम में लगें। इन मंत्रियों ने हनुमन छोड़ी और उन्हें यह जिम्मेदारी का पन् छोड़ने निया गया तो आखिर इसीलिए न कि कोई बड़ी दिक्कत सामने आगई होगी। मंत्री से बड़ा कोई काम करने को होगा जिनको जिम्मेदारी उनके मजकूर बन्धा पर डालना जरूरी हो गया होगा।

यह बड़ा काम क्या था?

मेरे खयाल में स्वराज्य की गाड़ी में कहीं भ्रष्ट-प्रेरणा की कभी अनुभव की जाने लगी थी। प्रेरणा से आदमी चलता है और यह प्रेरणा ऐसी चीज है कि हिसाब के भ्रका में नहीं बघती। योजना से वह बाहर छूट जाती है। माल और सामान को हम जुटा सकते हैं और धन राशि का भ्रव उसके प्रतीक हैं। इतना करोड़ रुपया बक में है तो हम मान लते हैं कि इतनी सामग्री हमारे पास है। वस्तुओं के उपयोग पर आदमी जीता है और इस तरह सनसाह के हिसाब से हम आदमियों का भी धन के भ्रवों में बिठा लेते हैं। धन का हिमाव हो गया तो मानो जन का भी हिसाब हो गया। क्योंकि आखिर जन का धन का साथ समीकरण किया जा सकता है। इस तरह बजट बना और बजट की राशि संप्रहीत हो गई तो लगता है कि भ्रव योजना में कहीं कुछ कमी नहीं रह गई है।

लेकिन जो चीज हिसाब में आई नहीं है और भा नहीं सकती वह कम प्रमुख नहीं है। उसकी ओर दुलक्ष किसी तरह नहीं किया जा सकता है। और वह है जनस्पृति। लोकमानस में उस प्रेरणा का होना आवश्यक है कि जो उस समस्त धन राशि के साथ न्याय करे। यह प्रेरणा किसी न किमा निर्बैयक्तिक आदर्श के साथ जुड़ी जाती है। अगर सबको अपने-अपने स्वाय का ध्यान हो तो सामाजिक योजना में लगने वाला एक करोड़ रुपया मानो बीच में छीजते-छीजते भाषा ही रह जायेगा। हर मांड पर तो आखिर आदमी ही आता है। अगर उसके मन में स्वार्थ से ऊंची प्रेरणा न हो तो वह अपनी जगह पर क्या उस बहती हुई राशि में से कुछ अपने लिए खींच और कुतर नहा लगा। यही बाज है जिसको भ्रष्टाचार कहा जाता है और स्वराज्य के बाद जिसके उत्पात ने देश की नाव को डगमग कर रक्ता है।

निर्माण स्वाय बुद्धि से भी होता है। सृष्टि उससे नहीं हो सकती। इस लिए हम देखते हैं कि सृष्टि की प्रक्रिया में एक छोटा बीज एकांत सुनसान में पड़ कर अपने आप हाते होत विनाल बृक्ष बन जाता है। उन विद्यान्ता की योजना कोई पहले में नहीं थी। बाज मन्दा ला था। उन बृक्ष धनने का पत्ता तक पायन न हो। वह तो अपनी जगह धरती में भूह गाड कर गलता चला गया। उसके इस अपने में गनने और धरती से एकरस होने की प्रक्रिया में से फिर अकुर फटा। अकुर के भूल ने आत्मपाम धरती में से रस खींचा, उसकी खुलती हुई पत्तियां न बाहर धूप-हवा में स सुराव जुटाई और बक्ष उठता-बडता ही चला गया। बीज में जो था और उसमें से पनपन हुए अकुर में जिस मात्रा में पवित्र हो सकी बाहर से उसी अनुपात में साधन उसमें लिए जुटने चल गये

का घर सूना नहीं रहता था। प्रतिभा के धमकाए से घर धमकाता ही दिखाई देता था।

भव वह मित्र नहीं हैं। चालीस वय की भवम्या उनको मिन पाई कि नहीं भी कह नहीं सकता। इतना जरूर सुना गया कि भक्त समय एक बरस से वह बेकार थे। कोई विन्विद्यालय उन्हें लेने को तमार न था। भवने सम्बन्ध म जितने विद्वस्त हुमा करते थे होते-होते इधर आकर उठने ही भविष्वासी होने लग गये थे। हर किसी से उह चिठ होती थी। भीमारी म परिचारक और सेवक पर ही ठनने लग जाते थे। आखिर जो मृत्यु उहोंने पाई भगवान किसी को न दे।

उदाहरण और भी मन म आते है। पर यह दो बहुत उजागर मामूम होते हैं। उजागर यह दिखाने के लिए कि बुद्धि द्वारा योजनाओं का जो निर्माण होता है जीवन की कृतायता के लिए उससे कुछ अनिश्चित की भावस्यता होती है।

आज देश को स्वराज्य मिले पन्ह से ऊपर वय हो गये हैं। इसम दो पंचवर्षीय योजनाए आई हैं और तीसरी भव चल रही है। योजनाओं का निर्माण भरपूर चिन्तन के साथ हुमा है और पूरी तत्परता से उनका पालन और फलन किया जा रहा है। कहीं थोड़ी बहुत भुटियां रही हो सौ उनका होना तो अनिवाय ही है। बड़े-बड़े कामा म इतनी चूक की गुजाइश माननी ही चाहिए। आखिर आदमी आदमी है और सौ फीसदी मनीन नहीं है। मनीन पर जिस तरह निभर किया जा सकता है धने आन्मी पर नहीं किया जा सकता। यह विन्वसनीय लोहे पीनाद का बना नहीं होता हाइ मांस का बना होता है। इसलिए जहां आदमी रहेगा वहां थोड़ी-बहुत भूल-चून होनी तो साजमी है। उसने धतावा योजनाओं का काम धान से पूरा ही रहा है।

पर देखते हैं कि दिक्कत भी है। दिक्कत न होती तो कामराज योजना' क्यों आती? अध्ये त्रासे अनुमधी और सफल और पराधरण और कमठ और सपस्वी नेता मनी की कुर्सी छोडकर बाहर क्यों आते? और तो और पण्डित नेहरू ने स्वयं चाहा कि प्रधान मंत्री का काम छोड कर उससे जरूरी दूसर काम में लगे। इन मंत्रियों ने हुकूमत छोड़ी और उहें वह जिम्मेदारी का पन् छोडन दिया गया तो आखिर इसीलिए न कि कोई बड़ी दिक्कत सामने आगई होगी। मनी से बडा कोई काम करने को होगा जिमती जिम्मेदारी उनके मंत्रकृत कायों पर डालना जरूरी हो गया होगा।

यह बडा काम क्या था ?

मरे क्षयान म स्वराज्य की गाड़ी म कहीं अतः प्रेरणा की कभी अनुभव की जाने लगी थी। प्रेरणा से आदमी बनता है और यह प्रेरणा एसी चीज है कि हिंसा के अको म नहीं बधती। योजना से वह बाहर छूट जाती है। माल और सामान को हम जुटा सकते हैं और धन राशि के अक उसके प्रतीक हैं। इतने करोड़ रुपया बक में है तो हम मान लेते हैं कि इतनी सामग्री हमारे पास है। वस्तुओं के उपयोग पर आदमी जीता है और इस तरह सनखाह के हिंसा मे हम आदमियों को भी धन के अका म बिठा लेते हैं। धन का हिंसाव हो गया तो माना जन का भी हिंसाव हा गया। क्याकि आखिर जन का धन के साथ समीकरण बिया जा सकता है। इस तरह बजट बना और बजट की राशि सपहीत हो गई तो लगता है कि अक योजना में कही कुछ कभी नहीं रह गई है।

लेकिन जो चीज हिंसाव मे आई नहीं है, और आ नहीं सकती, वह कम प्रमुख नहीं है। उसकी ओर दुःख किसी तरह नहीं किया जा सकता है। और वह है जनस्पृति। लोकमानस म उस प्रेरणा का हीना आवश्यक है कि जा उस समस्त धन राशि के साथ न्याय करे। यह प्रेरणा किसी न किसी निर्वैयक्तिक आशा के साथ जुड़ी हाती है। अगर सबको अपने अपने स्वाथ का ध्यान हो तो सार्वजनिक योजना म लगने वाला एक करोड़ रुपया मानो बीच म छीजते-छीजते भाषा ही रह जायेगा। हर मोड पर तो आखिर आशी ही आता है। अगर उसके मन म स्वाथ स ऊंची प्रेरणा म हो तो वह अपनी जगह पर क्यों उस बहती हुई राशि म से कुछ अपने लिए बीच और कुतर नहीं लेगा। यही चीज है जिसको अष्टाचार कहा जाता है और स्वराज्य के वा जिसके उत्पात न देश की नाथ को अगमन कर रक्खा है।

निर्माण स्वाथ बुद्धि से भी होता है। सृष्टि उससे नहीं हो सकती। इन लिए हम देखते हैं कि सृष्टि का प्रक्रिया स एक छोटा चीज एकात अनुमान में पड़ कर अपने आप होन होने बिनाल बधा बन जाता है। उन विनाता की योजना कोई पहले से नहीं थी। बीज नटा सा था। उन बधा बनन बा पना तन सायद न हो। वह ता अपनी अगह घरती म मुरु गान कर बनना बना गया। उसने इस अपने म गलने और अगती से एकत्रय हन का प्रक्रिया में म फिर अकुर फूना। अकुर के मून ने आसपास घरती में बधा अकुर सौती हुई पत्तिया ने बाहर धूप-हवा म से सुराक अकुर और अकुर बननी ही भला गया। बीज में जा या और उसम स अपने हुए अकुर म अकुर में अकित हो मबी बाहर से उसी अनुपात म साधन अकुर

का घर सूना नहीं रहता था। प्रतिभा के चमत्कार से घर चमचमाता ही दिखाई देता था।

अब वह मित्र नहीं हैं। पचास बय की अवस्था उनको मिन पाई कि नहीं मैं कह नहीं सकता। इतना जरूर सुना गया कि अत समय एक घरस स वह बेकार थे। कोई विश्वविद्यालय उन्हें लेने को तयार न था। अपने सम्बन्ध में जितने विश्वास हुआ करते थे होते-हाते इधर धाकर उतने ही भविष्यवासी होने लग गये थे। हर किसी स उन्हें चिठ होती थी। बीमारी में परिचारक और सेवक पर ही ठकने लग जाते थे। आखिर जो मृत्यु उन्होंने पाई भगवान किसी को न दे।

उदाहरण और भी मन में आते हैं। पर यह दो बहुत उजागर मामू होत हैं। उजागर यह दिखाने के लिए कि बुद्धि द्वारा योजनाओं का जो निर्माण होना है जीवन की कृताधता के लिए उससे कुछ अतिरिक्त की आवश्यकता होती है।

आज देग को स्वराय मिले पादह से ऊपर बय हो गये है। इसमें दो पञ्चवर्षीय योजनाएँ आई हैं और तीसरी अब चल रही है। योजनाओं का निर्माण भरपूर चिन्तन के साथ हुआ है और पूरी तत्परता से उनका पालन और फलन किया जा रहा है। वही थोड़ी-बहुत त्रुटियाँ रही हों तो उनका होना तो अनिवाय ही है। बड़े-बड़ कामों में इतनी धूँ की गुजाइश माननी ही चाहिए। आखिर आदमी आदमी है और सो फीसदी मशीन नहीं है। मशीन पर जिस तरह निर्भर किया जा सकता है वैसे आदमी पर नहीं किया जा सकता। वह विश्वसनीय सोहे फौलाद का बना नहीं होता हाड मांस का बना होता है। इसलिए जहाँ आदमी रहेगा वहाँ थोड़ी-बहुत भूल-धुँ होनी तो साजमी है। उसके अलावा योजनाओं का काम धान से पूरा हो रहा है।

पर देखते हैं कि दिक्कत भी है। दिक्कत न होती तो कामराज योजना क्यों आती? अन्धे राते अनुभवों और सफल और परायण और कमठ और सपत्नी नेता मंत्री की कुर्सी छोड़कर बाहर क्या आते? और तो और पण्डित नेहरू ने स्वयं चाहा कि प्रधान मंत्री का काम छोड़ कर उससे जरूरी दूसरे काम में लगे। इन मंत्रियों ने हठमत्त छोटी और उन्हें वह जिम्मेदारी का पं छोप्ने दिया गया तो आखिर इसीलिए न कि कोई बड़ी दिक्कत सामने आ गई होगी। मंत्री से बड़ा कोई काम करने को होगा जिसकी जिम्मेदारी उनके मजबूत कंधा पर डालना जरूरी हो गया होगा।

वह बड़ा काम क्या था ?

संग पाता। अन्तर उनके कोई दुराव या भापसी द्वेष और फूट का भाव नहीं होता। बल्कि सबका दिल एक होता है और सब एक-दूसरे के लिए अपने को दते रहने की कोशिश में रहते हैं जिसको भावात्मक एकता कहा जाता है। वह इस अर्थन की जगह विसर्जन के मूल्य की प्रतिष्ठा देने में से भाव ही फलित होती आती है।

आज भाषावाद राज्यवाद जातिवाद सम्प्रदायवाद है। धर्मों में धर्मवाद है। समाज में दलवाद और गुटवाद है। विचार में समाजवाद साम्यवाद गांधीवाद है। वाद ही वाद है। असल में इन सबका नीचे अहंवाद है। मेरे लिए सब दूसरे हो यह वाद है। मैं सब दूसरों के लिए हूँ जीवन की यह विधि और यह मात्र माना सुप्त ही हो गया है। गांधी को लेकर गांधीवाद एक अपना अलग अहंवाद बन जाता है तो मानों वह गांधी के शव का अपना बनाने के समान हो जाएगा।

हमारे सब निर्माण हमारी सब रचनाएँ तब तक देव के स्वराज्य का विस्तार न कर सकेंगी। जन-जन को और प्राम-प्राम को आज्ञाधी का आस्वाद नहीं पहुँचा सकेंगी जब तक कि उनमें अहम् विसर्जन और आत्मसर्जन का सत्व भी मिला न होगा।

योजना में और जनता में एकाकारता चाहिए। जन-जन में उनके लिए आक्रुलता और सत्परता चाहिए। वह जैसे उनके मन में से निकलनी चाहिए। यदि ऐसा नहीं हो पाता है तो परिस्थिति में और माग में बाधा रूप उसके कई कारण होंगे। आवश्यकता है कि उन कारणों में उतरा जाये और जनता और योजना के बीच यदि और जो व्यवधान हैं उनको पाट कर समाप्त किया जाये।

घौर बृहदाकार वृक्ष की सृष्टि हो आई। ज्यामिति म म मिलन वाला सही-सही रेखा बद्ध स्वरूप चाहे उसे न मिला लेकिन वृक्ष का सौन्दर्य अपना ही रहा और सबसे बड़ कर जो घटना घटी वह यह कि वक्ष—वक्ष ही बन कर रह गया बल्कि उसने फल भी दिये और उन फलों से अन्याय अनेक वृक्षों के फलित होने की सम्भावना हो आई।

गांधी जी ने देग को हिसाब म न धा सकने वाली इसी अमूल्य वस्तु का दान दिया था। हम खूब काम करते हैं इसलिए कि हमारी खूब कमाई हो। यों अक्सर काम हमसे तृष्णा की प्रेरणा से हुआ करता है। धन की प्रभूत राशि से चलने वाली योजनाएं मानीं इस तरह की तृष्णा प्रस्तुत करके आदमी स काम कराती है। उसमें व्यक्ति अपना विसर्जन नहीं देता है बल्कि वहां से अजन लेता है। कहना चाहिए कि वहां से अपने को ही वह पुष्ट करना चाहता है अपने आत्मज्ञान से उस सावजनिक उपलब्धि को पुष्ट करना इतना नहीं चाहता। इस तरह चक्कर उलटा चलने लग जाता है। गांधी जी ने मनुष्य के मन में कुछ वह डाला था जिससे अपने उत्सर्ग की स्फूर्ति उसमें जाग आई थी। वह मानने से अधिक मानो देखन लग गया था कि विसर्जन म ही उसका असली भाव है। जिसको अजन-उपाजन कहा जाता है वह तो थोड़ा व्यापार है। आज जो कामराज योजना म दीसता है कि लोगों ने गद्दी छोड़ी और जनता से काम करने के लिए हाकिम से सेवक बनना स्वीकार किया शायद उसमें कहीं यह भी हो कि वापस मजबूत होगी और फिर चुनाव में आएगी तो उसको सरकार बनाने का उम्मीदामित्व फिर घोटना पडगा। लेकिन गांधी जी न जो देश म नई स्फूर्ति का संचार किया था उसमें मानो सत्त को अपने का विचार तक कहीं नहीं रह जाता था। मानो स्वयं म ही उसका साफल्य था। परिणाम यह हुआ कि देग म अमृत प्राणोत्कथ दीस आया। सत्तापति और पूंजीपति विछटा रह गया। और जो लोग अविचन बन कर जेल-यासी पान के लिए आगे आए व दम की कल्पना और आस्था व के बन रहे। आत्मी अपने स्वाय को लेकर स्वयं म मकुचित होने लगा और उसको अनुभव ही गया कि परमाथ म अपने को गम्य दना ही सध स्वय को साध लेना है। स्वाय और परमाथ म मानो भ्रम ही तय की रह गया था। ममक जाने वाले स्वाय को छोड़ रहने में ही उस आत्म-अन्तोप और आ-म-आम मिलन मामूम होन लगा था। यह आत्मज्ञान और आत्म-विमर्जन की प्रेरण जब आदमी में या बीम में जागता है तो उसका निर्माण ही सृजन बन जाता है। तब व्यक्ति अंध से भरपूर होता जाता है और को म इस तरह उठती है कि उनमें कोई पुनि नहीं

हैं। यों सपन विपन्न की श्रेणिया दो भ्रमण दिखाई दें पर दोनो एक जमीन पर हैं और दोनो अयो-याश्रित है। एक की सपन्नता दूसरे की विपन्नता पर निर्भर है। या यो कहें कि उसकी सपन्नता ही दूसरे को विपन्न रखने का कारण है। सच्चा समाज दशन यही है। उसे मोहन का भ्रम भ्रमसर नहीं है। मानव

विवेक भ्रम इतना जाग गया है कि वह बड़ छोट भ्रमीर-गरीब क भद को और उसके कारण पदा हुए राग द्वप और दृढ़ पनेस को किसी पूव जम के कम भोग के नाम पर किनारा देने को तयार नहीं हो सकता। वह पहचान गया है कि यह हमारी करती है और अपनी ही करती स हम उस सुधार भा सकत हैं। सपन्नता पुण्य के कारण नहीं पाप के कारण भी हो सकती है और जो है वह किसी पहल सचित के कारण अनिवाय रूप से नहीं है बल्कि हमारे सब के सहयोग और अनुमोदन से है और हम उसे सुधार सकते है। यानी यदि बहा दोष है तो दोषी हम स्वय है और दोष के निवारण के लिए हम फौरन तयार हो जाना चाहिए। भाग्य पर या भगवान् पर उस टालना नहीं हो सकता।

इस ढग से सोचने पर नकग बदल जाता है यानी जो दीन और दुखी दीख पढते हैं वे ऊपर आ जाते हैं और हम उनके सेवक मात्र रह जात हैं। क्याकि यदि कोई दीन है और दुखी है तो धायद इसीलिए है कि हमने उसका सुख और उसकी दीनत छीन ली है। छीन ही नहीं ली है बरिक् समाज के नीति नियम भी ऐसे बना लिए है कि वह पाप हम पुण्य लगने लगा है और उस पर गव तक कर सकते हैं।

यह दशन होते ही हम लगेगा कि हम करणी हैं और विपन्न के प्रति हम प्रायश्चित्त करना और इस तरह उससे उन्नत होना है।

मुक्त प्रतीत होता है कि आज के युग म मानव अपने अधिकारी क प्रति इतना सजग बना लिया गया है कि इसस कम गहरी वृत्ति रखने से सही परिणाम धायद नहीं आ सकेगा। दूसर क सुधार और उद्धार की मनोवृत्ति आज काम नहीं दे पायेगी। ऊपर से आकर नीच वाल को यह महसूस होने देकर कि सुम नीचे हो और हम तुम्ह उठाने आये हैं सही प्रतिक्रिया नहीं उत्पन्न की जा सकती। समाज-ज्ञान क प्रतिष्ठापको ने अपने शोध और अवेपणा स सब तक मह पढुचा दिया है कि बठापन और उच्चापन स्वयसिद्ध वस्तु नहीं है वह नीच वालो की सहमति पर ही समय है अथवा वह अथाय और पावण्ड है।

समाज-बल्याण के काम के लिए इस नए समाज-ज्ञान की प्रतीति और तदनुकूल मना-गा बहुत जरूरी है। शहरी मनोवृत्ति म तगभग ऐसे मनोभाव अनुपस्थित हैं। आज क हमारे सामाजिक और राजनतिक क्षत्र के भावकर्ता पढ़-लिखे

जन-कल्याण

जन-कल्याण का काम ऐसा नहीं है कि उसकी शर्कों के नाप-तौल से पूरा परखा जा सके। भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में वह नाप सही होता है। पर इमान सिर्फ चीज नहीं है उसके अंदर मन है। इसलिए काम करने वाले के मन का उसका काम के नतीजों पर बहुत असर पड़ता है। आदमी को चीजों की जरूरत होती है और कभी तो यह जरूरत इतनी तीव्र हो जाती है कि वह किसी भी मोल उम्र अभाव को दूर करने का तयार हो जाता है। भूला रख के दोर तक को पानतू बनाया जा सकता है। लेकिन असली जन-कल्याण ऊपरी जरूरतों का पूरा करने मात्र से ही पूरा नहीं हो जाता बल्कि उतन से तो नुकसान तक हो सकता है। आदमी में स्वाधीन वृत्ति होनी चाहिए तब उसकी सूझ-बूझ जायेगी और उसका धर्म उत्पादन ही नहीं करेगा बल्कि सजन करेगा। तब उसके काम में एक ऐसा अतिरिक्त गुण जा मिलेगा जो वस्तु-उत्पादन के साथ स्वतंत्र को भी जगान वाला होगा। तब काम स्वयं प्रेरणा से होगा और बढ़ता ही चला जायेगा। न उसके लिए किसी ऊपर की देख रेख की जरूरत होगी न अतिरिक्त व्यवस्थापन और प्रशासन की।

समाज में कुछ लोग सपन्न हैं कुछ विपन्न हैं। भव सपन्न श्रेणी विपन्न के प्रति दया भी कर सकती है। लेकिन एम दया भाव से किया गया उपकार भ्रम में अपकार बना देता गया है। धन की सहायता दी जाती है और उससे तत्काल गहारा भी बहुत होता है। लेकिन वही महायता दाता को और ऊंचा खड़ा करता है और दोन में और दैन्य सा देती है। एमे विपन्नता बढ़ती है और समाज में जिस आपसी एकता की जरूरत है वह और तुलम हो जाती है। मय यह है कि जिस समाज में गपन्न और विपन्न दो श्रेणियाँ हैं वह अपने आप में तो एक शर्माई ही है। गपन्न का गपन्न जानकर कोई बग धरम मुट्ट हो रहा और विपन्न को गपन्न में भ्रमण और गर जानकर कृपा के रूप में उस पर ऊपर में दया डालन का गव करे ला यह भूल ही है। इगर्म गहरी नानमभी शर्माई है इगर्म गहरा गतरा भी है। विपन्नो दमी गहरा में स निबसते

राजा और प्रजा

राजा और प्रजा के बीच क्या सम्बन्ध हो यह आज की राजनीति का गरम सवाल है। क्या दोनों भगदते ही रहें? या कि उन दोनों में मेल भी हो सकता है? क्या यह सच है कि प्रजा सभ्य द्वारा ही राजा से कुछ पा सकती है दूसरी तरह से कुछ नहीं पा सकती? या कि कुछ दूसरा भी उपाय है? इतिहास लगभग एक बात कहता है। वह यह कि राजा प्रजा का हित एक नहीं है। वे दो हैं और परस्पर विरोधी हैं। प्रजा के अज्ञान में राजा की शक्ति है प्रजा की एकता में राजा को भय है। राजत्व की सत्ता शुद्ध शोषण है। राजा प्रजा इन शब्दों में ही एक द्रव और विरोध है। कोई राजा क्यों और दूसरा कोई प्रजाजन क्यों?

पर मुझ नहीं मालूम होता कि राजा को मिटाने की जरूरत है। प्रजा को ही मिटाना हो तो बात दूसरी है। या तो शब्द है प्रजातंत्र और प्रजा सत्ता एक राजसत्ता। उनसे भाग्य है समाज की वह हालत जहां शुद्ध प्रजा ही राजा है। इन प्रजा-तंत्रों के भी फिर तरह-तरह के विधान हैं जिनमें आपस में साया विवाद है। स्टालिन हिटलर मुखोलिनी चर्चिस और हजवेल्ड आदि में कोई राजा ना बेटा नहीं है। सब जनता में से आये हैं। उन सभी को मौका है कि बताए कि उनके देगो का तन देशवासियों का जनतंत्र ही है। पर हम जानते हैं कि वे देश आपस में मारामारी कर रहे हैं वहां भाग लगी हुई है। इससे साफ है कि जनतंत्र और प्रजातंत्र जस शब्द धोखा भी द सकते हैं। व अपने आप में सच नहीं है। इसी से कहा कि राजा को मिटाने की जरूरत नहीं है क्योंकि प्रजा मिटने वाली नहीं है।

लेकिन उन दोनों के विरोध को तो मिटाना हागा क्योंकि वह असत्य है। राजा जो इतना नादान है कि अपने को राजा मान कर जरा भी गव करता है, मिटेगा ही। इतिहास का यहाय उसे नहीं टिनने दगा क्योंकि वह राजत्व को दायित्व नहीं संपाती मानता है। राजत्व कायम रह सकता है और रहना चाहिए यदि वह शुद्ध दायित्व है। ऐसा न होकर यदि वह ध्यनिसगत प्रह्वार के पाप

साहसी लोग हैं। वे नैतिक और धार्मिक मनोभावों को अव्यावहारिक भावुकता कहकर टाक सकते हैं पर परिणामों की दृष्टि से जांच की जायगी तो पता चला कि वही बलि भ्राज के लिए बज्ञानिक है। विद्वान्, वस्तु-विज्ञान और समाज विज्ञान इतना आग बढ गया है कि उद्धार और सुधार की भाषा भोछी रह जाती है और वह बज्ञानिक यथाय को व्यक्त नहीं कर पाता।

गांधीजी ने हम सेवा का शब्द लिया। उस शब्द का सम्बन्ध हृदय से है। दिया गया काम सेवा है यदि मन में हमारे वह विनम्रता है। धसा यन्त्रि नहीं है तो सेवा का नाम पर किया गया काम समझ है सामाजिक स्तरो की दूरी को तोड़ता न हो बल्कि और मजदूत करता है और इस तरह मानसिक दुबलता और परवृत्ता का भाव भी उससे बटता न हो।

यानी कायकर्ता जिनके लिए काम करे उनके समक्ष हा जाय। समकथा सब जब यह उनसे निम्नक्ष न हा सक। सध यह कि जिनको सेवा करनी है उनका नीच ही सेवक का स्थान हो सकता है।

गांधीजी ने कल्पना की थी एक एम ही समाज और सरकार की। वहाँ सेवक ही शासक होने वाला था। यह शासक नैतिक होता और इसलिए उसमें नियमितता ध्यान का प्रश्न ही न उठना न उसे दृढांकित में धरन की भाव दकता होनी। यह सच्ची क्रांति का मंत्र था और है। और भारत ही वह देश है यही के अधिवासिया के रक्त में यह आस्था है कि उन क्रांतिकारी मंत्र को वह कम और व्यवहार में उतार सकें। ऐसा हुआ तो हम देखेंगे कि विश्व के सामन हम नई और अभूतपूर्व समाज-व्यवस्था का नमूना रखने में समर्थ हो सकें हैं।

राजा और प्रजा

राजा और प्रजा के बीच क्या सम्बन्ध हो, यह आज की राजनीति का गरम सवाल है। क्या दोनों भगड़ते ही रहें? या कि उन दोनों में मेल भी हो सकता है? क्या यह सच है कि प्रजा सघष द्वारा ही राजा से कुछ पा सकती है दूसरी तरह से कुछ नहीं पा सकती? या कि कुछ दूसरा भी उपाय है?

इतिहास लगभग एक बात कहता है। वह यह कि राजा प्रजा का हित एक नहीं है। वे दो हैं और परस्पर विरोधी हैं। प्रजा के अमान में राजा की शक्ति है प्रजा की एकता में राजा को भय है। राजत्व की सस्था शुद्ध शोषण है। राजा प्रजा इन शब्दों में ही एक द्रत और विरोध है। कोई राजा क्यों और दूसरा कोई प्रजाजन क्यों?

पर मुझे नहीं मालूम होता कि राजा को मिटाने की जरूरत है। प्रजा को ही मिटाना ही तो बात दूसरी है। यों तो शब्द है प्रजातंत्र और प्रजा सत्ता एक राजसत्ता। उनसे भाष्य है समाज की यह हालत जहां खुद प्रजा ही राजा है। इन प्रजा-तंत्रों के भी फिर तरह-तरह के विधान हैं, जिनमें आपस में खासा विवाद है। स्टालिन हिटलर मुसोलिनी चर्चिल और रूजवेल्ट भादि में कोई राजा का बेटा नहीं है। सब जनता में सँ घाये हैं। उन सभी को मौका है कि बताए कि उनके देशों का तंत्र देशवासियों का जनतंत्र ही है। पर हम जानते हैं कि वे देश आपस में मारामारी कर रहे हैं वहाँ भाग लगी हुई है। इससे साफ है कि जनतंत्र और प्रजातंत्र जैसे शब्द धोखा भी दे सकते हैं। वे अघन आपस में सच नहीं हैं। इसी से कहा कि राजा को मिटाने की जरूरत नहीं है क्योंकि प्रजा मिटाने वाली नहीं है।

लेकिन उन दोनों के विरोध को तो मिटाना होगा क्योंकि वह असत्य है। राजा जो इतना नादान है कि अघन को राजा मान कर जरा भी गव करता है मिटगा ही। इतिहास का बहाव उसे नहीं टिकन देगा क्योंकि वह राजत्व को दायित्व नहीं बपोती मानता है। राजत्व कायम रह सकता है और रहना चाहिए, यदि यह शुद्ध दायित्व है। ऐसा न होकर यदि वह ब्यक्तिगत अहवार के पोष

शहरी लोग हैं। वे नतिक और धार्मिक मनोभावों को प्रव्यावहारिक भावुकता कहकर टाल सकते हैं पर परिणामों की दृष्टि से जांच की जायगी, तो पता चलेगा कि वही वस्ति भाज के लिए वज्ञानिक है। विज्ञान वस्तु विज्ञान और समाज विज्ञान इतना आगे बढ़ गया है कि उद्धार और सुधार की भाषा छोड़ी रह जाती है और वह वज्ञानिक यथाथ को व्यक्त नहीं कर पाता।

गांधीजी ने हम सेवा का गान दिया। उस गान का सम्बन्ध हृदय से है। किया गया काम सेवा है यदि मन में हमारे वह विनम्रता है। वसा यदि नहीं है तो सेवा के नाम पर किया गया काम सभ्य है सामाजिक स्तरा की दूरी को तोता न हो वल्कि और मजदूर करता हो और इस तरह मानसिक दुबलता और परवणता का भाव भी उससे बटता न हो।

यानी कायकर्ता जिनके लिए काम करे उनके समक्ष हो जाय। समक्ष सब जब वह उनमें निम्नक्ष न हो सक। सच यह कि जिनकी सेवा करनी है उनमें नीच ही सेवक का स्थान हो सकता है।

गांधीजी ने कल्पना की थी एक एस ही समाज और सरकार की। वहाँ सेवक ही शासक होने वाला था। वह गामक नैतिक हाता और इसलिए उसमें निधिलता आने का प्रश्न ही न उठता न उसे दृढगति में धरन की भाव देता होनी। यह मन्वी क्रांति का मन्त्र था और है। और भारत ही वह देश है यही के अधिवासियों के रक्त में यह भास्था है कि उस क्रांतिकारी मन्त्र को वह कम और व्यवहार में उतार सकें। एसा हुआ तो हम देखेंगे कि विश्व के सामन हम नई और प्रभूतपूर्व समाज-व्यवस्था का नमूना रत्न में समथ हो सके हैं।

को पुष्ट करें। यदि वे ईश्वर के प्रतिनिधि के रूप में व्यवहार नहीं करते तो जनता उन्हें सच्चे भाव में राजा किस प्रकार मान सकेगी? उनके राज्य की और उनके नाम की नींव स्थिर हो सकती है तो प्रजा के प्रेम में ही। प्रजा का विश्वास यदि वे सम्पादन करेंगे तो कोई इतिहास उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकेगा प्रजा के विश्वास भाजन बन कर प्रजातंत्र आयेगा तब भी वही उनके अधिपति बनेंगे। भला कभी कल्पना का जा सकती है कि अयोध्या वासिया को चुनाव का अवसर होना तो व एक स्वर से श्री राम को ही मिहामन पर न बिठाते? कोई त्रान्ति श्री रामचंद्र को उनके राजत्व से छुटकारा न देना सकते। कारण वह पुरुषोत्तम थे। राजापन में उन्हें अनुरक्ति न थी वह तो एकाकी रह कर अधिक प्रसन्न रहते।

मैं मानता हू कि राजा को मित्रवर प्रजा को खुशहाल बनाना चाहते वाली कल्पना राजनतिक महत्वाकांक्षा में से जन्म लेती है, उसमें विरोध मार नहीं। इसी से मुख्यता से राजनतिक चयना और वसी प्रेरणा से चयन जांच वाले प्रजा के भागीदारों को गांधीजा समर्थन नहीं कर सक। लोग का वह ठण्डापन मालूम हा सकता है पर वह तो सच्चापन था। आज राजा प्रजा का शास्त्रिक ऋति नहीं मिटाना है। पर उनमें हा एतय लाना है राजा को प्रजा का और प्रजापक्ष के नेताओं को राजा का विश्वास सम्पादन करना है। एक दूसरे को धिक्का कर, अपमानित करके उपरिष्ठ रख कर सच्चा साकहित्य माधन नहीं हा सकता। राजा को संवक बनना पड़ेगा, पर वह काम पहले स्वयं लोक नायक सच्च अर्थों में संवक बनकर कर सकते हैं। इसी से गांधीजा ने आन्दोलना और आन्दोलकों को कहा कि टण्डे बनो और रचनात्मक काम करेंगे। ऊपर में देखने में उन्होंने उन आन्दोलना की गति को धामा किया पर सब पूछिये तो उन्होंने उसको गहरा करना चाहा। और भवम वशा लाभ तो उस नीति का यह है कि उससे राजाओं की जिम्मेदारी बढ जाती है। राजाओं पर विश्वास करके और जनता में उस विश्वास भावना का पदा करके हम गामवा का मौका दते हैं कि व उनकी पूति तक उठें। अविश्वास में कोई बड़ा काम कभी नहीं हुआ। शासक लोग मिथ्या अभिमान में अपनी दमनगति पर भरागा रण कर प्रजापक्ष की अवहनना करते हैं। ता भी कोई चिन्ता का यान नहीं है। क्योंकि इससे वे स्वयं खोपल बनत हैं। उधर रचनात्मक वाय से प्रजा में ऐक्य बढ़ता और गति जागती ही है।

हिंसा का खिला योगेप की लड़ाई में हम दण ही रहें हैं। हम लड़ाई के सामक साथ ही सब समाप्त हा जान वांता नहीं है। पीछ भी हार पाय पश

एगरे के लिए है तो कोई शक्ति उसको गिरने से नहीं रोक सकती। सामने होती हुई घटनाएँ साफ हैं। किसी का आरतुष्ट होने का दम्भ ठहर नहीं सकता। एक महापुरुष के हम पुरजे हैं मानव जाति के अंग हैं। शेष समस्त जगत से धनिष्ट भाव से हम अनुबद्ध हैं। इतिहास का गति से हम अछूते नहीं। किसी को मौका नहीं है कि समझ कि वह बन्द कोठरी में रह सकता है। इसमें यह तो सही है कि हुकूमत होकर कोई राज्य सत्ता कायम नहीं रहेगी। उस सत्ता की सत्ता धनना होगा। राजा इसीलिए राजा होगा कि वह सेवक हो, उस दायित्व को भूलगा तो वह सचत हो रहे कि राजभुक्त ही उसका अभिशाप हो सकता है। बड़े-बड़े मुकुटधारी भाज कहा हैं ? कुछ को ता मरना ही इसलिए पडा कि वे मुकुटधारी थे। जो वही वे सामान्य नागरिक होने या समय रहते अपन को सामान्य नागरिक मान सकते तो उनकी दुदशा न होती। राज-दण्ड यदि इसलिये कुछ है तो वह अभिमान की वस्तु नहीं भय की वस्तु है। राजा को इसीलिए विनम्र होना होगा कि वह राजा है। यदि तनिन उसे अभिमान भाया तो विधाता के विधान में तो दया जसी वस्तु है नहीं और अभिमान सदा टूटता है।

अर्थात् वह विचारधारा जो राज्य को मिटाकर प्रजा का कोई एक तन्त्र खडा करने की आवाज ऊँची करके बढ़ती है मूल में है। शायद वह एक राजा की जगह दूसरा राजा चाहती है। शायद वह क्या चाहती है, इसी का उसे पता नहीं है। इसलिए कहना होगा कि इस (विग्रह मूलक) परिभाषा में राजनीतिक उन्नति की बात साधना पर अन्वी है। जहाँ तन्त्र है वहाँ नाम प्रजातन्त्र हो, पर बात असल तन्त्र की है। राजा को प्रजीदन्त कहने लग जाने से कुछ घाँट महा पढन वाला है। मुद्दे की बात यह है कि जिसके हाथ में तन्त्र की स्पष्टता भाव वह सवा भावी हो।

इसीलिए हमारे भारत राष्ट्र की राजनीति में देनी राग्मा में प्राभाणिक रूप से जो प्रजा आगरण के आन्वितन चन उनमें कहा गया कि हम वतमान अधिपति की छत्रछाया में हा प्रमुख अथवा अधिनिक सुपार चाहत हैं।

यही कारण है कि गांधीजी के मुह से हमें राग राग की बात निकलती है किसी प्रकार के प्रजा-सत्तात्मक सामन विधान का नाम वह नहीं दोहराते। क्याकि वे तो शांति हैं और प्रवचना में आन सवन हैं, जबकि रामराज्य की भावना वास्त्रविक है। श्रीराम राजा थे पर प्रभु के श्रीर प्रजा के अनुचर थे।

हमारा पुराना विश्वास है कि राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है। हम उन विश्वास का क्यों खो देना चाहें ? हम अपन राजाभा से माँगें कि वे हमारे हम विश्वास

को पुष्ट करें। यदि वे ईश्वर के प्रतिनिधि के रूप में व्यवहार नहीं करते तो जनता उन्हें सच्च माव में राजा किस प्रकार मान सकती? उनके राज्य की और उनके नाम की नींव स्थिर हो सकती है तो प्रजा के प्रेम में ही। प्रजा का विश्वास यदि वे सम्पादन करेंगे तो कोई इतिहास उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकेगा प्रजा के विश्वास भाजन बन कर प्रजातंत्र लायेगा तब भी वे ही उसके अधिपति बनेंगे। भला कभी कल्पना की जा सकती है कि भयोध्या वासिया को घुनाव का भयसर होता तो वे एक स्वर से श्री राम को ही मिहासन पर न बिठाते? कोई शान्ति श्री रामचन्द्र को उनके राजत्व से छुटकारा न दिला सकती। कारण वह पुरुषोत्तम थे। राजापन में उन्हें अनुरक्ति न थी वह तो एकाकी रह कर अधिक प्रसन्न रहते।

मैं मानता हूँ कि राजा को मिटाकर प्रजा को सुशासन बनाना चाहने वाली कल्पना राजनतिक महत्वाकांक्षा में सज्जम लेती है उसमें विशय सार नहीं। इसी से मुख्यता से राजनतिक चक्षुषा और वसी प्रेरणा से चलाने जाये वाले प्रजा के भ्रान्दोमना का गांधीजी समर्थन नहीं दे सके। लोगों को वह ठण्डापन मानलूम हो सकता है पर वह तो सच्चापन था। आज राजा प्रजा का शाब्दिक द्वित्व नहीं मिटाना है। पर उनमें ही एक्य लाना है राजा को प्रजा का और प्रजापक्ष के नेताओं को राजा का विश्वास सम्पादन करना है। एक दूसरे को बिड़ा कर, अपमानित करके उपेक्षित रख कर सच्चा लोकहित साधन नहीं हो सकता। राजा को संवक बनना पड़गा पर वह काम पहले स्वयं लोकनायक सच्च अधीन में संवक बनकर कर सकते हैं। इसी से गांधीजी ने भ्रान्दालना और भ्रान्दोलकों को कहा कि ठण्ड बना और रचनात्मक काम करो। ऊपर से देखते में उन्होंने उन भ्रान्दालना की गति को धीमा किया पर सब पूछिये तो उन्होंने उसको गहरा करवा चाहा। और सबमें बड़ा नाम तो उस नीति का यह है कि उससे राजाओं की जिम्मेदारी बढ़ जाती है। राजाओं पर विश्वास करने और जनता में उस विश्वास भावना को पैदा करने हम नासकों का मोका देते हैं कि वे उसकी पूर्ति तक उठें। अविश्वास से कोई बड़ा काम नहीं हो सकता। सामक लोग मिथ्या अभिमान में अपनी दमनगति पर भरोसा रख कर प्रजापक्ष की अवहेलना करते हैं। तो भी कोई चिन्ता की बात नहीं है। क्योंकि इससे वे स्वयं खोखले बनते हैं। उधर रचनात्मक काम से प्रजा में एकम बनता और शक्ति जागती ही है।

हिंसा का दिवाला योरोप भी लड़ाई में हम देख ही रहे हैं। इस लड़ाई के खात्म के साथ ही सब समाप्त हो जाने वाला नहीं है। पीछे भी हार लाये पदा

म शीर की चिनगारी मुलगती ही रहेगी । कौन जानता है कि भागे जानर वह किसी और सडाई म नही फूटगी । इससे साफ हो जाना चाहिए कि राजनीति में भी अहिंसा की नीति ही सही तौर पर हमारे भगठों का निबटारा कर सकेगी । देशी राज्यों के मामले म तो यह भी साफ है । अहिंसा का अय काय रता नही है बकि दुदमनीय कष्ट सह्यिगुता है और अहिंसा की शत पर ही सत्याग्रह होना है । उसस पहिले सत्याग्रह का सवाल ही नहा उठता ।

म मानता हू कि काप्रेस अयवा देशी राय प्रजा परिषद या कि शीर उन सस्याग्रो के भाग जो 'गठ' के पीछे नही बल्कि सार के निये बडना चाहती हैं अर्थात् जो राजनीतिक उन्नति को जनता के भात्मजागरण के अय मे लेती हैं एक ही उपाय है और वह है अहिंसात्मक जीवन नीति का साबजनिक प्रयाग ।

चीनी आक्रमण और हम

चीन के आक्रमण से भारत पर जो गहन आया है उसके बारे में मैं बोलने का अपने को अधिकारी नहीं मानता हूँ। क्योंकि चीन और भारत में शब्द हैं जो प्रतिम विद्वेषण में मेरे-जैसे व्यक्ति के लिए ठहरते नहीं हैं। उनकी साधकता राजनीतिक है। बहुत-से लोग अमुक विधान के नीचे एक शासन में रहते सहते हैं। उनकी दृक्दी जमात को चीन नाम दे लिया जाता है। वैसे ही भारत भी एक राजनीतिक ईकाई है। अधिकतर उनसे उन सस्कारों का बोध होता है।

मैं मानता हूँ कि ये भारतवर्ष चीन और उसके बाद एशिया—यूरोप आदि शब्द या उसके नीचे उतरते तो प्रातो के नामवाची शब्द व्यवस्था की सुविधा में काम आते हैं। आज मैं खड्का चला गया तो मालूम हुआ इदौर शहर यहा खत्म हो गया दूसरा जिला धुलू हो गया। अर्थात् प्रात की दृष्टि से तो घतर नहीं रहा पर जिला बदल गया। उसी तरह भारत-चीन सजाओ का साधकता एक सीमा तक है। उसके बाद वह साधकता नहीं रहती।

जो लोग ऊपर ऊचा उड कर जाते हैं वहा से उनको ये चीन और भारत या इस तरह अलग अलग पेश शायद ही दिखाई देते ह्ये। और भी ऊपर जाए तो सारी घरती एक गोलपिठ दिखाई देती हागा। मेरे लिए दग स प्रथम और अधिक व्यक्ति महत्व रखता है। व्यक्ति एक ऐसी प्रत्यक्ष इकाई है जो भारणा निभर नहीं है और जसे खड्का जात हुए जिले बल गये पर खेत-खेत एक-दूसरे से जुडे हुए है वसे ये व्यक्ति घापसी के व्यवहार में जुड हुभा करने हैं।

यूरोप की एक यात्रा में मैं शाम को रेल में बटा और अगत तीसरे पहर उतरा तो चार जगह सिक्के बदल गय। पासपोट बिसा बक किया गया। इस बकार की सिक्का ठबदीली में ही रुपये में दाई आने छोड गये। अब यह समझ में नहीं आता। मैं मानता हूँ कि व्यवस्था के नाते कुछ खानेबंदी आवश्यक है, पर घट खानाबंदी एक हद तक ही महत्व का है।

काई रिपति ऐसी नहीं है, जिसमें भगडा न हो। भगड के बिना दपति

भी रह नहीं सकते। जब हर गोज साथ रहना पड़ता है तो आपस में झगड़ा या ही जाता है। फिर भी झगड़ा सामयिक है। नित्य पुरुषाय शांति है। जब तक विष्वत बीच में था तो हिन्द चीन भाई भाई की बात ठीक लगती थी। पर जब विष्वत बीच में से हट गया तो हिन्दी चीनी भाई भाईपन में फरक आ गया।

मैं पब्लिक से शर्घाई गया। पब्लिक में एक किताब किमी ने दी तो मैं विमान में उसी का पत्र रहा था। वह किताब सत्तम हुई तो शर्घाई पर प्लेन उतरा। वह थाऊ एन लार्ड का भाषण था जो उन्होंने बुद्धिजीवियों का किया था— आपस में। शर्घाई में उतरता तुरंत बाद ही एक सभा में जाना पड़ा जहाँ सब साहित्यिक जमा थे। शर्घाई साहित्यिकों की दृष्टि से प्रमुख केंद्र रहा है। यानिक सभ्यता और चान की सभ्यता का सम्मिश्रण वहाँ फूला-फला है। साहित्यिकों में स ३ ३५ वहाँ जमा थे। सभा बड़ी उम्र में जाने-माने प्रतिष्ठित साहित्यिक थे। मैंने वहाँ कि थाऊ एन लार्ड का व्याख्यान पढ़ रहा था कि इसान एक है विश्व को एक करना है आदि। पर एक चतावनी उसमें दबी कि (पर भी दोस्त-दुश्मन की पहचान रखनी होगी)। ऐसा न हो कि दुश्मन को दुश्मन में पहचान। दुश्मन कौन? तो वहाँ उतरा था कि आदर्शवादी (आइडलिस्ट)।

मैंने उन्हें कहा कि मैं हिन्दी हूँ और हम हिन्दी चीनी भाई भाई हैं। पर मैं तो आदर्शवादी हूँ। एक हिन्दी आइडलिस्ट भाय तो आपक भाई पारे का क्या होगा? तो एक भाई उनकी तरफ से बोले कि वह तो एक सैद्धांतिक (थियारिटीकल मैन) है इसमें और भाई गहरी बात नहीं है। ध्वनितः जिस से मैंने पूछा हरक ने इन्हीं सत्तम में मुझ जवाब दिया। मैंने पूछा कि कल अगर भारत और चीन की राजनीति में रगड़ पदा हो जाय तो हिन्दी-चीनी भाई भाई का क्या होगा? जवाब में भाई उतर न दे सके कि। सिवा इसक कि ऐसा कभी न होगा।

बड़ो (गुजरात) के सर्वोच्च सम्मेलन में श्री रबिदावर महागज मठा रहे थे कि वह जब चान गय तो उनमें पूछा गया कि क्या आपकी चीन का इतिहास मालूम है। उन्होंने कहा कि नहीं। पूछा गया कि आपकी भारत का इतिहास तो मालूम होगा। उन्होंने कहा कि हाँ कुछ तो मालूम है। वे बोले कि भाई हमला बाहर में था पर अभी भारत में नहीं किया है। चीन का भी इतिहास ऐसा ही है। इसी से भारत चीन भाई भाई रहेंगे।

चीन की सरकार दान्य भाव भी मानती है और कहती है कि उसने पहले हमला नहीं किया। पर है तो यह स्पष्ट हमला। गार इतिहास में चीन न बहो बाहर जा कर हमला नहीं किया तो यह हमला क्या निश्चय? यत चीन की

आबादी ७० करोड़ है और वह बढ़ रही है और आयात के फँलाव के निये उसको जगह नहीं है। अगर ऐसा हो तो निजन साइबरिया बसने के निये काफी खाली पड़ा है। अब ता तिब्बत भी चीन है—तिब्बत को आबादी घनी नहीं है। फिर भी वे भारत की ओर बढ़े—इस दुस्ताहम के पीछे क्या मजबूरी थी? क्या नशा था? चीन के पास कुछ-न-कुछ तो हिम्मत रही होगी। सिर्फ आबादी का मसला वह नहीं था यह बात स्पष्ट है। कुछ चीज और थी। मंरा ग्याल है कि साम्यवाद चीन में आया उससे पहले चीन की सभ्यता में भावेंग नहीं आया कि बाहर जाकर हमला करे। इस भावेंग का निर्माण साम्यवाद के नारण हुआ।

इसके पीछे कोई पक्का मतलब है। उनके मोचने के मुताबिक ज्यादातर दुनिया गफलत में है। साम्यता सिखाने का मिशन उनका है। जैसे अंग्रेज भारत पर राज करते हुए कहते थे कि इसमें उनकी कोई स्वाध लिप्सा नहीं है, सभ्य बनाना है इसलिए वे भाये हैं। इसी प्रकार की उदात्त बर्तित चीन में भी पदा हुई हो सकती है कि दुनिया में क्रांति करनी है। यह भ्रम और घम उनमें भर गया हो सकता है कि दुनिया के निजाम को व्यवस्था को उनको बदलना है, चीन की छत्र-छाया में सारी एशिया में सुव्यवस्था ला देनी है।

रूस में सवप्रथम कम्युनिस्ट क्रांति हुई। वहाँ शुरू में यही चीज लोगो के दिमाग में भरी हुई थी कि रूस की क्रांति तब तक पूरी नहीं होगी जब तक दुनिया के सारे देगा में भी वह क्रांति न करेगा। ट्राट्स्की मानता था कि रूस को क्रांति को राष्ट्रवादी में बना कर विश्व-क्रांति की इस्तदा बनाई जाये। पर उसको आदेशवादी माना गया और क्रांति को रूस में समा कर व्यवस्थित करने की ओर वे बढ़े।

जैसे राजनीति में स्टालिन की सत्ता थी साहित्य में वसा जिनका नाम खलता था उनसे मिलने का मौका मुझे मिला। वह रूसी लेखक दुभापिया मरि यम बहन के साथ भाय तो लगा कि किसी फक्करी के फोरमैन हाग—स्त्रूल पर बैठ गए। मुझे मालूम नहीं था कि वह कोई विनाय व्यक्ति है। सम्बन्धी चौड़ी बातें हुई—चीन घटे तक। चीन की बात आ गई। चीन आत्मी अनुभव से सीखता है। हम भा पहले बड़े जोग में थे धक्का देने की तबीयत थी। पर अब हमने अपने अनुभवों से सीख लिया है। चीन अभी सुनने के मूढ़ में नहीं है। वे भी बस हों तोशा अनुभव प्राप्त करेंगे जिनमें से हम गुजर हैं। खुद ठोकर खाए बिना सीखत नहीं मालूम होते।

प्रारम्भिक समय के जुनून में तो टाल्सटाय की किताबों की होली रूसी

प्रातिकारियों ने की थी। क्योंकि टाल्सटाय नतिक मूल्यों की बात करता था। पर आज टाल्सटाय की जितनी किताबें छपती छपती हैं उतनी शायद किसी की नहीं। कारण वही कि टाल्सटाय विनय सिखाता है संतोष सिखाता है सयम सिखाता है। भ्रान्ति म नतिक मूल्यों की ऐसा घना गिना था जिस व्याज पर पानी। तलाक तब बहुत घासानी से मिस जाता था। पर आज तलाक मिलना कठिन है। यह रूस का हाल है। प्रारम्भ म जहाँ नतिकता का मजाक उड़ाया जाता था वहाँ पर अब उसकी जमाने की कोशिश हो रही है।

आज चीन म उफान है। यह उन रूसी साहित्यकार स पता चला कि चीन म कच्ची जवानी भरी है कि जिमसे दिमाग म उफान पदा हो रही है।

मेहर जी और विनाया जी दोना कहते हैं कि इसके पीछे केवल सीमा और जमीन का मसला नहीं है बल्कि एक बड़ी चीज है। शायद चीनी मानते हैं कि एक परम लक्ष्य उनके सामने है उसके लिए मरन और मारने के के कोई हिषकिचार्ज अनुभव नहीं करते। यह चीज अब बन जाती है तो उसकी रोकना मुमकिन नहीं होता। यह अपने पत्तरे से रुके तो रुके। जब वह विन्व को प्रवाश देन का अपना काम मानता है तो वह क्या किसी के कहे रुके ?

इस सीमा रेखा के पाछे की चीज पर विचार करना अभिवाय है। यह विचार किये बिना हम हल नहीं निकाल सकेगे। केवल फौजे इस समस्या की हल नहीं कर सकती। आज भारत म दगाभिमान है उसका हर जवान अपनी जान देने को तैयार है। चीन उसे भारत की फौज का सफाया नहीं कर सकता। फौज स फौज का मोर्चा रक सकता है। पर सवाल का हल इसम स नहीं निकल सकता।

चीन एकाएक असम की भावानी तक धा कर रुक गया। उसने 'सीजफा धर कोम दिया। भारत के सामने एक पहेली धा गई। हमने युद्ध रोकना नहीं है। हमारी पकित वहाँ तयार है पर सडन का काम उनके पास नहीं है। चीन बढ़ता चला धा रहा था पर वह एकाएक रुक गया। क्यों ? बात यह थी कि हथियार स जो लिया जाता है उस दुनिया के सामने गिनाना पडता है कि हमने अन्याय स नहीं लिया। मिनिटरी बेस और मिलीटरी विस्फरी को भारत बेस और भारत-विस्फरी बनाने की जम्मत रहती है। कयम मिलीटरी विस्फरी चमेगी नहीं। नैतिक बनाना अनिवार्य हो जाता है। अपना नतिक भाषा मज-बूत करने की उसने अपनी सेना वापस ल ली। यह प्रश्न का बहुत बड़ा पहलू है। भारत का बेस भारत धा। पंडित जी ने कहा कि हम तो बिन्वास पर बसते थे इसी से हमारे फौजी तैयारी नहीं रखी। प्रश्न का भारत दस सीज

फायर के बाद उनके पक्ष में हो गया भारत का केस नतिक क्षेत्र में उन्होंने कमजोर कर दिया—यह वे मानते हैं। आज नेफा और लद्दाख में मिलिटरी मोर्चा घुप है पर डिप्लोमैटिक मोर्चे पर जोरों से काम चल रहा है।

अभी तो कोलम्बो काफेन्स' घठी है। दोनों देशों के लोग बहा गये हैं। भारत बह रहा है कि भारत का पक्ष नीति का है। आज भारत में सोना दिया जा रहा है नाम लिखाए जा रहे हैं यह ठीक है। पर इस सारी हाट-धार' की लड़ाई का उपयोग 'मानस फ्रन्ट' पर इस रूप में होता है कि हम कमजोर नहीं हैं। जैसे रूस और अमेरिका दोनों एटम बम बना रहे हैं पर दोनों कहते हैं कि बम रोके जान चाहिए। पर यदि दूसरा पहल करेगा तो ही करेगा। यह दोनों एक दूसरे को कहते हैं। बम या एटामिक ग्राममिण्ट जो वे बना रहे हैं, वह दिखाने को कि चुनौती में हम किसी से उनीस नहीं हैं वे इनको 'डटरन्ट' मानते हैं। अस्त्र-शस्त्र डर पैदा करने वाले है। अस्त्र-शस्त्र का कारगरपन मारने की भूमिका पर नहीं बल्कि 'डटरन्ट' की भूमिका पर है।

अस्त्र शस्त्र जिनसे आदमी मारता है उनकी अब अणुशक्ति के उदय के बाद कोई कीमत नहीं रह गई है। अस्त्र-शस्त्र का मूल्य अपने आप में घूब हो गया है। सिर्फ मूल्य इतना ही है कि वह डर की रोक पदा कर सकता है। आज तो युद्ध की बात को लेकर मरने और मारने के ऊपर उठ कर सोचने की आवश्यकता है।

आज सब कहते हैं कि अपने नेता पं० नेहरू के हाथों को मजबूत करो। पर आपको मालूम है कि शूटिंग में जो इनाम मिला वह दूसरे ही किसी को मिला था। तो उन दूसरे के हाथ क्यों न मजबूत करें? लेकिन हम नेहरू के हाथ इसलिए मजबूत करना चाहते हैं, क्योंकि उनके हाथ देश के केस की नतिक भूमिका को अकाट्य और दृढ़ करने का काम करते हैं। सारी दुनिया के प्रमुखा को उन्होंने चिटिठ्या लिखी हैं। सहारक-शक्ति के काम पर हमारे जबान जा रहे हैं पर नेहरू जी देश की नैतिक-शक्ति को बढा रहे हैं।

यदि इन्दौर शहर पांच हजार जवानों की जिम्मेदारी और उनके परिवारों का जिम्मा ल ले तो इन्दौर का आत्माभिमान जाग जायेगा। पर अगर रूसी प्रावदा' में पढ़ने को मित्रे कि रूस भारत के केस को ठीक समझता और माय करता है तो इन्दौर के साथ भारत के हर आदमी की छाती दुगुनी हो जायगी। क्योंकि उस लेख से देश की नैतिक शक्ति का जोहा मान लिया गया होगा। सन्य बल देहिक-शक्ति है ससार की शक्ति है। किन्तु उस जीत में न्याय बल होगा नीति की शक्ति होगी। बहादुरी की पहचान यह है कि सैनिकों

सामने हों तो भी सुम भकेले अपनी जान देने की तैयारी रखते हो। बहादुरी दूसरों की जान लेने और अपनी जान बचाने की तैयारी में नहीं है। बहादुरी हमें भाग्यवान् बनाती है। अपनी जान देने की तैयारी को बहादुरी कहते हैं।

भगर भय नहीं रहता निश्चय रहती है तो कोई हमला नहीं कर सकता। भगर हमने डर को दूर भगा दिया—मरने का डर खत्म कर दिया तो भाग्य के भाग्यवान् करने की इच्छा बुझ जायेगी। नागरिक जीवन में कुछ लोग बुझी टाइट के होते हैं। भाग्य डरना छोड़ दीजिये तो बुझी की ताकत खत्म हो जाती है। भाग्य हमें भाग्यवान् कर देता लीजिये। जो डरा घमका कर भाग्यवान् है उससे डरना छोड़ लीजिये तो वह पोच पड़ जायेगा।

चीन के भाग्यवान् के मदर्भ में देखिये। वेतन प्राप्त करने वाला सिपाही लड़ना जाता है। बीबी बच्चों की फिर उसे रहती है। उसकी हिम्मत इस बात पर है कि मैं जीवता तो बीबी-बच्चों को पाल सकूँगा। इसी प्रेम के द्वारा उस में ताकत आती है लड़ने की। हम समाज हैं तिजोरिया भरत हैं और रमा के लिये उनका का चौकीगर रखत हैं। वह अपनी बीबी-बच्चा के लिये रात भर जाग कर पहरा देता है और हम सोत हैं। हमारे मंदिर हैं हमारे दया हैं। पर पुजारी को वेतन देकर रखते हैं और वह मंदिर की सेवा करता है और पृथ्वी हमको मिलता है। इसी प्रकार पेंगेबर सिपाही के भरोसे नागरिक रहगा तब तक नागरिक भयभीत और कायर बनेगा। बस पैसा-सोना देकर रक्षा खरी दना चाहेगा। हम में से हरेक सिपाही क्या न बने। हम वस्तु पर सिपाही हैं और दोष समय नागरिक हैं तो हम पर प्रांच नहीं भायेगी।

हम जनमत का नाम लेते हैं—डिक्टेटरीगिप नहीं चाहते हैं। पर भाग्य ने भास-पास देखा कि लोकतन्त्र टूटा और मिलिटरी डिक्टेटरीगिप आई। नबोक सुरक्षा करने वाला ही राजा बन बैठना है। कोई देना ऐसा नहीं है जो मिलिटरी डिक्टेटरीगिप रखता हो और नागरिक लोकतन्त्र का दावा भी न रखता हो। नागरिक यदि पुलिस-फौज का प्राची हैं तो उनकी नागरिकता खतरे में होती है। भाग्य के समाज में मिक्सीरिटी की सबसे बड़ी मांग है। हम समझते हैं कि किसी तरह मिक्सीरिटी ही सबसे बड़ी मांग है। हम समझते हैं कि जो पैसा देकर तनात किया जा सकता है तो उनसे भी मिक्सीरिटी प्राप्त करें। और हर तरह मिक्सीरिटी प्राप्त करने के लिये हमें देना तनात किया जा सकता है तो उनसे भी मिक्सीरिटी प्राप्त करें। और हर तरह मिक्सीरिटी प्राप्त करने के लिये हमें देना तनात किया जा सकता है तो उनसे भी मिक्सीरिटी प्राप्त करें। और हर तरह मिक्सीरिटी प्राप्त करने के लिये हमें देना तनात किया जा सकता है तो उनसे भी मिक्सीरिटी प्राप्त करें।

क मोके पर क्यों भड़ेगा उल्ट क्यों न भाग सदा होगा ? आपको मालूम है कि जमन कौम जो बड़ी बहादुर थी उसको हिंसा पर थड़ा थी । पर बड़ी हिंसा के सामने वे सभी भागे । यदि अपनी अपनी जगह जिदगी को हथेली पर लें और समझें कि जान तो एक रोज जान ही धानी है पर यह जाने तो धान पर, किसी लक्ष्य पर जायेगी, तो उससे अपूर्व बल का उदय होगा ।

हम किसी चीज के लिए जीना और उसी चीज के लिए मरना सीखें । धान चीन के हर आदमी को जैसे एक साइफ-परपञ्च प्राप्त हो गया है । वहाँ का आदमी अपनी जान देने को एक सपना पा गया है । हमारे पास 'नशनल डिफेन्स' का एक सामयिक प्रयोजन अवश्य बना है । यदि उतना भर ही प्रयास रहेगा तो हम हारेंगे । पर भारत कभी हारेगा नहीं । क्योंकि देश की सरकार ने जो सपना थड़ा घोष रखा है वह है सत्यमेव जयते (सत्य ही जीनेगा) । यह थड़ा है तो हम जरूर जीतेंगे । पर यदि हम सत्य को जिताने या जिलाते नहीं अपनी जान बचाने में रहेंगे तो जान साएंगे साथ ही धान भी खो बछेगे ।

हमारे सामने एक लक्ष्य होना चाहिए । जिसके लिये हम जाएँ और जिसके लिए हम मरने को तयार रहें । साम्यवाद इसलिये जीतता है क्योंकि उनकी वैज्ञानिक हिंसा में थड़ा है । 'ब्रह्मात्मक भौतिकवाद स इतिहास बना है पाप पुण्य की धारणाएँ यथा और धोपी हुई हैं । इतिहास और युग का तन्नाजा है कि पूँजीवाद गिरेगा और पालतेरिम्त जीतेगा । तू इस दृढ़ को समझ उसको बड़ा और इसमें जुझ और इसका सम्पन्न करने में निमित्त बन' ऐसी थड़ा साम्यवाद में है ।

इसके समस्त नाई प्रबलतर थड़ा जब तक नहीं होगी तब तक भारत चीनी विस्तारवाद का रोक नहीं सकेगा । जब तक हमारे पास जीवन को धिस जित करने को कोई यज्ञपूत लक्ष्य न हांगा तब तक हम बढ न सकेंगे । स्वराज्य के बाद जैसे यहाँ कोई जीवन सिद्धान्त ही नहीं रहा है । स्वराज्य के बाद सब कोई पसे और सत्ता पान के पीछे पड़े हैं । हमारे जीवन में शधिल्य है । जो समन्ना पहल 'योछावर होने को थी वह क्षतम हो गई है । असली मर्ज यह है । उसका इलाज है कि फिर आहुति धम पन्त करें जिसको लकर व्यक्ति जिय समूह जिय देग जिय । जीवन प्रयोजन मित जाता है तो डिसहटीप्रधान समाप्त हो जाता है । आप अपनी आत्मा के साथ एनीप्रट हूजिय तो आप सबको साथ हटीप्रट कर सकेंगे ।

नागरिक मोर्चा खूब मजबूत है ता सनिष मोर्चे की जरूरत नहीं पड़ेगी । और यदि सनिष मोर्चे की जरूरत भा हो तो नागरिक मोर्चे से उस मजबूती

मिनेगी ।

जितने जवान जा रहे हैं इनके परिवारों का नतिक उत्तरदायित्व हमारा है । केवल जवान ही नहीं बल्कि जो भी असहाय है और जिनकी मजबूरी उनकी जिन्दगी में गांठ बन गई है और जिसे व दिल म पीस रहे हैं उस असहायता को दूर करें तो देश में बड़ी शक्ति पदा होगी ।

ग्राममिष्टस की बात बड़ी पेचीदा है । आज तो हमारी ग्राममिष्ट की शक्ति पाकिस्तान के बराबर भी नहीं है । हमें तो नतिक बल का ही आधार सेना होगा ।

राष्ट्रराज्य के मोर्चे पर शक्ति खर्च होती है । पैदा होती है वह नागरिक मोर्चे पर । यह शक्ति भाषण के हेतुमेल से पैदा होगी । हाथ के पीछे हृदय दिमाग और आत्मा की ताकत बढ़नी चाहिए । हाथ अस्त्र तभी तक धामेंगे और चलाएंगे जब तक दिल साथ दगा । असल स्रोत सब शक्ति का वह है । देश के लिए वह है जनता की सकल्प-शक्ति । उसे जगाना है और उसके लिए स्वयं को साधुति बनना है ।

दिसम्बर ६२

□ ■ □

स्वतन्त्रता और एकता

इधर यूरोप में जो करीब दो महीने से घूमता रहा हूँ उससे मेरे चिये यह और भी साफ हो गया है कि एकता के लिए स्वतन्त्रता जरूरी है। मामूली तौर पर समझा जाता है कि ये दो चीजें एक दूसरे से जलटी हांगी। अगर हर भादमी अपने में स्वतन्त्र रहे तो दूसरे के साथ उस का मेल उतना ही कठिन हो जायेगा। यानी वह अपने को बहुत गिनेगा और दूसरे के लिए झुकना और दूसरे के साथ मिलाप करने के लिए आगे बढ़ना उतना जरूरी और भासान उसे उसके लिए नहीं रहेगा। पर मेरा अनुभव दूसरा है। हम जब तक पराधीन हैं तब तक स्वतन्त्र और पृथक् होने के लिए तड़पते रहते हैं। उस समय हमें छोटे बच्चा का भेद पदा हो जाता है और स्वास्थ्य पूरी तरह बनाने नहीं पाता। जो स्वस्थ नहीं हैं उसमें स्नेह कहा से पदा हो सकता है? स्वास्थ्य से स्वास्थ्य भाता है और स्वस्थ भवस्था में ही स्नेह सम्भव हो सकता है। एकता आखिर स्नेह में से ही तो फलित होगी।

भारत अब जब स्वतन्त्र हो गया है तो उस के लिये दूसरे देशों के साथ अपनापन पदा करना उतना कठिन नहीं है। अब उस में सघप की भावना नहीं है। वह हर तरह के समाचार के व्यापार के और सस्कृति और साहित्य के आदान-प्रदान से हर देश के साथ अपना सम्बन्ध और एक्य बनाने को उत्सुक है। यूरोप के देशों में कुछ एक पर दूसरे का दबाव अनुभव होता हुआ मैंने पाया। इस में से सघप उपजता है। अगर दबाव न रहे तो सम्भावना है कि उन में सद्भावना सहज रूप से व्याप्त हो जाय। राष्ट्र तो ठीक है जस कि व्यक्ति अपनी जगह ठीक है। लेकिन राष्ट्रवाद व्यक्तिवाद की तरह अस्वस्थ मनोदशा का घेतक समझा जा सकता है। राष्ट्रवाद में एक तरह का आग्रह है और तनाव है। जस उसमें गमित है कि कोई दूसरा राष्ट्र है जिससे सम्बन्ध स्पर्धा और विरोध का है। मेरी धारणा है कि हालत जसलाती है कि उन देशों की स्वाधीनता सम्पूर्ण नहीं है। किसी प्रकार का दबाव उनकी चतना को दबा रहा है।

कोई समूह अपने आप में तभी व्यक्तित्व पा सकता और बलिष्ठ हो सकता

बनता है और जीवन और जगत का समस्त भ्रुमण उनके लिए सामग्री का काम देता है। यह रचना पुस्तक के रूप में हो सकती है चित्र के संगीत के, भाविष्कार के रूप में हो सकती है। इस पर किसी विशेष देश या जाति का ही अधिकार नहीं रह जाता। ज्ञान सावभौम है कला भी सावजनिक। किसी भी पद्धति से इस मानवानुभूति के फल को किसी घरे में बन्द नहीं रखा जा सकता। कोई देश ऐसा नहीं है जिसमें लोग न पैदा हुए हों जिन्हें सारी दुनिया अपना मानती है। उनकी कल्पना उनकी भावना एकदम नहीं रह सकती। किसी भी बहाने उन्होंने मनुष्य से इन्कार नहीं किया। उस मनुष्य को लांघा नहीं। वे मनुष्य को पाने और उससे लिए धन का विसर्जित करने में ही जुटे रहे। इस प्रयास में जो कुछ वे दे गये वह मारी मनुष्य जाति की धरोहर हो गया। आवश्यकता है कि हम उस को अपने में समेटे और रोके न रहें। भेद तो हम में है पर वह दूर होने के लिए है। भाषा का भेद है रहन सहन और रंग रूप का भेद है। पर भेद वे आत्मा के नहीं हैं, ऊपर की परिस्थिति कारण है और वही तक है। परिस्थितियों पर हम विजय पा सकते हैं बल्कि उन परिस्थितियों को ही हम अपनी प्रगति का साधन बना सकते हैं। परिस्थितियों की प्रतिकूलता कोई वस्तु नहीं होती। हम में रचनात्मक प्रेरणा हो तो हर परिस्थिति हमारे लिए सामन रूप हो जाती है। आवश्यकता है कि भाषाओं में परस्पर अधिक अनुवाद हो उनका आपसी आदान प्रदान बढ़े। तब हम देखेंगे कि जितना क्षत्र व्यापक होता है उतना ही आत्मा का महत्व बढ़ता और ऐक्य सुगम होता है। न्यायिक शरीर तो सब के अलग-अलग हैं। और जब हम में एकता की भावना आती है तो वह स्वार्थ के नहीं आत्मा के आधार पर ही आ पाती है। अस्वस्थ शरीर में स्नेह की जगह अहंकार ज्यादा आता है। अहंकार मनबन पैदा करता और लडागा है। और जैसे-जैसे स्नेह हम में बढ़ता है, हम देखते हैं कि जैसे ही जैसे शरीर का आग्रह और स्वायत्त का मोह कम होता जाता है। आज हमारे सामने समस्या है कि विज्ञान के साधनों से अगरचे हम पास-पास आ गये हैं पर क्या यह एकता अदृशनी और गहरयन की भी हो सकती है? व्यापार की और गजनीति की सतही एकता में साफ शीर पर काम नहीं चलता। उसे मन में भी गहरे उतारना है। यह काम चाहता है कि हम उन कृतियों को एक दूसरे के निकट पहुँचायें जो प्रेम की प्रेरणा में से सब काल और सब देशों में सृष्ट होती रही है। और जिनके रस में दूर-दूर हम इस क्षण भी सहानुभूति के बहाव में अपना अहंकार छोड़ रहे हैं।

भारतीय राजनीति किधर

—घाज की राजनीति में सुधार क्या जरूरी है ? है तो क्यों है ?

—घाज की राजनीति से आपका मतलब क्या ठीक घाज की ही यानी सन् ३७ की राजनीति से है । बात यह है कल काँग्रेस की पहली बैठक हो चुकी है । अभी घाज दूसरी है । लेकिन उसमें जो होना है घाल इण्डिया काँग्रेस वमटों पहले ही कर चुकी है । हिन्दुस्तान की सबसे बड़ी राजनैतिक अमात काँग्रेस ही है । सबसे बड़ी क्या एक तरह से कहा जा सकता है कि वह समूचे राष्ट्र की राजनैतिक प्रतिनिध्यात्मक संस्था है । इसलिए घाज की राजनीति से मुख्यतः काँग्रेस की राजनीति का मतलब समझ लू । मैं कह सकता हू कि परसों से प्रमाणिक रूप से राजनीति ने जो रख पकड़ा है वह पहिले का रख से असह्यता बिना जा सकता है । गांधीजी ने जब अपने को काँग्रेस के सिर पर से हटा लिया सभी से वहाँ की राजनीति में एक नये परिच्छेद का भूमिका पड़ गई है । लेकिन गांधी ने जो दिया था उससे सहज छटकारा न था गांधी काँग्रेस पर न रहे पर न रहे पर काँग्रेस और भी अधिक गांधी पर निर्भर हो रही है । उनकी स्प्रिट काँग्रेस की काय समिति की प्रेरणा है । पर जवाहरलाल अपनी तबियत में गांधी की तरह के व्यक्ति नहीं है । गांधी युद्ध में भी शान्त रहता है तब जवाहरलाल हर समय मारों मुकाबले के लिए सम्बद्ध से नजर धाते हैं । भगडा बगेड़ा गांधी के स्वभाव में नहीं है । हा सत्याग्रह हो सकता है और वह इतना बटिन हो सकता है जिसका क्या कोई इस्तेमाल की तलवार होगी । पर उस सत्याग्रह के युद्ध में भी न केवल ध्येय ही शान्त हागा प्रत्युत उस युद्ध की प्रवृत्ति भी शान्ति मयी होगी । तिसके जब काँग्रेस के शीप पर से हटें और गांधी घाये सब से सिह सड़ की जगह एक प्रकार की आध्यात्मिकता कायम न अपनी प्रवृत्ति में स्वीकार की । जवाहरलाल और बाबू पर गढ़ गये व्यक्ति थे । एक प्रकार से उन्हें गांधी ही ने बनाया था । पर गांधी भी उन्हें अपने अनु रूप नहीं बना सका । काँग्रेस बिना भी भाति गांधीजी से बाहर नहीं जा सकती थी । लेकिन काँग्रेस की परग हो गई थी और यह तिस बला था कि राष्ट्र की यह बड़ी इकट्ठी अमात काँग्रेस

बाह कर भी गांधी को साथ नहीं दे सकती। तभी सन् २१ के बाद बीच में स्वराज्य-पार्टी बनी थी और सन् ३२ के युद्ध के बाद फिर स्वराज्य पार्टी जैसी चीज बनी। यह पालियामेण्टरी पार्टी थी। सत्याग्रह के मोर्चे पर मोर्चे लाने के बाद भी कांग्रेसी पढ़ी लिखा शहरी लोगों की जमात में से पालियामेण्टरियज्म और कान्स्टीट्यूशनलिज्म उसल कर निर्मूल नहीं हो गये। सडाई की गर्मी जहा हो कम हुई तहा ही मदान ने अधिक कौंसिलें उह भूभन लगी। एसी हालत में गांधी ने कांग्रेस को पालियामेण्टरियज्म के रास्ते पर एष दो कदम चला कर उसे छोड दिया। अब तक की प्ररणा गांधी की प्रकृति की थी। मुक उसी के सहारे जीता रहा और बढता रहा और कोई दूसरी विन्वास की साक्त दीवती न थी लेकिन सभ्री जवाहरलाल जेस से भाय। पालियामेण्टरी पार्टी कांग्रेस का एक भास थी। गांधी न उसके लिए कुछ भादमियो की एक अधिकार प्राप्त कमेटी बना दी थी। भासा था कि व लोग पालियामेण्टरी काम किये चले जाय क्याकि वे लोग और कामो में न खुद रस लेंगे न दूसरा को उसमें रस लने देंगे। उस छोटे गुट को छोडकर बाकी और लोग बाहर के और और जरूरी कामो में लगे रहें। गांधी की समूची वृत्ति जनता की ओर थी। पालियामेण्ट के उनके निकट तभी और नहीं तक कुछ धय थ जहां तक उसका जनता के हित से सम्बन्ध है। पालियामेण्टरी नाम से शोक रखने वाले मनुष्य को उहाने एष तरह से छुट्टी-सी ही दे दी थी। अपने मदान में वह भाजाद थे लेकिन नवेल कांग्रेस वकिंग कमेटी के मारफत जनता के हाथो में थी। जवाहरलाल यह सब नहीं समझ सके उनकी शक्ति जो चाहिए। पालियामेण्टरी के काम में रस रखने वाले लोगो को नवेल धामन के काम से उहोंने अपने को वकिंग कमेटी को और समूची कांग्रेस को भर लिया। जहा कौंसिल हमारी मनो वृत्ति में बस कोना दावे बीठी था यहां अब वह कौंसिल जवाहरलालजी की मदद से (यद्यपि विल्कुल उनकी भागा के विरुद्ध) हमारे समूचे मन में धसर कर बढ गई। जहां देखो कौंसिल का चुनाव है जहां देखो इल्लुमिनेशन। जवाहरलाल ने अपनी समूची गर्मी इसमें डाल दी। यह चाहे कुछ भी समझ रहे हूँ लेकिन जनता के मन में उहोंने कौंसिल का भीतर तक पुसा दिया। अब तक जनता भात्म विन्वास के बल पर अपने पैरों पर खड़ा होना सीख रही थी। यह सीखने में जितना समय लगना चाहिए उतना तो सगेगा ही। अपने हाथ का सहारा देकर बच्चे को थोड़ी देर खड़ा करलो तो करलो लेकिन स्वयं खड़े होने की शक्ति उससे भिन्न चीज है। जवाहरलाल ने पुकार तो जारी रखी—जनता जनता, लेकिन देश की निगाह के सामने रखी कौंसिल कौंसिल। मानो जनता का भार

भारतीय राजनीति किधर

—भारत की राजनीति में सुधार क्या करनी है ? हे तो क्यों है ?

—भारत की राजनीति से भाषका मतलब क्या ठीक भारत की ही यानी सन् ३७ की राजनीति से है। बात यह है कल काँग्रेस की पहली बैठक हो चुकी है। अभी भारत दूसरी है। लेकिन उसमें जो होता है भारत इण्डिया काँग्रेस कमेटी पहले ही कर चुकी है। हिन्दुस्तान की सबसे बड़ी राजनितिक अमात काँग्रेस ही है। सबसे बड़ी क्या एक तरह से कहा जा सकता है कि वह समूचे राष्ट्र की राजनितिक प्रतिनिध्यात्मक संस्था है। इसलिए भारत की राजनीति से मुख्यतः काँग्रेस की राजनीति का मतलब समझ लो। मैं कह सकता हूँ कि परसों से प्रमाणिक रूप से राजनीति ने जो रस पकड़ा है वह पहिले के रस से अलगहदा किया जा सकता है। गांधीजी ने जब अपने को काँग्रेस के तिर पर सँ हटा लिया तभी से वहाँ की राजनीति में एक नये परिच्छेद की भूमिका पढ़ गई है। लेकिन गांधी न जो लिया था उसमें सहज छोटकारा न था गांधी काँग्रेस पर न रहे पर न रहे पर काँग्रेस और भी अधिक गांधी पर निर्भर हो रही है। उनकी रिपोर्ट काँग्रेस की काम समिति की प्रेरणा है। पर जवाहरलाल अपनी तबियत में गांधी की तरह के व्यक्ति नहीं है। गांधी मुझ में भी शांत रहता है तब जवाहरलाल हर समय भागों मुकाबले के लिए सम्बद्ध से नजर आते हैं। भगवाण बराबरा गांधी के स्वभाव में नहीं है। हाँ सत्याग्रह ही सचता है और वह इतना बठिन हो सकता है जितना क्या कोई इच्छात की सलवार होगी। पर उस सत्याग्रह के मुझ में भी न केवल ध्येय ही शान्त होगा प्रत्युत उस मुझ की प्रवृत्ति भी शान्ति भयी होगी। तिलक जब काँग्रेस के शीर्ष पर सँ हूँ और गांधी काय तब से प्रिह संन की जगह एक प्रकार की आध्यात्मिकता काँग्रेस में अपनी प्रवृत्ति में स्वीकार की। जवाहरलाल और ढाँके पर गढ़े गये व्यक्ति थे। एक प्रकार में उन्हें गांधी ही ने बनाया था। पर गांधी भी उन्हें अपने अनुरूप नहीं बना सका। काँग्रेस किसी भी भाँति गांधीजी से बाहर नहीं जा सकती थी। लेकिन काँग्रेस की परस हो गई थी और यह दिस जमा था कि राष्ट्र की यह बड़ी इच्छा अमात काँग्रेस

बाह्र केर भी गांधी का साथ नहीं दे सकती। तभी सन् २१ के बाद बीच में स्वराज्य-पार्टी बनी थी और सन् ३२ के मुद्दे के बाद फिर स्वराज्य पार्टी जैसी चीज बनी। यह पालियामेण्टरी पार्टी थी। सत्याग्रह के मोर्चे पर मोर्चे लेने के बाद भी अंग्रेजी पढी लिखी शहरी लोगों की जमात म से पालियामेण्टरियज्म और कान्स्टीट्यूशनलिज्म उखड़ कर निर्भूल नहीं हो गये। लडाई की गर्मी जहा हो कम हुई तहां हो मदान स अधिक कौंसिलें उन्ह सूझन लगी। एसा हासत में गांधी ने कांग्रेस को पालियामेण्टरियज्म के रास्ते पर एक-दो कदम चला कर उसे छोड़ दिया। अब तक की प्ररणा गांधी की प्रकृति की थी। मुल्क उसी के सहारे जीता रहा और बढ़ता रहा और कोई दूसरी विश्वास की ताकत दीखती न थी लेकिन तभी जवाहरलाल जेल से आये। पालियामेण्टरी पार्टी कांग्रेस का एक भ्रम थी। गांधी ने उसके लिए कुछ भ्रादमियों की एक अधिकार प्राप्त कमेटी बना दी थी। मद्या था कि वे लोग पालियामेण्टरी काम किये चले जायें क्योंकि वे लोग और कामो म न खुद रस लेंगे न दूसरों को उसमें रस लेन देंगे। उसे छोटे गुट को छोडकर बाको और लोग बाहर के और और जरूरी कामो म लग रहें। गांधी को समूची वृत्ति जनता की और थी। पालिटिक्स के उनने निकट तभी और वही तक कुछ भयं से जहा तक उसका जनता के हिस से सम्बन्ध है। पालियामेण्टरी काम से दौक रखने वाले मनुष्य को उहान एक तरह से छट्टी-भी ही दे दी थी। अपने मदान मे वह भाजाद ये लेकिन नवेल कांग्रेस कनिंग कमेटी के मारफत जनता के हाथों में थी। जवाहरलाल यह सब नहीं समझ सके उनको शक्ति जो चाहिए। पालियामेण्टरी के काम मे रस रखने वाले लोगों को नकेल यामन के काम से उहाने अपने को, कनिंग कमेटी को और समूची कांग्रेस को भर दिया। जहां कौंसिल हमारी मनी वृत्ति म बस कौना दाबे वैठी थी वहा अब वह कौंसिल जवाहरलालजी की मन्द से (यद्यपि बिल्कुल उनकी मशा के विरुद्ध) हमारे समूचे मन मे घसर कर बठ गई। जहां देखो कौंसिल का चुनाव है जहा देखो इर्लवदान। जवाहरलाल ने अपनी समूची गर्मी इसम डाल दी। वह चाहे कुछ भी समझ रहे हो लेकिन जनता के मन में उहोंने कौंसिल को भीतर तक घुसा दिया। अब तक जनता आत्म विश्वास के बल पर अपने पैरो पर खड़ा होता सीख रही थी। यह सोलने में जितना समय लगना चाहिए उतना तो सगेगा ही। अपने हाथ की सहारा देकर बच्चे को घोड़ी देर सबा करलो तो करलो, लेकिन स्वयं खड होने की शक्ति उससे भिन्न चीज है। जवाहरलाल ने पुकार तो जारी रखी—जनता जनता लेकिन देश की निगाह के सामने रखी कौंसिल कौंसिल। मानी जनता के आत्म

विवास का काम कौंसिल के दरवाजे तक ही है। इस तरह गांधी का ठठा विधायक कार्यक्रम लगभग एकदम भुता दिया गया। काम नहीं चाहिए क्रांति चाहिए। घोर जाति के नारे इतने लगे कि याद न रहा कि पेट भूखा है। घोर नारे जितने ही बुलन्द किये जाये पेट उतना ही घोर भूखा होगा। वैसे नारे सही हैं भगद के भीतर की पीछ हों। वही खोखले हो जाते हैं जब वे नारे कोरे राजनतिक हैं अभी मैंने यहां के म्युनिसिपल चुनाव में तीन-तीन घाने रोज की मजदूरी पर जियठ पहले हुए लोगो को इनबलाव जिदाबाद' के नारे लगात देसा है। कल उन्हीं लोगों से तीन घाने देकर ब्रिटिश राज्य जिदाबाद के नारे घाप भासानी से लगवा सकते हैं। सकते नहीं लगवाये जाते हैं। सकल्प एक वस्तु है मंगा दूधरी वस्तु। इस भाति कौंसिल की जड़ें जो लोगो के मनो में से उतनी ही बीली हो गई थीं जितनी रचनात्मक कार्यक्रम की जड़ें धरती में गहरी गई थी वह कौंसिल की जड़ें फिर हरी हो आईं। भाजकल का यह बन्वोन उसी मनोवृत्ति के बीच में हो रहा है। गाव घोर गाव का भाग्मी पीछे पड़ गया है। जनता जनता के नाम पर कौंसिल घोर उसकी मिनिस्ट्री हम घहरी लोगों को घर कर सडी है। मिनिस्ट्री महत्वपूर्ण प्रश्न है इसमें सन्देह नहीं। इस नये विधान के नीचे मिनिस्टर कापेंसी है या धकाप्रसी इसका जितना सम्बन्ध स्वराज्य के प्रश्न से है। उससे कहीं गहरा घोर घना सम्बन्ध स्वराज्य के प्रश्न से ज्यादा मुसीबत जदा एक किसान घोर मजदूर के प्रश्न से है। लेकिन यहाँ पीछो को जरा साफ निगाह से देखना चाहिए। मिनिस्ट्री के प्रश्न को महत्व कौंसिल के प्रश्न को महत्व देने से मिला है। घोर यह एक बड़े ताम्बुब की बात है कि उस कौंसिल के प्रश्न का महत्व सबसे घायिक उस व्यक्ति के व्यक्तित्व से मिला है जो विधान को बिना गाली के याद नहीं करता घोर जिसे सगत सिफ गरीब जनता की है।

स्वराज्य के प्रश्न का सम्बन्ध जनता से है। राजनीति से उतना नहीं है। घम्बस तो उसके बीच में घात्र के विधान वाली कौंसिल घाती नहीं है लेकिन उस कौंसिल के मन की बात घगर कापेंस के मन से टाली ही नहीं या सक्ती तो उस कौंसिल में जान का उद्वेग्य राजकारणात्मक नहीं होता चाहिए, 'जनतात्मक' होना चाहिए। 'जनतात्मक' शब्द का भाव समन्वये सेवात्मक। जाति घोर स्वराज्य के नारे बुसल करने की जगह—कौंसिल पर बनाना स्वराज्य की सापना नहीं है। कौंसिल के भीतर जातिकारी शक्त से निर्मित की जाने वाली मनोवृत्ति बे-भानी है। इस बात को बहुत गम्भीरता से धनुभव करने की घावपयता है। जवाहरलास जी के बन्वोन के घार्षिभक भापण

में उस अनुभव का प्रभाव है।

भापने जो पॉलिटिक्स में सुधार की बात की है वह सारी बात मेरे ह्याल से यहाँ आकर भटकती है। हमें अपने को जानना चाहिए जीवन एक विचित्र वस्तु है। शक्तियों और सिद्धान्त यहाँ बँने काम करते हैं हमको समझना आवश्यक है। राजनीति अपने आप में आन्विर्यी चीज नहीं। मुझ ऐसा माधुम होता है कि किसानों को अस्तित्व सिर्फ कांग्रेस को द्योट देने के लिए नहीं है। हाँ, कांग्रेस की ओर से द्योट लेने वालों का अस्तित्व उन किसानों के लिए ही हो यह समझ में आने लायक बात है। आज मुझे जो भय है वह यही कि राजनीति की साधकता राजनीति ही में ढूढी जाती है। वह राजनीति स्वयं विस्तृत जीवन में जाकर नहीं मिलती।

सुधार ठीक इसी जगह होना चाहिए। मानवीय जीवन राजनीतिक न हो। बल्कि राजनीतिक जीवन मानवीय हो। कोई वाद विज्ञान राजनीति के ऊपर, हमारी बाणी के ऊपर बठ जाय इसमें किसी की भलाई नहीं। मुझ नहीं दीखता इससे अप्रेजों का अधिपरय उठ जायगा। उठ भी जाय तो जो चीज उसकी जगह लेगी वह स्वराज्य नहीं होगा। प्री घाट विवेक की द्योट है। वह मगा कानून की कित्ताव में द्योट के साथ प्री लिखा हो इतने से पूरा नहीं हो जायगा। उसके लिए एक-एक द्योट की एक-एक स्वाधयी और स्वाभिमानी और सनागरिक बनना होगा। राजनीतिक नारे जत्ये को और बडा जत्या बना दें। यह ठीक है। लेकिन उस जत्ये का एक एक आदमी भी अपने-आप में व्यक्तित्वशील न बने तब तक सिद्धि नहीं समझ लेनी चाहिए।

सुधार यहा आवश्यक है कि राजनीति मजहब न बन जाय। आज तो इसका खतरा बढ़ता ही हुआ देखता हू। कट्टर मुसलमान समझ में आता है कट्टर हिंदू समझ में आता है। ये दोनों कट्टर आदमी आपस में सडे यह भी किसी कदर समझ में आ सकता है। लेकिन कोई लिबरल इतना कट्टर हो कि कांग्रेस को गाली दिये बिना उससे रहा न जाय और कांग्रेस भी इतना कट्टर हो कि वह राह चलते माइरेट पर व्यग कत यह बात बिल्कुल समझ में नहीं आती। वह राजनीति है नहीं जो किसी को मताध बनाती हो।

गांधी जी का युग मानवीय नीति शेष बज्ञानिक कमनीति का था। अब राजनीति को बज्ञानिक नीति कहा जाता है और कर्म की ओर उपेक्षा ही चाह हो और नहींजा यह होता है कि गर्मी तो उससे बढ़ती है वास्तव में शक्ति नहीं बढ़ती। मानवीय सबधों में कोई स्वच्छन्दता नहीं आती। उनमें सुधार होकर शोषण की जगह प्रेम का प्रवेश नहीं होता।

भसली सवाल मानव और मानव के बीच में स्नेह सम्बंध स्थापित करने का है। अमीर और गरीब में प्रेम नहीं हो सकता। ब्राह्मण और क्षुद्र में प्रेम नहीं हो सकता। तो इसी तरह कांग्रेस और मान-कांग्रेसी में भी प्रेम नहीं हो सके तो कांग्रेस राज्य को स्वराज्य कैसे किस भांति माना जावे।

लेकिन मैं जानता हूँ ऊपर का उदाहरण ठीक नहीं है कांग्रेस एक व्यक्ति नहीं है किन्तु कहने का मतलब तो मेरा यह है कि कांग्रेस का या किसी जमाअत का अपने से बाहर के साथ सम्बंध नहीं हो सकता। तो उस तरह की जमाअत से किसी भसली विस्म की उन्नति बिना दुश्वार मानना चाहिए। कांग्रेस की राजनीति अब भी दो प्रकार की मनोवृत्तियों की रगड़ मगड़ है। (Idealogy) शब्द उन तर्कों को बहुत बुरा प्रकट करता है जिसमें दर भसल सघष है। (Idealogy) तो कुछ मुलकें हुए जाने-बूझ विचार-पद्धति को कहेंगे। लेकिन भसन में तो दो विस्म की तवियें हैं दो मनोवृत्तियाँ जो रगड़नी और भगड़ती हैं। समाधान समन्वय में है। भगड़ने में सा भगड़ा ही है।

यह सत्त्वित ताकत का भरोसा पकरती है। यह सब चीजों को उसी परिभाषा में देखती है। वह जीवन को प्रयत्न की प्रमानत मानती है। (The survival of the fittest) राजनीति का मद वहाँ सन्ति है। पहला सुधार ताकत पाना है दूसरा सुधार और ताकत पाना है। करो कुछ लेकिन टानतबर बनो। गबस यही राजनीति यही है। इसीलिए जो ताकत हमारे बीच में सरकार की शक्ति में मजबूत बनी बठी है उसको घबसा ही दो। तब तब घबसा देने की नहीं सोचोग सब तब मुम्हारा बल नहीं बढ़ेगा। बल के लिए विरोध चाहिए विरोध के लिए विरोधी चाहिए। और जो विरोधी है उसका बगी तो मातपीत और बंसी संधिचर्चा और बंसा प्रेम-व्यवहार। बह जितना भरता है उतने हम जीते हैं।

दूसरी सत्त्वित भिन है। उसको दगन ही वह भीजिये। उसमें युद्ध को भवनाग है। किन्तु युद्ध अपने में ध्यय बभी हो ही नहीं सकता। इसलिए युद्ध करत ही हैं तो प्रेम को सम्पूर्ण करने के लिए। अप्रम है तो हम सब ही नहीं सकते। इसलिए जब तब हमारे मन में प्रेम है तब तब हमारे लिए गावँ अनिर जीवन में भी स्थान नहीं होना चाहिए। अपने से बाहर हम प्रेम के प्रसार के लिए घा सवने हैं अप्रम खुवाने नहीं।

लेकिन अप्रम जगह जगह मजबूत बना बठा है। सविन भी वहाँ ही है। तब अपने प्रसार के लिए निवसी हुई प्रेम की सविन को जन्ता से युद्ध भी टानना शोना है। इसलिए नहीं कि जब माना गया पणाय या ध्यवित मिन् जाय बन्धि उनलिये कि उगाबी जरसा मष्ट हो जाय औरत ह अपने घाय में बिभय बन जाय।

अब शक्ति । इस दशक का दावा है कि जो शक्ति अमोघ है वह तो यही है बाकी सब शक्तिपूर्ण तो एक दिन टूट कर बिखर रहने लायक हैं । बुद्धता हुआ आक्रोश शक्ति नहीं है । वह तो धायद अशक्ति ही है । वह आक्रोश जमकर जब स्वरूप बना तब शक्ति बनता है । इसलिए शक्ति को साध्य मानकर तो चलना ही नहीं है । शक्ति तो आप ही आप भीतर से मिलती चली जायगी । उसकी विन्ता खोली चिन्ता है । चिन्ता तो असल में सब की सब अपने भीतर के अप्रम का नाश करने में लगा देनी है । यह हुआ तो सब शक्ति मिली रखी है ।

यह दो प्रकार की घाटाएं आज हमारे कांग्रेस वकिंग कमेटी में खुलकर इन्द्र मचा रही है । मैं उनको (Ideology) नहीं कहूंगा । (Ideology) घोड़े का शब्द है । ऊपरी दृष्टि में फासिज्म और सोशलिज्म भी नहीं एक हैं । सोशलिज्म कहते कहते वष फासिज्म में उतर आना पड़ता है । इसका पता भी नहीं चल पाता । इटली जमनी हस इसके उदाहरण हैं । पहले दोनो मुल्क उन टिकटे टरा के प्रभाव में हैं । दो सोशलिज्म नाम पर चलने वाल उन उन मुल्कों के अन्य दनो से प्रबल साबित हुए और जिनके लिए यह अनिवाय नहीं रहा कि वे अपने से बाहर किमी थ्योरी का टिकट अपने लिए लें । स्टालिन के साथ ऐसा नहीं हुआ और चलते इवम' के साथ ही वह चलता रहा ।

राजनीति 'इवमों के संधि विग्रहों के आधार पर राष्ट्रीय प्रगतियों को चलाना पहली घाटा और पहले दर्शन की पढति है । ग्हा समूह प्रधान है । व्यक्ति साधन है और गहरे जायें तो प्रधान समूह भी नहीं है । कुछ लोग ही प्रधान हैं । बाकी शय लोग साधन है । यहां व्यक्ति को समझाया नहीं जाता जोग दिलाया जाता है । जो सबसे बडा भादमी हैं वह सब से बडा इसलिए है कि वह सब से बडा सेवक है । दूसरी ओर जो प्रधान बनता है कि वह उतना साधारण और परायण भी बने । इसकी अपनी इच्छा कुछ नहीं है । शक्ति उसे नहीं चाहिए । शक्ति उस सौधी न उम पर दायित्व की भांति आती है तो वह उसके नीचे धिनीत बनता है । वह उसके लिए पवित्र वस्तु है । उपयोग नहीं है बनता की घग्गी के रूप में है और हां इसीलिए जितना वह सगक्त है उतना ही वह प्रायना की ओर झुकता है ।

मैं मानता हूं कि मानव और मानवता का विकास उनी ओर है । दप में नहीं है सम्पूर्ण में है । दप किसी का नहीं टिकता समपण से निम्न-से निम्न ऊधा होता है ।

अगर हम इसी को मानव जाति की विकास नीति न मानें तो कौनसा सिद्धांत हमको अतठ यह स्थिर करके दे सकता है कि य प्रेसीडेन्ट बने, 'ब'

न बने। प्रेसीडेंट एक है। 'अ' है तो 'ब' नहीं 'ब' है तो 'अ' नहीं। लेकिन 'अ' 'ब' दोनों अपने को एक-दूसरे से बढ़कर समझते हैं तो क्या वे दोनों आपस में लड़कर फसला करें? लड़कर करें तो जीतने वाले के भाग्य तीसरा स और बठा है। फिर उससे भी और लड़ो। चूँकि भादमी बना ऐसा है कि अपने को किसी से कम प्रबलमन्द नहीं समझता। इसलिए कि-हीं दो भादमियों के बीच में से लड़ाई का मिलसिला ऐसे कभी खत्म नहीं हो सकता। पश्चिम की डेमो क्रांतिज्ञ सब असफल हुई और हो रही है। वह सब इसीलिए तो (Survival of the Fittest) हो तो वह आज हम क्यों पाते हैं कि इसी दुनिया में (Fittest) के बराबर (More fit) भी है और उसके साथ (More fit) भी है। तीनों हैं और उन तीनों में से किसी एक का भी जीवन सम्भव नहीं बनेगा। अगर दोष दोनो को नष्ट कर दिया जाय।

तो सब बीजों के भाग सब यादो और सब प्रगतिवा के भाग मानव जाति के विकास का यह नीति सिद्धांत कि बड़ा बही है कि जो छोट-से-छोटे के समया अपने को गिनता है। जो किसी को भातकित नहीं करता और सब को भानन्दित करता है। जो शक्ति से भुक्तता नहीं स्वय भुक्तता है। जो चाहता वह सही नहीं है। वह राजनीति हो सत्या हो कि व्यक्ति हो चाह जा भी हो। 'वॉगन' और उसके पहले घाँ ३० कमेटी के भाषण मैंने सुने बोलने वाले नेता थे। लेकिन जो गलत है वह नेता म भी गलत है और उन भाषणों म बहुत कुछ था जो सम्भावनाओं के सम्बन्ध म हमें आश्चर्य नहीं करता। लोग आपस में लस्टम-पस्टम मिले तो चल रहे हैं लेकिन मिलने की इच्छा उन में सीए होती जा रही है। आपस म घबरा-मुचकी करने की तबियत उमरती जा रही है। यही (Instinct) है जो जानन को जन्म देता है और पुनिस के सिपाही और जेलखाने के सीखकों को जन्म देता है। इस (Instinct) को मरदानगी का नामा जब चाहे पहला दिया जा सकता है। लेकिन यथायता स भाँलें मीधकर हम उन यथायता से बच नहीं सकते। मन्दर का मनुज होना ही चाहिये जो इस (Instinct) को बाध म रखे। नहीं तो म्हकार इसके पास नहीं है। रादासों के बारे म बहानियाँ बही जाती हैं कि बाटकर उनके जितने टुकड़े किये जाते थे उतने ही और बन सके होते थे। म्हकार-महकार के बीच मूठ ठन्ने मनेगा तो बही हान होगा। ऐसे ही म्हकार बन कर और उमरता है। जिते मात्र मैंने कुछमा है अगर दो दिन महीना बय सने बाद जब वे दम पायेंगे तो मुझे कुछने बिना क्यों रहेगा? इसलिए निम्नने की इच्छा कि-हीं दो

के बीच में किसी स्टेज पर कम हुई कि वही से जीवन धर्म-युद्ध कम और पशु युद्ध अधिक हो सकता है। मानव पशु हो पर मानव मानव है और उसका विकास यह है कि वह सम्पूर्णतः मानव हो और तनिक भी पशु न रहे।

शुरू राजनीति की बात से किया था। कहोगे कि हम आदर्श की बात पर जा उठे। लेकिन जिसको आदर्श कहो और जिसको राजनीति समझते हो उसमें ३६-वाला ३ और ६ का सम्बन्ध नहीं है अगर वे दोनों परस्पररूपेक्षित नहीं हो सकते हैं तो दोनों व्यर्थ हैं। और जब राजनीति के सुधार की बात है तब बेशक आदर्श के स्मरण की आवश्यकता होगी।

जीवन से सम्बन्ध रखने वाली कोई नीति कोई सिद्धांत कोई बात जरूरत से अधिक धार्मिक बनी कि उसी भाए से वह हिंसा हो जाती है। उसमें उगने की शक्ति बढ़ने की शक्ति सप्रह निग्रह की शक्ति चाहिए जो मशीन के पुरजे में नहीं रहती। मशीन की शक्ति अपरिमित है आदमी की परिमित। लेकिन मशीन के पेट में अपरिमित शक्ति को पाने के लिए आदमियों का इधन भँका जायेगा तो श्वेता रोयेंगे दानव हसेंगे। हमें नहीं चाहिए मशीन की वसी अपरिमित शक्ति। मशीन में विज्ञान है तो रहो लेकिन जाने दो उस तरह का सारा विज्ञान। पर यह ध्रम है कि मशीन की भीष्मावृत्ति के जाने से विज्ञान वहीं जा सकता है। विज्ञान भला जा सकता है। तो विज्ञान का तो सार सस्त्रियों में गपहीत होता है। पर जाता भी है तो जामो। मनुष्यता स्वस्थ और स्वच्छ हो तो भीमत में सारी मशीनें भँक दी जायें तो कोई दद की बात नहीं।

लेकिन हम दूर न जायें और याद रखें इतना ही कि वैधानिकता मानवता के शोषण के लिए नहीं है उसके शोषण के लिए है। इसलिए राजनीति का नियामक तत्व मानव प्रेम यदि नहीं है तो राजनीति रंगिणी है उसकी चिन्तना होनी चाहिए और मेरी धारणा है कि राजनीति में रोग के लक्षण इधर प्रकट होने लगे हैं। रोग तेजी से बढ़ता चाहता है। लेकिन उसके बढ़ने में खतरा है। वह खतरा योष्य पर घटाटोप की तरह छा रहा ही है। सारी दुनिया उसके नीचे सहमी है। मानवता को मोचना होगा कि कैसे क्या उसके रोग की छूत से अपना और उसका रक्षण करें। यह क्या समझा जाय कि भारत का भविष्य इसीलिए है कि और मुझे म किचे गये असफल प्रयोगों को वह दुहरायें। भारत गुनाम रहा है और है। तो इससे उसके भविष्य की धारणा क्या कम उग्वन की जाय और वह मसी भाति हो सकता है कि हिंदुस्तान के हाथों एक नया पराजय हो और मानवता के सामने एक नई दिशा खुल।

भारतीयता को खतरा

—भारतीय को खतरा किस दिशा से है और उसका क्या उपाय है ?

—सबसे बड़ा खतरा अपनी ही ओर से है। यानी अगर हम अपना निष्ठा खो देंगे तो कोई हमारी कुछ सहायता नहीं कर सकेगा। निष्ठा हमारी हिल चुकी है और उस तरह हम विवालिपन की ओर जा रहे हैं।

पश्चिम से जो उन्नति शब्द आया है उसने हम चक्कर में डाल दिया है। हम उन्नत होना चाहते हैं याने नकल में उन पश्चिम के देशों के पीछे भागना चाहते हैं। यह बहुत बड़ा खतरा है। इस लोभ और वृष्णा में फस कर भारत अपने घर की समझ नहीं करेगा। इस लोभ और वृष्णा में फस कर भारत जायगा। समय या ओर है कि अंग्रेजीयत और अंग्रेजी का मोह हम छोड़ दें। समय खने पर यह न हो सकेगा तो कहना होगा कि गांधी का आना और जाना बन्दार हुआ। अंग्रेजी व अंग्रेजियत न हमारी मति को हार लिया है।

—आपन कहे कि सबसे बड़ा खतरा अपनी ओर से है। निष्ठा हमारी हिल चुकी है तो इस निष्ठा को अपमान व खतर को दूर करने का क्या उपाय है ?

—हम अपनी घरेली की ओर घरेली में लगकर रहने वाली जनता की ओर देखें। प्रभा हमारा मन मान बुद्धि पश्चिम की दिमागीयन में उलझी है। पापों उसकी बाहरी सफ़रता पर लग गई है। भाव हम अरे और बुद्धि का अपनी ओर मोड़े ता आन पढ़ना कि दुनिया में चल रही होइ में पढ़ना हमारे लिए जन्मते नहीं है। तब हम अपने अन्दर से अहित प्राप्त करेंगे और अपने अभावों को मर सकेंगे।

आज माना विज्ञान में हम सब आगे सब हमारा पद भर। यह हानक प्रत्येक अवस्था के कारण हो हा सकती है। घरेली हमारे पास कम नहीं है और उस पर काम करने के लिए आत्मी भी कम नहीं है। फिर अन्न की कमी न बाँ मयकर दोष ही कारण हो सकता है। यह दोष यह है कि मन हमारा हमारे पास नहीं है यह बड़ी-बड़ी म्कीमों में है। यान वृष्णाओं और म्कीमों में

कम गया है। वह बिनापतीपन के पास बंधक रखा है। अनाज और कपड़ा दोनों हमें इस तरह अपने लिए प्राप्त कर लेना है कि प्रतिरिक्त मानव-शक्ति उसमें लक्ष्य न हो। केन्द्रित उत्पादन वह उपाय नहीं है। इसलिए प्रौद्योगिकरण सही राह नहीं है। उससे पहले वितरण की और फिर सम-वितरण की समस्या पैदा होती है। वह हम ही नहीं हो पाती और सरकार की अपरिमित शक्ति को चुका सकती है। विकेंद्रित उत्पादन याने (Village Economy) के सहारे हमें चलना होगा। वितरण की समस्या न खड़ी होगी। क्योंकि उत्पादन और उपयोग के बीच इतना फासला ही न होगा। उपभोक्ता ही लगभग उत्पादक होगा और इस तरह एक बृहत् चक्कर बंध जाएगा।

पर यह होना आसान नहीं है। क्योंकि मन-बुद्धि दूसरे तरह के ही गलित एक में हम फंसा बड़े हैं। वह तक आदमी और ग्रामी के बीच में बड़ी मशीन को ले आता है। उसे लेना ज्यो-कार्यों रहता है फिर भी कुनबा डूब जाता है। केवल पदार्थ का हिसाब आदमी को समस्या को निपटाने नहीं सकता। परिणाम यह है कि उस आर्थिक हिसाब को लेकर कमेटियों पर कमेटियाँ बठती हैं और एक के बाद दूसरी योजनाएँ आती हैं। फिर भी सफट उल्ट होता जाता है।

इसके लिए सबसे पहले हमें अपनी श्रद्धा को समझना होगा। तब कर लेना होगा कि हम ट्रूमन की या स्टालिन की राह चलना चाहते हैं या गांधी की राह पर। गांधी भारतीय आत्मा के प्रतीक थे। गांधी की राह में भारत का प्राण है। एक बार कम कर यह नियम कर लें और फिर हर परिणाम का सामना करने को कटिबद्ध हो जाय तो देखेंगे कि श्रद्धा या मानसिक दुबलता के कारण जिन कठिनाइयों का होना बना कर उस राह जाने से हम किम्बकने थे वे उतनी घोर नहीं रह जाती हैं और देखते-देखते वे पार हो जाते हैं। अभी तो पश्चिम से प्रभावित हमारी बुद्धि उस श्रद्धा में अपने को सहसा खोने के लिए पैदा न होगी लेकिन दूसरा उपाय नहीं। कौन नहीं जानता है कि भुगतने बिना सीखा नहीं जाता है। लेकिन क्या हम अभी काफी मुगत नहीं रहे हैं ?

गांधीजी की राह हम लेना है तो एक बात हम फौरन पहचानेंगे। वह यह कि उन्नति अधिक खर्च करन या कर सकने में नहीं है। दो सौ रुपया मासिक ने पांच सौ रुपया और पांच सौ से एक हजार और दो हजार मासिक खर्च करने वाले व्यक्ति का जीवन मान उतना ही ऊँचा है यह ब्रह्म है। आदमी जितना ऊँचा है आवश्यकताएँ उसकी उतनी ही सूक्ष्म हैं। इसलिए भारत का सर्वश्रेष्ठ पुरख न धनिक है न सत्ताधीश वह तो साधु है इस तरह जो जिनना रोगी निवृत्त भयं और हीन है उसको उतनी ही अधिक बन्धु की मुविधा

चाहिए। याने महल और बगले। पहले ऐसे लोगों के लिए हों जो स्वयं और समय हैं वे ऐसे सुभीते से परे हैं। उनका मामूली मकान और मामूली रहन रहन में आपत्ति नहीं हो सकती। उनको कम पदार्थ में अधिक मुख निकालने की कला धानी चाहिए। भाटम्बर और भूठी इज्जत की आवश्यकता उन्हें नहीं होनी चाहिए। उनको चलाने वाली प्रेरणा प्रेम और सेवा है तो दूसरी व्यर्थ लाभों में लोभ होने की उन्हें आवश्यकता नहीं। जो अहंकार से भलते हैं वे ही दूसरे से बड़-बड़ दीखना और रहना चाहते हैं। अर्थात् उन्नति और उच्चाई सम्पत्ति में नहीं पवित्रता में है। जीवन का मान बौद्धिक नहीं नैतिक है।

जब तक मूल दृष्टि में यह ज्ञान्ति नहीं आ जाती हमारी महंगाई और दीनता दूर नहीं हो सकती। पसीने की मेहनत से आने वाला अनाज जब तक पत्नी-सिन्धी दिमागी एम्प्राची के पेट में जाता रहेगा और मेहनत भूखी-की भूखी रहेगी।

अथर्व यह एक बड़ी ज्ञान्ति की बात है। आथर्व इससे बड़ा ज्ञान्ति दूसरी हो नहीं सकती। पर उस क्रम पर बढ़ने वाले जीवन की बात गोचरे से भी जैसे ढर लगता है। अर्थात् यह भाष पर उतरना और रहना सचमुच खेल-समाने की बात नहीं। उसमें अपने उस अहंकार का तिल तिल मारना होता है कि जिसको बढ़ा चढ़ा कर हम हाकिम और शासक बनते हैं। पर शासक और हाकिम ज्यादा बर्दाश्त नहीं किये जायेंगे। आवश्यक होगा कि वे उत्तरोत्तर सेवक बनें। केवम मन्त्र का नाम न सँ बल्कि उससे सिवा कोई दूसरी प्रेरणा अपने पास न रखें। महत्वाकांक्षाओं को जिनको उन्नति का माप माना जाता है अपने अन्दर से खत्म कर डालें। प्राप्त कृत्यों की पूर्ति में अपनी परिपूर्णता देखें।

हम अपने दशन में आने दृष्टि में यह ज्ञान्ति सा सकें तो आथर्व का धर्म आप-ही आप साफ दीखने लग जायगा। पर आवश्यक यह है कि जिस मिथ्या दान में हम आज चले रहे हैं उससे छुट्टी पायें और उस छुट्टी दें।

—यह तो हुई राजकीय व अर्थिक प्रश्न की बात। पर अतिवायत तार्किक जीवन की विद्युत्ता अथवा उसमें व्यस्त अगाधवृद्धा को पृष्ठभूमि हमारे नैतिक जीवन की मजबूती व स्थिरता के लिए आवश्यक है—उस सच में जीवनता तथा कायबल आप सोचने हैं ?

आथर्व गुडि का काम नैतिक व्यवहार में कामों से अर्थात् उत्पन्न और नये विषय आदि से बनने वाले काम नहीं है। आथर्वगुडि के लिए नये में जाना होगा जहाँ धानु का लग भी निविड होगा और सत्कार के लिए द्रव तरह बाजार खताना होगा कि पैस के सिवा दूसरी बात न मूझे—तो इस

रुद्र के विभवत व खण्डित जीवन की चर्चा यहां नहीं है। समन मे दोनों का एकीकरण साधना है। सस्कृति उसके सिवा क्या है? सासारिक व्यवहार को स्थाय और भोग की प्ररणा क बजाय निष्काम सेवा की भावना से चलाए यही तो सस्कारिता है। प्रीतिभाव जगान के लिए प्रायना और उपासना उपाय हैं। उसी प्रीतिभाव की दार्ष्टिक अभिव्यक्ति साहित्य है कार्याक अभिव्यक्ति लोक सेवा। कुन मिलाकर हम उसी को सस्कृति का नाम देते है।

आज भारत को आधिक चिन्ता है। उसका मतलब है आयात निर्यात का मेला-जाखा। आयात कम करना है, निर्यात बढ़ाना है। हम कच्चा माल बाहर भेजते हैं और एवज म बड़ी मशीने मगाना चाहते हैं। लेकिन एक पक्का माल भी हमारे पास था जिसको हम बाहर भेज सकते थे। उस निर्यात की तरफ हमारा ध्यान नहीं है। यह हमारी आत्मश्रद्धा के अभाव के कारण है। मैं मानता हू कि आज विदेशों में उस माल की मांग है। उस माल क हम अब भी साहूकार है। वह धन धरती के भीतर खानों म गड़ा पड़ा है, यह भी नहीं माल बहुत कुछ तयार हमारे यहां पड़ा है। हम क्यों उसका निर्यात करने की नहीं सोचते है? वह बड़ी कीमती चीज है और निश्चय ही अमरीका के बहुत से डालर हमारे देश में खीच लायगी। वह फीज हमारी सस्कृति है। गांधी तो बेशक नहीं है पर वह धरती है जिसने गांधी उपजाया। उसकी आत्मा है जिसका प्रकाश हम बूढ़ने पर अपने महा जहा-तहां पा सकते हैं। उसे हम क्यों बाहर नहीं भेज सकते हैं? ऐसे लोगों की आज भी भारत म कभी नहीं है जो सी फीसदी श्रद्धा के बल पर रहते हैं पसे क सहारे की उन्ह आवश्यकता नहीं। ऐसे श्रद्धा के धनी अनेकानेक सन्त-साधु हमारे पास है जिनकी वाणी सकलित की जा सकती है और बाहर भेजी जा सकती है। हमारे अखबार रात दिन जाने क्या खुरा फात ढोते और छापते फिरते हैं। अमरीका इगलड से डर-का-डर छपा कागज। हमारे पास चला आता है और हमसे पसे ले जाता है साथ मे हमी स हमारी आत्मा पुसला ले जाता है। इस दोहरी मार क नीचे भारत विचारा बेवम पण है। क्यों नहीं उसकी आत्मश्रद्धा जगाकर उसके प्रकाशन को बाहर स्र दगा म भेजा जाता? लेकिन वह नहीं हो रहा है। उधार पर हम जीते हैं और जैम जीवन यापन का एक बही उपाय हम दीखता है। अंग्रेजी का बिताव विलायत म निकरते देर नहीं होती कि यहां नगर-नगर मे आ फलती है। अंग्रेजी न हो तो यहाँ के प्रात एक-दूसरे की खबर भी नहीं रख सकते। क्या नहीं अंतर-प्रान्तीय रूप से प्रान्तीय साहित्यों का परस्पर अनुबा होना कि इस तरह भार तीय सस्कृति की प्रतिरूप हमारे पास भारतीय साहित्य की पूजी तवार हो

१७० परिप्रेक्ष्य

जाय। युनेस्को की ओर से डालर के रूपन देना को घटते हैं और वे देश अपने को कृताय मानते हैं। भारत क्या इस क्षमता ले ही सकता है दे कुछ नहीं सकता ? मैं समझता हूँ कि हमारा काम का यह सांस्कृतिक पहलू है और इसमें तुरन्त हमको लगना चाहिए। उधार पर रहना छोड़कर अपने आत्मबल के आश्रय रहना चाहिए। राजनीति को अपनी घरती से बच खीचना चाहिए और पश्चिम के देशों की ओर स टक्करी हटानी चाहिए।



भारत का भौतिक माग

राजनीतिक काम करने वालों के बीच होने का भ्रवसर कभी-कभी आ जाया करता है। मैंने देखा है कि ऐसे समय बठकें जम कर बठी है। और वातचीत गरमा-गरम हो भाई है। पालिटिकल कांशसनेस' को ऐसे जमावों में कभी भी नहीं देखी बल्कि प्रचुरता ही देखी है। सरकारी या काग्रसी औहदेदारों की आलोचना ऐसे मौकों पर तीक्ष्ण हा भाई है।

आज तक यह समझा और कहा जाता था कि जनता में राजनीतिक चेतना को जगाने की जरूरत है। उसे अपने अधिकारों का पता नहीं है। वह काफी आलोचक नहीं है। घम से वह चिपटी है और राजनीति में यह पिछड़ी है। यह दीन है दनित है जबकि धरती पर आख खोलकर चलने वाली कौमें ताकतें पाती गई और सरवशी करती गई हैं।

इसलिए अंग्रेजी पराधीनता से घोट खाकर और अंग्रेजी शिक्षा और अंग्रेजी राजनाति से प्रबुद्ध होकर सियासत समझने वाले देश के मेढकों ने कस्बों और गावों में जा जा कर राजनीतिक चेतना का मुलगाया। परिणाम मुल्क अब बरघट लेकर उठ बठा है। पराधीन अब वह रह नहीं सकता। अब उसे सघष की माग है। हो जाय एक बार खुलकर लड़ाई। अहिंसक वह भले हो पर लड़ाई एक ही जानी चाहिए। मुलक उद्यत है उतावला है पालिटिकली कांशस' है इत्यादि। और इस राजनीतिक सचेतनता का प्रमाण हरेफ जिले में मौजूद है। किसी चुनाव की सरगर्मी को देखिये। और तो और सिर फुल्ल तक आप देख सकते हैं। जगह एक है उम्मीदवार अनेक हैं। यह क्या राजनतिक चेतना का अच्छा प्रमाण नहीं है ?

लेकिन भारत में जब इस कदर राजनीतिक प्राण भर गया है तब गांधीजी के खून में यह सर्मी क्या दिखाई दती हैं ? जब देखिये भङ्गने की और समझोते की बातें। राजकोट सियासत में राजा के साथ प्रजा कसी दान में लड रही थी। दूसरी सियासतों में राजनतिक सैतय का कसा उबनता उभाए था। सियासतें क्या उन जन आन्दोलनों के बेग को भेन सवती थी ? पर गांधीजी के

हाथ में जब आई उन्होंने ठण्डे छीट ही डाले । पहा तक कि आंदोलन को लगभग बुझा लिया । राजकोट में सहसा प्राप्त होने वाला उनका प्रकाश क्या है ? क्या वह एकदम हृषियार बन रहना नहीं है ? क्या सधप के रास्ते से अरब नवोदय और प्राथमिक के उपायों की अपनाने का ही यह आशय नहीं है ?

और उनका यह नया कार्यक्रम क्या बही पुराना नहीं है ? कहा जाता है कि काग्रस कमलिया चरखा चलाए हो जाय । राजनीतिक चेतना को जगाने और चेतन की जगह यह चरखे से दमे दवाने और बुझाने की ही बात क्या नहीं की जा रही है ? चरखा कातिये और चरखा कातिये राजनीति भूल जाइये और चरखा चलाइय । स्वराज्य है तो चरख में है । मत बोलिये मत भीड़िये कीजिय मत चिंक कीजिय मत वह सब काम कीजिय जो राजनीतिक गर्मी पदा करने वाले समझे जात हैं । और कीजिये क्या कि चरख चलाइय ।

गांधी जी की यह बात यह दख एकाएक समझ में नहीं आता । मालूम होता है कि यह सब त्रिमे घरे को चीपट करना ही तो नहीं है । इन बीस वर्षों में हम राजनीतिक चेतना और ज्ञान को दूर और पास फलान में लग रहे हैं । घसा साहित्य लिखा और बाटा है और भ्रम-नीति की भाषण को और हकसाव की चर्चा की है । अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की पेचीदगियों का सोलकर बताया है । चुनाव की महाइयां मठी हैं जिनसे जनता में भाग पना हुई है और उसे पालि टिकत ट्रेनिंग मिला है । मत्व लेखा जाय तो अब वक्त था कि राष्ट्रीय सेना खड़ी की जाती और सलवार के साथ लार्ड छुड़ दी जाती । ऐस तत के मौके पर क्या यह गांधी जी के अहिंसा और चरखा धा जाया करते हैं ! मुन्क में प्राणों का बग उभार पर है । तमे वक्त रिवोल्यूशन का नारा तो उठाया नहीं जाता है चरखे की जनानी बात बही जाती है । बोलिये उसे नेतृत्व का दिवाला न कह तो क्या कहें ?

अब तक की राजनीतिक राजनीति में जो लोग साम लेने रहे हैं वही ही अहिनियत जिनकी बन गई है और जो तम पलकर उसी में अपनी जगह देगते हैं उठ गांधी जी की बात पर और नतृत्व पर ऊपर क जशी मुझमाहट होना स्वाभाविक है । गांधी जी के निहाज में या और बिनी कारण वह अपनी मुझमाहट न भी प्रकाश करें पर मन-मन में घनावस्त होने का कारण उन्हें अकाम है ।

पर सब यह है कि गांधीजी में राजनीति को एक नई निगा मिलता है । वह राजनीति राजनीतिक परंपरा वाली नहीं है । वह जीवन में विधित नहीं है और वह दासनीय और वशानिक नहीं है ता इगलिये कि उताम अधिका तापर

प्रथमसूची और मानवीय है। उसमें मुल्कों के विविध विधानों में दक्षता पाने के बजाय पड़ोसी के प्रति अपने कर्तव्य को समझना और जानना अधिक महत्व रखता है। यानी राजनीतिक चेतना (Political Cousness) कोरी नहीं है बल्कि नागरिक दायित्व की चेतना (Civic Cousness) को उसमें भाग है। इतिहास में और वर्तमान में हम देखते तो हैं कि अपने रास्ते चलकर राजनीति मानवता को नरसंहार में ही सदा पटक देती आई है। उसकी जड़ अहंकार है और उसका फल साम्राज्य निप्सा है।

भावुकता के द्वारा ही हम यदि राजनीति को न पकड़ें तो मालूम होगा कि सच्ची राजनीतिक चेतना नागरिक दायित्व चेतना है। जो नागरिक कर्तव्य के धरासल पर झुंयकनू हो जाती है ऐसी राजनीतिक गरमागरमी अंत में विधायक नहीं हुमा करती है बल्कि विधायक हो जाती है। किसी राष्ट्र का जब अचपल हो और उसका स्वाधीनता का आन्दोलन निरे शशय में हो तभी तक भावुक आदेश के लिए जगह हो सकती है। समझदारी के साथ तो उन गरम को ठण्ठा करके बन जाना चाहिए और राजनीति को शादिक की जगह अधिकाधिक सक्रम होते चलना चाहिए।

मुझे प्रतीत होता है कि जब कांग्रेस जनो का ध्यान गांधीजी सब प्रकार के राजनीतिक मतवादी से हटाकर चरखे पर केंद्रित कर देना चाहते हैं सब वह राजनीतिक चेतना में नागरिक-दायित्व (सिविकसेंस) का सार भर देना चाहते हैं। अथवा अन्दर से खोलती रहकर राजनीतिक चेतना अनिष्ट साधन ही कर सकती है।

वह राजनीति जो अधिकार पाने या छीनने या बढाने पर ही निगाह रखती है अंत में आपसी लड़ाई को और शक्ति की पूजा को ही जन्म दे सकती है। यह बात योरप के उदाहरण से स्पष्ट हो जाना चाहिए। इसलिए सच्ची और विधायक राजनीति वही समझी जानी चाहिए जो आदमी और आदमी के सम्बन्धों को सम और स्वच्छ बनाने की दिशा में सीधा प्रयत्न और प्रभाव दिखाती है। अर्थात् जो प्रत्यक्ष नैतिक है।

अगर यह सच है कि किही दो पक्षीसियों में हित विग्रह की जगह हितक्य का सम्बन्ध सच्चा और सुखकर सम्बन्ध है तो राजनीति का लक्ष्य यही हो सकता है कि कैसे आपसी सम्बन्धों को सम्भव होने और बनाने में और मानव सम्बन्धों में आई हुई विषमता का न्यूनसे न्यूनतर करे। अगर शोषण समाप्त होना है तो हमारे समाज के ढांचे को तदनु रूप बदलते जाना होगा और जीवन को सादा होना होगा। पचीसा और अस्सस्य घाराओं वासा राजनीति-शास्त्र

हाथ में जब आई उन्होंने ठण्ड छीटे ही डाले । महा तक र् भग बुझा लिया । राजकोट में सहमा प्राप्त होने वाला उन क्या वह एकत्रम हृदियार डाल रहना नहीं है ? क्या सघा निवृत्त और प्रायना क उपाया को अपनाते का ही वह र्

और उनका यह नया कार्यक्रम क्या वही पुराना न कि काग्रस कमलिया चरवा चलाए हो जाय । राजनीति और चतान की जगह यह चरख से इसे दवाने और बु नहीं की जा रही है ? चरखा कातिये और चरखा क जाइय और चरवा चलाइय । स्वराय है तो चरख में भाटिंग काजिय मत 'यिक' कीजिये मत वह सब काम र गर्मी पदा करने वाल समझे जात हैं । और कीजिये क्या

गांधी जी की यह बात यह र्ख एकाएक समझ होता है कि यह सब किय धरे को चीपट करना ही तो म हम राजनीतिक चतना और ज्ञान को दूर और पास र्खसा साहित्य लिखा और बाटा है और अघ-नीति की र् की चर्चा की है । अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की पेचीदगियों र चुनाव की लडाइया लड़ी हैं जिनस जनता में भाग पना टिकल टु निग मिला है । वन्कि रेखा जाय तो अघ वक्त र की जाती और ललकार क साथ लडाई छेड दी जाती । क्या यह गांधी जी के अहिंसा और चरखा का जाया क का घग उमार पर है । एम वक्त रिबोन्सुगन का नारा है चरखे की जनानी बात वही जाती हैं । योसिये उ कर् तो क्या कहें ?

अघ तख की राजनीतिक राजनीति में जो सौग स उदरनियत जिनकी बन गई है और जा सम पलकर उ हैं उह गांधी जी की बात पर और नेकृत्व पर ऊन हाना स्वाभाविक है । गांधी जी के निहाइ म या और मभवाह न भा प्रकट करें पर मन-मन में अनावा घबय है ।

पर सब यह है कि गांधीजी में राजनीति का एक बहु राजनीति राजनीतिक परम्परा यामी नहा है । व है और वह राष्ट्रीय और अािनिक नहा है ता इगसिए

स्वत्व, सम्पत्ति और सत्ता . 9

आये दिन प्रसन्नवारो म जो गरमा-गरम खबरें हम पढते हैं उनसे साफ जाहिर है कि हम युद्ध की तरफ जा रहे हैं। इससे आसन्न भीषणता सम्भव नहीं है। यों ख्याल में और सपने म हर कोई बच सकता है लेकिन वह बचाव थोथा है।

युद्ध की तरफ हम जा तो रहे हैं पर क्या जान-बूझकर जा रहे हैं? इसका भी उत्तर निश्चित है कि नहीं युद्ध कोई नहीं चाहता युद्ध से सब डरते हैं। बस भर सब उसे टालना चाहते हैं तयारो अगर करते हैं तो हमले की नहीं सिर्फ रक्षा की करते हैं। कोशिश सबकी शांति की है मगर गति युद्ध की है। ऐसा मासूम होता है कि इसम हम बेबस हैं। जिधर जा रहे हैं अपने बावजूद जा रहे हैं कोई मजबूरी है वाध्यता है जो कोई और गह हमारे लिए नहीं रहन दती।

विचार यही करना है कि वह बेबसी क्या है कसे उस काटा जा सकता है? युद्ध युद्ध को खतम करने के लिए होता है। नहनेवालों स पृष्ठ देखिए लड़ाई मिटाने के लिए ही वे लड़ते हैं। पर अनुभव बताता है कि लड़ाई ऐसे खतम नहीं होती बल्कि अगली के बीज बो जाती है। फिर भी शांति की चाह में हम जो सदा लड़ने तुल पढत है सो क्यों? इसके कारण गहरे हैं—इतिहास म भी और स्वभाव में भी।

लड़ाई जहा और जब होती है वहां और तब वह अनिवाय ही हो आती है। उस जगह उस रोकना सम्भव नहीं होता। मगर वह बनती तब और वहां नहीं है। जैसे बादल जो पानी यहां बरसाने हैं ये सात कण-कण करके कहीं दूर से हैं इसी तरह लड़ाई बनती वहा नहीं जहा लड़ी जाती है। लड़ी मदान म जाती है और लड़ते सिपाही हैं पर बनती वह नित्यप्रति क नागरिक जीवन मे हमारे द्वारा ही है। हम यह सोचें कि अस्त्र-शस्त्र को नष्ट कर देने से लड़ाई मिटेगी (जसा कि निःशस्त्रीकरणवादी सोच लेते हैं) तो यह बसा ही होगा जैसा यह समझता कि फलों को नोंच फकने से उनका पदा होना आगे बन्द हो जाएगा। जडो के आधार पर वृक्ष होता है और वृक्ष मे फल लगत हैं। फल के लिए वृक्ष स भी लड़ना काफी नहीं है, क्योंकि वह जड़ के अधीन है। सोचना

मानवता की घोषा नहीं है। वह तो हमारे आंतरिक सदोपता का सबूत है। उस शास्त्र की विषक्षणता जीवन की सफलता नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय विधान का पण्डित सच्चे मन से कातने वाली कतिन से बढ़कर राष्ट्र-सेवक नहीं है। दो घण्टे स्पीच देना दो घण्टा खर्चा कातने से बचकर राजनीति नहीं है। अगर हम राजनीति को बहुतेरी ध्ययताओं से शुद्ध करके जीवन की सम्य ताओं से जोड़ना सीखेंगे तो देख सकेंगे कि चर्खे की बात सुनने में दिमाग वालों को तुच्छ-सी सगे पर परिणाम में वह वसी तुच्छ बदापि नहीं है। भारत का पिछला २० वर्ष का जीवित इतिहास हमारी आँखों के आगे है और अगर हिन्दुस्तान आत्म विश्वास से काम ले सके और उधार की राजनीति को ही समूची राजनीति मान बैठने की गलती न करे बल्कि अपनी प्रवृत्ति और प्रवृत्ति के अनुकूल मौलिक रहे तो बिल्कुल सम्भव है कि उसके और उसके चर्खे के उदाहरण से दुनिया की राजनीति एक सच्चा सबक सीखे।

स्वत्व, सम्पत्ति और सत्ता : १

प्राये दिन प्रखबारों में जो गरमा-गरम खबरें हम पढ़ते हैं उनसे साफ जाहिर है कि हम युद्ध की तरफ जा रहे हैं। इससे भ्रातृ मीचना सम्भव नहीं है। यों स्थान म और सपने मे हर कोई बच सकता है लेकिन वह बचाव घोया है।

युद्ध की तरफ हम जा तो रहे हैं पर क्या जान-बूझकर जा रहे हैं ? इसका भी उत्तर निश्चित है कि नहीं युद्ध कोई नहीं चाहता युद्ध से सब डरते हैं। बस भर सब उसे टालना चाहते हैं तयारी भ्रगर करते है तो हमले की नहीं सिफ रक्षा की करते हैं। कोशिश सबकी शांति की है मगर गति युद्ध की है। ऐसा मालूम होता है कि इसमें हम बेबम हैं। जिघर जा रहे है भ्रपन बावजूद जा रहे हैं कोई मजबूरी है बाध्यता है जो कोई और राह हमारे लिए नहीं रहने देनी।

विचार यही करना है कि वह बेबसी क्या है, बसे उसे काटा जा सकता है ? युद्ध युद्ध को खतम करने के लिए होता है। लड़नेवालों से पूछ देखिए लड़ाई मिटाने के लिए ही वे लड़ते हैं। पर अनुभव बताता है कि लड़ाई ऐसे खतम नहीं होनी बल्कि भ्रगली वे धीज बो जाती है। फिर भी शांति की चाह म हम जो सदा लड़ने शुल पढते हैं सो क्यों ? इसके कारण गहरे हैं—इतिहास में भी और स्वभाव में भी।

लड़ाई जहां और जब होती है वहां और तब वह अनिवाय ही हो जाती है। उस जगह उसे रोकना सम्भव नहीं होता। मगर वह बनती तब और वहा नहीं है। जैसे बादल जा पानी वहा बरसाते हैं वे लाते कण-कण करके कहीं दूर से हैं इसी तरह लड़ाई बनती वहा नहीं जहां लडी जाती है। लडी मदान म जाती है और लड़ते सिपाही हैं पर बनती वह नित्यप्रति के नागरिक जीवन म हमारे द्वारा ही है। हम यह सोचें कि भ्रस्त्र-शास्त्र को नष्ट कर देने से लड़ाई मिटेगी (जसा कि निःशास्त्रीकरणवादी सोच लेते है) तो यह बसा ही होगा जैसा यह समझना कि फलों की नाब फँकने से उनका पश होना भाग बन्द हो जाएगा। जठों के भाघार पर वृक्ष होता है और वृक्ष म फल लगते हैं। फल के लिए वृक्ष से भी लड़ना काफी नहीं है क्योंकि वह जड़ के भ्रपीन है। सोचना

जड़ के बारे में होगा और इलाज का भी वही पहचाना होगा ।

फल में तो मुँह दीस ही रहा है । वक्त है हमारा सामाजिक और नागरिक जीवन और इसके मूल में है हमारा स्वत्व और सम्पत्ति का भाव और सद्गत व्यवस्था ।

इतिहास में जाने की आवश्यकता नहीं है । हम जानते हैं कि आदमी जान कर की तरह स्वतंत्र नहीं है, इसीसे वह आदमी है । इसीसे जहा वह रहता है उसे जगस नहीं करते, नगर करते हैं, समाज करते हैं । यानी आदमी वह है जिसे स्व ही सब-कुछ नहीं है जिसे पर का भी ध्यान है इसलिए जिसे परस्पर जीना सीखना होता है । इसी आपसीपन व विकास में आदमी का विकास है इसीमें उसकी सङ्कृति और उसकी सम्यता है ।

स्व को लेकर तो हम जनम ही हैं । उस स्वत्व के आधार पर हम सम्पत्ति की रचना करते हैं यानी स्वत्व का विस्तार करते हैं । इस विस्तार में दूसरे स्वत्व शामिल होते हैं । स्व का विस्तार पर को अपनाते के द्वारा होता है । ऐसे विवाह होता है और परिवार बनता है—सम्पत्ति की नींव पड़ती है । 'यह मेरा है यानी मैं इसके लिए जिम्मेदार हूँ । मेरी स्त्री मेरा यच्चा मेरा पति मेरा बाप—ये सब नाते-रिश्ते यह जतलाने के लिए पत्नी हुए कि हम एक-दूसरे के लिए जिम्मेदार हैं एक-दूसरे के दायित्व में आपस में बंध हैं । आदमी मेहनत करने जितना जो माता है पारिवारिकों में बाँटकर माता और भोगता है । यह हुई उसकी कमाई और उसमें से जो बना वह हुई उसकी सम्पत्ति ।

परिवार हमारे समाज की इकाई है । इस इकाई का स्वयं है कि वह सम्पत्ति बनाए और रखे । अथवा परिवार हो नहीं सकता भी नहीं सकता । केवल एक एक के पास अपना स्वत्व हो तो सम्पत्ति नाम की चीज पदा नहीं होती है पदा ही यह परिवार और पारिवारिकता का माय होती है ।

हम इस आधार पर रहते और बढ़ते चल आए हैं । पर थोड़ी दूर जाकर हमने देखा कि परिवार से और परिवार के लिए सम्पत्ति होने से ही काम नहीं चलता । परिवार दूसरा भी है, और सम्पत्ति बनाने का क्षेत्र उस दूसरे से सीमित है । कुछ दूर पर सम्पत्ति दूसरे की शुरू हो जाती है और वहाँ उसकी अपनी सीमा का जाती है । सीमा किसी को अच्छी नहीं लगती । ऐसी व्यवस्था में सीमारी चीज आदमी ने अपने बीच में पत्नी की और वह भी सत्ता । सत्ता यानी आपसी पन की यह धारित जिसके सहारे सम्पत्ति का परस्पर नियमन रहे और सबके स्वत्व सयत रहें । यह सत्ता कुछ नतिबसो चीज थी । जग सम्पत्ति मुनिचित है और परिवार मुनिचित है सत्ता उस भाति मुनिचित नहीं थी । वह एक पचासठ भाव था, एक तरह का अपने भीतर से उठ निबत्ता नतिब नैतृत्व ।

इसमें समता थी, पर इसका अपना अलग कलेवर न था। तब लोग मेहनत करते थे अपने अपने परिवारों के निमित्त से उपाजन करते थे और उस वृत्त में सम्पत्ति का रक्षण और उपभोग करते थे। सत्ता के पास अपनी सम्पत्ति न थी केवल नियमन की शक्ति थी। सत्ता का मतलब था सम्मिलित भाव जिसका एक या एकाधिक व्यक्ति प्रतीक था। कहना चाहिए कि स्टेट तब एक भाव था, उसने अपना शरीर नहीं प्राप्त किया था।

सबसे मानव-समाज फलता आया है और उसके रहन-सहन की इकाइयाँ उसनी छोटी नहीं रह गई हैं। जटिलता भी बढ़ी है। लालो-लाल आदमी बहुत घास-पास घिरकर या मजिम्मे में एक-दूसरे के सिर पर रहने का मजबूर हुए हैं। बाहर खड़े हुए हैं जिनमें ऊपर घासमान की तरह टगकर आदमी को रहना सीखना पड़ा है। जाने कितनी मजिलो के स्वाई-स्कर पर घमरीका में सिर धाने हुए हैं। यह सब इस कारण है कि केन्द्र के पास में-पास लोग खिच और सटे रहें। फलकर रहने में जो केन्द्र से दूर जा पड़ता है वह भाटे में रहता है। इस तरह के रहन-सहन के निर्वाह के लिये विज्ञान को और उद्योग को भी बढ़ी सरपकी करनी पड़ी है। अवकाश सिमटा है तो समय को भाँ सिमटना पड़ा है। जीवन में गहरी केंद्रितता और द्रुतता धा गई है।

इस विकास के अनुरूप सभी बातों में परिवर्तन हुआ है। सम्पत्ति का भाव वस्तु से हट गया है वह क्रेडिट-नोटों में केंद्रित हो गया है। अब सम्पत्ति का रूप 'चेक-बुक' है या दस्तावेज। धन कागजी है उन कागजों के बिना आदमी अपने को निधन मानता है। वस्तु श्रम से पैदा होती है और भोग में भी वस्तु ही आती है पर श्रम जिसके पास है उसके पास अभाव है और जिसके पास वस्तु सब तरह की है और प्रचुर मात्रा में है वह कुछ भी करता नहीं देखता। घर में पानी धा जाता है रोगनी धा आती है गस धा जाती है और सब सुमीते हो जाते हैं, और इसमें से किसी के लिये धान्मी को मेहनत नहीं करनी पड़ती सिफ खर्च करना पड़ता है। सब जिसका करना पड़ता है वह सरकारी करेन्सी या कागज या सिक्का है। इसका मतलब कि सारी सम्पत्ति का रूप 'क्रेडिट' है और वह सरकार के हाथ में और यत्र में केंद्रित है।

अब हम जिस जगह तक पहुँचते जा रहे हैं वहाँ सम्पत्ति सत्ता से भिन्न नहीं है सत्ता ही सम्पत्ति है।

फिर इसके पीछे एक तत्व है। एक पूरा तत्व-ज्ञान उसके पीछे है। वह तब और दर्शन बताता है कि सम्पत्ति के निजा होने से गड़बड़ होती है। पारि वारिक भी वह नहीं समझी या मकती क्योंकि परिवार का स्थापित स्वाम हो

जाता है उससे पूजावाद उत्पन्न होता है। कुछ परिवार मिल जाते और पूजी इकट्ठी करके श्रम का और श्रमिक का शोषण करने लगते हैं। एस बड़ी विषमता पैदा होती है। वही खाने तक की नहीं रहता वही सड़ता और विगड़ता रहता है। ऐसे समाज में फटाव पदा होता है और दुःख बढ़ता जाता है। सम्पन्न कुछ ही मालूम होत हैं अधिक दीन हीन बने रहत हैं। इसलिये निजी सम्पत्ति को ही मिटना चाहिए। सम्पत्ति जितनी है सारे समाज की रहे और सबको यथावश्यक मिले। ऐस आशा धायी नहीं रहेगी और समाज खुशहाल होगा। शोषण नहीं होगा न्य नहा हागा और दुःख भी नहा होगा।

इस तत्त्व-ज्ञान ने गहरा विन्नेपण किया और रोग का निदान जा पकड़ा पूजा और श्रम के विग्रह म। उसने बताया कि पूजा के मूल म श्रम है इसलिये पूजा के बल रहने वाला श्रम का शोषक है। अतः सत्ता सीधी श्रम और श्रमिक के हाथ में हो तो सब ठीक हा जायगा जो एमजिस्ट्रेन्स का सिद्धांत स्वीकार करने से आज के इस युग म दोनों विचारधारा एव दूसरे स इतनी अधिक प्रभावित हो जायेंगी कि दोनों तत्त्वतः एक-दूसरे के अनुकूल बन जायेंगी।

परंतु वास्तविकता यह है कि आज दोनों विचारधाराओं को एक-दूसरे पर जरा भी विश्वास नहीं है। दोनों की धारणा है कि यदि वे दूसरे पक्ष को कुषल नहीं देंगे तो दूसरा पक्ष कालान्तर म उनका विनाश कर देगा।

कहने का तो यह कहा जाता है कि आज का विश्व बहुत छोटा हो गया है। परन्तु व्यवहार म यह देखकर आश्चर्य होता है कि मात्र भी सत्तार के विभिन्न राष्ट्र एक दूसरे के बारे म कितनी अशुद्ध और गलतफहमियां स भरी धारणाएं बनाए हुए हैं। विश्व के साम्यवादी राष्ट्रों की जन सख्या आज ८० करोड़ स भी ऊपर है पर मयुक्त राष्ट्र धमरीका का एक प्रोसत नागरिक आज भी यह विश्वास करता है कि सत्तार भर म स साम्यवादी विचारधारा का नाश कर लिया जा सकता है और वह भी समझा-बुझाकर नहीं यदि सत्तार के मय या प्रयोग स। उधर चीन और रूस मे धमरीका और उगब सापी राष्ट्रों के सम्बन्ध म बहुत ही अन्तः धारणाएं विद्यमान हैं। वहां समझा जाता है कि सम्पूर्ण धमरीका और सम्पूर्ण ब्रिटन मन्तवर्षी की कट्टरपथी विचारधारा का अनुपायी है।

विश्व की इन उत्तमनवादी परिस्थितियों म मानव-जाति के तिये बचाव का एक माग हो बाकी है और वह माग है सहविद्यमानता के सिद्धान्त को स्वीकार करना। दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान म इसी सिद्धान्त की रक्षा के तिय समुक्त राष्ट्र सभ की स्थापना हुई थी। पर सत्तार के राष्ट्र किस क्षीप्रता और किस

भासानी से सयुक्त राष्ट्रों के मानवीय अधिकारों के घोषणा-पत्र को भूल गये हैं यह देखकर अचम्भा होता है।

मानव-जाति का लम्बा इतिहास इस सचाई का साक्षी है कि कभी किसी राष्ट्र का विचार जबरदस्ती नहीं बदले जा सके। जब कभी किसी राष्ट्र या जाति को दबाने या डराने का प्रयत्न किया गया तब-तब विद्रोह और नाति का जन्म हुआ। मगर आज भी सत्तार के उन्नत कहे जाने वाले राष्ट्र एक-दूसरे को दबाने और डराने का प्रयत्न कर रहे हैं। हजारों वर्ष हुए हमारे देश के महापुरुष महात्मा बुद्ध ने कहा था कि अक्रोधन जयेत् क्रोध असाधु साधुना जयेत् अर्थात् अक्रोध से क्रोध पर विजय प्राप्त करो और दुष्ट को अपनी साधुता से जीती। इसी बात को हमारा राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने इस रूप में कहा कि हिंसा पर केवल अहिंसा और असत्य पर केवल सत्य द्वारा ही विजय प्राप्त की जा सकती है। इस बात के सिवा दूसरी राह ही नहीं है। एक हिंसा दूसरी हिंसा को जन्म देती है और इस तरह हिंसा का यह सिलसिला कभी समाप्त ही नहीं होता।

भारत के प्रधान मंत्री ने हाल ही में विश्व भर का ध्यान सह विद्यमानता की ओर खींचने का प्रयत्न किया है। आवश्यकता इस बात की है कि सत्तार के प्रजातन्त्रवादी राष्ट्र इस सिद्धान्त की महत्ता को स्वीकार करें और इसे क्रियात्मक रूप दें। पश्चिमी प्रजातन्त्रवादी राष्ट्रों का सही नेतृत्व करने की शक्ति आज भी केवल इंग्लैंड में है। यह सतोष का विषय है कि हाल में ही इंग्लैंड की मजदूर पार्टी के नेताओं का गिळमिळल रूस और चीन होकर लौटा है उसकी राय से भी सह विद्यमानता का सिद्धान्त ही आज के मानव-समाज को विनाश से बचा सकता है। आज वह समय आ गया है जब ब्रिटेन के नेतृत्व में सभी पश्चिमी राष्ट्र सह विद्यमानता के सिद्धान्त को स्वीकार कर लें और इस सवध में भी अमरीका अपने को उसी तरह अकेला अनुभव करे, जिस तरह अपने जिनीवा कांफ्रेंस के अवसर पर किया था। मानव-जाति को भासन्न संकट से बचाने का एकमात्र यही उपाय है।

स्वत्व, सम्पत्ति और सत्ता • २

प्रतीत होता है। चूक वहाँ हुई जहाँ सत्ता को हमने सम्पत्ति मूलक बनने दिया। सम्पत्ति हागी तो नीति वहाँ नष्ट रहेगी। नीति अविरोधात्मक नीति है सम्पत्ति की शक्ति विपद्हात्मक है। इसलिए अब सत्ता सम्पदा के साथ तत्सम हुई तब नतिवृत्ता वहाँ सतिगोहिन हो गई और पाणविकता ही उसका बल बन गई। ऐसे सत्ता सत्य की नहीं रही माना वह अधिकाधिक अमत्य के दुग के रूप में निर्याई होने लगी। ऐसे कूटनीति का अर्थ हुआ राजनीति जिसका अर्थ हुआ अवनति।

इसका निराकरण कमे हो ? उपाय यही होता है कि हम अपने बीच ऐसी सत्ता की सृष्टि निर्माण और नियोजन करें जो सम्पत्ति मूलक न होकर नीति मूलक हो। दूसरे शब्दों में वह अविरोधी हो सपही न हो। ऐसा होने पर सत्ता शुद्ध होगी 'कटि' शुद्ध हागा मुग्य अम की विरोधी न होगी बन्कि अम की प्रतीक होगी। उस हासत में अम और अम में अविरोध का सम्बन्ध न रह पावगा। वह सम्बन्ध सहयोग का और प्रति का होगा।

स्पष्ट है कि यदि हमने सत्ता को सम्पत्ति से शुद्ध रखना विचारा तो हमारी अथ रचना और समाज रचना एकत्र ही हो रहेगी। उमका अतिवृद्धि करण अनायास ही कम हो चलगा। लोग सट-सटे नहीं एक-दूसरे को अविरोध देते हुए रहना पसन्द करेंगे। मानो वे परस्पर गुले रहेंगे और उम सुखपन में मद्भाव का संधार सहज रह सकेगा। अभी तो अिध अुत्तर वह सन्भाव अभाव बन जाता है और मानव-सम्बन्ध स्वच्छ और हासिक न रहकर राग-द्वेषपूर्ण हो जाते हैं। अथ रचना और अम रचना तब विवेचित होगी और अ्यक्ति जी से अाम करेगा अिराम पर नहीं करेगा। अस स्वाधीनचेता होने के साथ वह महज सन्भाव होता जावगा। पाप अुक्ति अटगी क्योंकि मामाजिवता अुगी। अर्थात् अलात् न होकर सहज होगा और अयने-अयन स्वभाव को सिद्ध करन और अनुसार अरतने और अिवास करने का सब के पास आव और अयवाग होगा। अर्थात् की अगह सम्बन्ध सहयोग का अयवेगा और अिविपता तब हमारे लिए प्रीति

और सौन्दर्य का निमित्त होगी कष्ट का कारण न होगी। सत्ता तब समस्या न होगी क्योंकि दूसरे की समृद्धि में हमें आनन्द प्राप्त होना लगता है।

यह विलकुल ही दूसरी जीवन-पद्धति है। इसमें व्यक्ति से हरण कर सम्पत्ति के स्वत्व को स्टेट की शरण देने का सवाल नहीं आता। स्टेट में जब सम्पत्ति मूलक स्वत्व एवं सत्ता का भाव पैदा होता और बढ़ने दिया जाता है तो वह अनिश्चयता से युद्ध की सलकार का रूप ले उठता है। स्टेट तब सठ बनती है और अपनी सम्पत्ति की रक्षा और बढ़वारी के लिए नाना उपाय रचती है। रक्षा के लिए फौज और अस्त्र-पुस्त्र बढ़वारी के लिए प्रबल प्रचार और मण्डी के लिए राज्य का विस्तार। माना व्यक्ति का धर्म अपरिग्रह इसलिए हो कि सारा संप्रह स्टेट के हाथ में सके।

आज के हमारे भारतीय जीवन में इस दुहरी नतिवृत्ता का दुष्परिणाम साफ देखने में आता है। गांधीजी ने बताया अपरिग्रह लेकिन उस अपरिग्रह को मानने हुए भी समस्या के नाम पर परिग्रह सही समझा गया। परिणाम यह कि बड़-बड़ पड़ तब और चैतन्य उपजाने की जगह जड़ता और परावलम्बिता पैदा करने लगे। सत्य यदि है तो अखण्ड है और नीति भी अन्तिम है। अन्यथा दोहरी नाति से तो आदमी चलकर पड़ता और मरता ही रहा है। उस पद्धति से कोई खुलता नहीं मगन और कसता और उलभसा ही जाता है।

माक्स दशन ने विश्लेषण तो काफी दूर तक सही किया लेकिन 'डिक्टेटर गिप भाव' के प्रोलिफेरिपत उसके लिए कुछ बड़ी चीज हो गया जो अद्बालु के लिए स्वग हो जाता है। वही भावना से काम लिया गया, तब का साथ छूट गया। हम जान लें कि स्टेट जब तक बहु सम्पत्ति मूलक है कभी भी समाज से तत्सम नहीं हो सकती। तब वह हुकूमत है और एक बग या दल ने ही हाथ हुकूमत रह सकती है। एक हाकिम सभी हो सकता है जब अनेक उसके तले महकूम हो। शासन यदि नैतिक से अधिक है, तो स्पष्ट है कि वह आत्मीय नहीं शासकीय शासन है जिसका नीचे प्रजाजन शासित है। इस तरह सम्पत्ति वाचक रहकर सत्ता ऐसी नहीं हो सकती कि जिसे दो बग न हो, एवं जो अपने को राजा समझे दूसरा जो अपने को प्रजा अनुभव करे। साल लोकतंत्र का हम नाम लें और चुनाव का परिणाम चाहे तो फीसदी ही दिखाई दे पर श्रेणी भेद और दुराव और दोरात्म्य सम्पत्ति मूलक राज्य में रहने ही वाला है।

तो यह समस्या कि सम्पत्ति का स्वत्व कहा रहे यह कह देकर समाप्त नहीं होता कि वह व्यक्ति में न रहे। सब पूछिये तो समस्या वहाँ से आरम्भ होती है। स्वत्व व्यक्ति में बन्द नहीं है इसकी पहचान से तो आदमी शुरू ही

स्वत्व, सम्पत्ति और सत्ता २

प्रतीत होता है चूक वहाँ हुई जहाँ सत्ता को हमने सम्पत्ति-मूलक बनने दिया। सम्पत्ति होगी तो नीति वहाँ नहीं रहेगी। नीति अविरोधात्मक शक्ति है सम्पत्ति की शक्ति विप्रहात्मक है। इसलिए जब सत्ता सम्पदा के साथ तत्सम हुई तब नतिक्रता वहाँ से तिरोहित हो गई और पागलिकता ही उसका बल बन गई। एम सत्ता सत्य की नहीं रही माना वह अधिकाधिक अमत्य के दुग के रूप में दिखाई देने लगी। ऐसे कूटनीति का अर्थ हुआ राजनीति जिसका अर्थ हुआ अवनीति।

इसका निराकरण कैसे हो ? उपाय यही होता है कि हम अपने बीच ऐसी सत्ता की सृष्टि निर्माण और नियोजन करें जो सम्पत्ति मूलक न होकर नीति मूलक हो। दूसरे शब्दों में वह अपरिग्रही हो सप्रही न हो। ऐसा होने पर मास गुट होगी कूटिड गुट होगा मुग्न धर्म की विरोधी न होगी बल्कि धर्म की प्रतीक होगी। उस हालत में धन और धर्म में दोषण का सम्बन्ध न रह पायगा। वह सम्बन्ध सहयोग का और पूर्ति का होगा।

स्पष्ट है कि यदि हमने सत्ता को सम्पत्ति से गुट रचना विचार्य तो हमारी धर्म रचना और समाज रचना एकदम दूसरी ही हो रहेगी। उगवा अतिरेकीकरण अनायास ही कम हो चलगा। लोग गुट गुट नहीं एक-दूसरे को अवकाश देते हुए रहना पसन्द करेंगे। यानों के परस्पर गुने रहेंगे और उस गुनपन में सद्भाव का सधार सहज रह सकेगा। अभी तो धिर घुंवर वह सद्भाव अर्थात् बन जाता है और मानव-सम्बन्ध स्वच्छ और हार्दिक न रहकर राग-द्वेषपूर्ण हो जान है। धर्म रचना और धर्म रचना तब विभेदित होगी और स्पष्टि जी से काम करेगा निराये पर नहीं करेगा। एते स्वाधीनचेता होने के साथ वह सहज गणाय होता जायगा। पाप वृत्ति घटगी क्योंकि सामाजिकता बढ़गी। कर्त्तव्य बसात् न होकर सहज होगा और अपने अपने स्वभाव को सिद्ध करन और तदनुसार चलने और विकास करने का सब क पाप जाव और अवकाश होगा। स्वर्णों की जगह सम्बन्ध सहयोग का पनवेगा और विविधता तब हमारे लिए श्रुति

और मौन्द्य का निमित्त होगी कष्ट का कारण न होगी। समता तब समस्या न होगी क्योंकि दूसरे की समृद्धि में हमें भ्रानन्द प्राप्त होने लगेगा।

यह बिलकुल ही दूसरी जीवन-पद्धति है। इसमें व्यक्ति से हरण कर सम्पत्ति के स्वयं को स्टेट की धारण देने का सवाल नहीं आता। स्टेट में जब सम्पत्ति मूलक स्वत्व एवं सत्ता का भाव पैदा होता और बढने दिया जाता है तो वह अनिवायता से मूढ़ की ललकार का रूप ले उठता है। स्टेट तब सठ बनती है और अपनी सम्पत्ति की रक्षा और बढ़वारी के लिए नाना उपाय रचता है। रक्षा के लिए फौज और अस्त्र-शस्त्र बढ़वारी के लिए प्रबल प्रचार और मण्डी के लिए राज्य का विस्तार। माना व्यक्ति का धर्म अपरिग्रह इसलिए हो कि सारा संप्रह स्टेट के हाथ आ सक।

आज के हमारे भारतीय जीवन में इस दुहरी नतिकता का दुष्परिणाम साफ देखने में आता है। गांधीजी ने बताया अपरिग्रह लेकिन उस अपरिग्रह को मानने हुए भी सत्ता के नाम पर परिग्रह सही समझा गया। परिणाम यह कि बड़-बड़े पड़ तेज और चैतन्य उपजाने की जगह जड़ता और परावलम्बिता पैदा करने लगे। सत्य यदि है तो भ्रष्ट है और नीति भी अद्वितीय है। अन्यथा दोहरी नीति में तो आत्मी चलकर फटता और मरता ही रहा है। उस पद्धति से कोई खुशता नहीं, बाधन और कमता और उलमसा ही जाता है।

भावसंगान न विनियोग का काफी दूर तक सही किया लेकिन डिक्टेटर-शिप भाव 'प्रोसिडारियम' उसका लिए कुछ बही चीज हा गया जो अडालु के लिए स्वयं हो जाता है। वहां भाषना से काम लिया गया, तक का भाव छूट गया। हम जानें कि स्टेट जब तक वह सम्पत्ति-मूलक है कभी भी समाज से सत्तम नहीं हो सकती। तब वह हुकूमत है और एक वग या दल के ही हाथ हुकूमत रह सकती है। एक हाकिम सभी हो सकता है जब अनेक उसके तले महकूम हा। शासन यदि नैतिक से अधिष्ठ है, तो स्पष्ट है कि वह आत्मीय नहीं शासकीय शासन है जिसके नीचे प्रजाजन शासित हैं। इस तरह सम्पत्ति बाधक रहकर सत्ता ऐसी नहीं हो सकती कि जिसमें दो वग न हो एक जो अपने को राजा समझ दूसरा जो अपने का प्रजा अनुभव करे। सास लोकसत्र का हम नाम लें और चुनाव का परिणाम चाहे सो फीसनी ही दिखाई दे पर श्रेणी भेद और दुराय और दीराल्म सम्पत्ति मूलक राज्य में रहने ही वाला है।

तो यह समस्या कि सम्पत्ति का स्वत्व कहा रह यह कह देकर समाप्त नहीं होती कि वह व्यक्ति में रहे। सब पूछिये तो समस्या वहां से आरम्भ होगी है। स्वत्व व्यक्ति में बन्द नहीं है इसकी पहचान से तो आत्मी गुन ही

स्वत्व, सम्पत्ति और सत्ता • २

प्रतीत होता है चुभ वहाँ हुई जहाँ सत्ता को हमने सम्पत्ति मूलक बनने दिया। सम्पत्ति होगी तो नीति वहाँ नहीं रहेगी। नीति अविरोधार्थक शक्ति है सम्पत्ति की शक्ति विप्रहारमक है। इसलिए जब सत्ता सम्पदा के साथ तत्सम हुई तब नैतिकता वहाँ से तिरोहित हो गई और पागलविकृता ही उसका बल बन गई। ऐस सत्ता सत्य की नहीं रही माना वह अधिकाधिक भ्रम-य के दुग के रूप में लिखाई देन लगी। ऐस मूटनीति का भ्रम हुआ राजनीति जिम्बा धर्य हुआ भवनीति।

इसका निराकरण कैसे हो ? उपाय यहा होता है कि हम अपने बीच ऐसी सत्ता की मृष्टि निर्माण और नियोजन करें जो सम्पत्ति मूलक न होकर नीति मूलक हो। दूसरे शब्दा में वह अपरिग्रही हो सप्रहा न हो। ऐसा होने पर सत्ता शूद्र होगी 'कृष्टि' शूद्र होगा मुग्न धर्म की विरोधी न होगी बल्कि धर्म की प्रतीक होगी। उस हालत में धर्म और धर्म में दोषण का सम्बन्ध न रह पायगा। यह सम्बन्ध सहयोग का और पूति का होगा।

स्पष्ट है कि यदि हमने सत्ता को सम्पत्ति से शूद्र रतना विचारा तो हमारी धर्म रचना और समाज रचना एकदम दूसरी ही हो रहेगी। उसका अतिवेदी करण धनायास ही बम हा ललेगा। लोग सट-सटे नहीं एक-दूसरे को धक्का-पट्टे देते हुए रहना पसन्द करेंगे। यानी वे परस्पर गुने रहेंगे और उस अनुपन में सद्भाव का संचार सहज रह सकेगा। अभी तो धर्म पुनर वह सद्भाव दर्भाय बन जाता है और मानव-सम्बन्ध स्वच्छ और हार्मिक न रहकर राग-द्वेषपूर्ण हो जाते हैं। धर्म रचना और धर्म रचना तब विभेन्ति होगी और व्यक्ति जी से बाय बरेगा बिराध पर नहीं बरेगा। उसे स्वाधीनचेता होने के साथ वह महज सामाज्य होता जायगा। पाप वृत्ति घटगी क्याकि सामाजिकता बढगी। बसंध्य बसातु न होकर सहज होगा और अपने-अपने स्वभाव को मिट करन और तदनुसार बरतने और विकास करने का सब के पास पाव और धवजाग होगा। स्पर्धा की जगह सम्बन्ध सहयोग का बनवेगा और विविधता तब हमार लिए प्रीति

सहा रहे और वसा ही एक दस्ता अपना कि न-बन्दूक इस तरफ साने रह । यह हातत बदल या सुधर ही नहीं सकती जब तक कि सत्ता राष्ट्रसत्ता या राष्ट्र राय सम्पत्तिमूलक समझा जाता रहेगा । ध्यान रहे कि राष्ट्रों की सीमा रेखा पर दा खत भावस म एक और ऐसे जुड़े हो सकते है कि उनके मानिक किसानों को रोज एक-दूसरे से काम पढता हो लेकिन अपने अपने राष्ट्रों के नाम पर दानों को एक-दूसरे के लिए घर यहाँ तक कि दुःमन बनना पड सकता है । इस अस्वाभाविक और अप्राकृतिक स्थिति का ही आज की सम्पत्ति मूलक राष्ट्र सत्ताएँ सबसे बड़ा सत्य बताकर आत्मरक्षा की दुहाई पर युद्ध रचा करती हैं । हैं । प्रजाण कभी नहीं लहती कभी नहीं लटना चाहती । राजकीय स्वाथ लहते हैं और देश के नाम पर वे ही प्रजाजनो को लडाने है । प्रजाकीम राय यानी सच्च प्रजातंत्र या लोकतंत्र का रूप एमी सत्ता का हांगा जा उलरोत्तर नीति मूसन है इसलिए कम-से-कम कलबर-बद्ध है । सत्ताओं का रूप जब ऐसा होगा तब उनमें टक्कर या रगड न होगी जैसे दो शीपका के प्रकाश म और उनकी सीमाओं म रगड नहा हानी है ।

एक भारी भ्रम हम पर सवार है । सब जानते है कि हम राज्यहीन समाज पर पहुचना है । फिर भी जाने किस बिडम्बना म हम उस समाज पर पहुचने के लिए राय को स्वयं म सम्पत्तिवान और सब समथ यहा तक कि व्यक्ति केन्द्रित बना । जाने म अयुक्तता नहीं देखते । आज तो जैसे मण्डित राष्ट्रसत्ता स्वयं प्रतिष्ठ भूय बन गई ह । मानों मानवता एक न हो और उसकी अक्षयता सर्वोपरि सत्य न हो ।

आवश्यक है कि एस पुरुष रहें जो उस अक्षय मानवता के भूय को किसी भी कोमत पर नष्ट न हान दें । अच्छा है कि यह यग इतना बल प्राप्त करे कि राष्ट्रा-सत्ताएँ उससे स्वतंत्र होकर प्रमत्त और निष्कुण न बन सकें । इससे भी अच्छा यह हो कि कोई राष्ट्र उस सनातन मूल्य का ही हाम में लेकर अपनी सत्ता का एसा निर्माण करे कि वह सम्पत्ति मूलक न होकर नीति-मूलक हो । दूसरे शब्दों म उसकी शक्ति आत्मिक हो और यह दूसरे देशों से अस्त्रास्त्र के बल पर स्वाय-विग्रह की भाषा म बात न करे बल्कि महापुत्रुति और समग्र हित का भूमिका पर आत्मिक भाव से वान करे । ऐसी सत्ता मनाश्रित न होगी वह अविरोधा होगी और इसी कारण उसकी बात अनिवाय हा रहेगी ।

गांधीजी को हमने राष्ट्रपिता माना है । यह यदि पिता थ तो एस ही राष्ट्र के थे—यानी उस राष्ट्र क जिसकी सत्ता सम्पत्ति म अधिक नीति म आधार रखने वाली होगी और जिसकी शक्ति अथ म नहीं शीति म होगी । वह राष्ट्र

करता है। दुनिया में कहीं भी देखिये आदमी का अपना स्वत्व सबसे स्वतंत्र और अबाधित नहीं है। फिर सम्पत्ति का स्वत्व कहाँ माना जाय ? शब्द चल रहे हैं 'सोशलवाइजेशन और नेशनलाइजेशन'। यानी समाजीकरण और राष्ट्रीयकरण। राष्ट्रीयकरण का मतलब साफ है कि उसका स्वत्व और अधिकार राष्ट्रीय सरकार के पास हो। समाजीकरण का क्या अर्थ है स्पष्ट ही यह स्पष्ट नहीं है। अतः म उसकी अर्थ निष्पत्ति भी यही होती है कि वह राष्ट्रीय सरकार के अधीन हो जाय। व्यवहार में इस तरह समाजीकरण स्वीकरण का रूप लेता है क्योंकि सरकार का यंत्र दल के हाथ में ही हो सकता है।

इस सब विचार का परिणाम यह निकलता है कि यदि हम युद्ध से छुड़ी पानी है तो राष्ट्र-सत्ता का सम्पत्तिमूलक न रहकर नीतिमूलक बनना होगा। ऐसा तभी सम्भव है जबकि राष्ट्रों की अर्थ रचना और तय रचना नीचे से ही सम्पत्तिमूलक न हो नीति मूलक हो। कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसा अर्थ क्षेत्र अंतर्बन्धित न होगा। बहा की समाज-व्यवस्था और जीवन-व्यवस्था ऐसी न होगी कि व्यक्ति मन में प्रीति और हाथ में उदम रखकर भी अपने को अग्रहाय अनुभव करे और सरकार की कृपा बोर पर एक अमहीन पुण्य सब सम्पन्न बन जाय। उस राष्ट्र के जीवन का मूल धर्म में होगा और शक्ति भी सेना में नहीं श्रद्धा में होगी। शहर और गाँव में बहा विरोध न होगा। शहर शाहूदार और गाँव तावेदार न बन पायगा। उस देश की संस्कृति और सभ्यता भी समक-समक और जोर-बोर की न होगी बल्कि गम्भीर भय और स्निग्ध होगी। सम्पत्ति वहाँ बिस की होगी यह प्रश्न हो तो साफ है कि वह केवल उपयोग की होगी। सम्पत्ति में लोगो का अपरिग्रह भाव होगा। कोई यदि सम्पत्ति को अपनायगा तो वह केवल कसब्य भाव से ही अपना सवेगा। उस पर छीन भपट बनावती होने की आवश्यकता न रहेगी।

साफ है कि एक ऐसा राष्ट्र किसी के लिए भय का कारण न होगा। किन्तु उसना ही माफ यह भी है कि उस राष्ट्र को स्वयं किसी का भय न होगा।

आज की समस्या राष्ट्रवाद में से बनी है और युद्ध भी बहुत-बहुत राष्ट्रवादो में से उत्पन्न होता है। राष्ट्र भगम में क्या है ? एक जगह काटों का तार बांध लिया और कहा कि इसपर हमारा राष्ट्र है और उपर तुम्हारा राष्ट्र है। वह सबीर को पहन से जमीन पर बनी नहीं होती उपर में हम ही कहा रोक और बाड़ गधी कर सत है। राष्ट्र की अपना जब तक इस तरह बाड़ बना की रहेगी और राष्ट्रसत्ता की धारणा भी उही हृदयिया पर निबवर गरी होगी तब तक धनिवाय है कि एक फीबी दस्ता निब-बदूके उस तरफ साने इधर

सहा रहे और बसा ही एक दस्ता अपनी किच-बन्दूकें इस तरफ ताने रहे। यह हालत बन्द या सुधर ही नहीं सकती जब तक कि सत्ता राष्ट्रसत्ता या राष्ट्र राज्य सम्पत्तिमूलक समझा जाता रहेगा। ध्यान रहे कि राष्ट्रों की सीमा रखा पर दाँ सन आपस में एक और ऐसे जुड़े हो सकते हैं कि उनके मालिक किसानों को राज एक दूसरे से काम पड़ता हो। लेकिन अपने अपने राष्ट्रों के नाम पर दोनों को एक-दूसरे के लिए पर यहाँ तक कि दुश्मन बनना पड़ सकता है। इस अस्वाभाविक और अप्राकृतिक स्थिति को ही आज का सम्पत्ति मूलक राष्ट्र सत्ताएँ सबसे बड़ा सख्य मसालाकर आत्मरक्षा का दुहाई पर युद्ध रचा करती हैं। हैं। प्रजाएँ कभी नहीं लखती कभी नहीं लड़ना चाहती। राजकीय स्वाध सड़ते हैं और देश के नाम पर वे ही प्रजाजनों को मराने हैं। प्रजाकीय राज्य यानी सच्च प्रजातंत्र या लोकतंत्र का रूप ऐसी सत्ता का होगा जो अनरिक्त नीति मूलक है इसलिए कम-अधिक बलवर-बद्ध है। सत्ताका रूप जब ऐसा होगा तब उनमें टकराव या रगड़ न होगी। उसे दो दीपका के प्रकाश में और उनकी सीमाओं में रगड़ नहीं होगी है।

एक भारी भ्रम हम पर मधार है। सब जानते हैं कि हम राज्यहीन समाज पर पहुँचना है। फिर भाँ जान किस दिग्दर्शन में हम उस समाज पर पहुँचने के लिए राज्य को स्वयं में सम्पत्तिवान और सब-समय यहाँ तक कि व्यक्ति बेदिन बनना जानें में अयुक्तता नहीं देखते। आज तो जैसे सगठित राष्ट्रसत्ता स्वयं प्रतिष्ठ मृत्यु बन गई है। मानों मानवता एक न हो और उसकी असहता सर्वोपरि सत्य न हो।

आवश्यक है कि ऐसी पुष्ट रह जो उस अखण्ड मानवता के मूल्य को किसी भी कामत पर नष्ट न हाने दें। अच्छा है कि यह धन इतना बन प्राप्त करे कि राष्ट्रा सत्ताएँ उसमें स्वन्त्र होकर प्रमत्त और निरकुण न बन सकें। इसमें भी अच्छा यह ही कि कोई राष्ट्र उस सनातन मूल्य को ही हाथ में लेकर अपनी सत्ता का ऐसा निर्माण करे कि वह सम्पत्ति मूलक न होकर नीति-मूलक हो। दूसरे राष्ट्रों में उसकी व्यक्ति आत्मिक हूँ और वह दूसरे देशों से अस्वास्त्र के बल पर स्वाध-विग्रह की भाषा में बात न करे बल्कि सहानुभूति और समग्र हित की भूमिका पर आत्मीय भाव से बात करे। ऐसी सत्ता सेनायित न होगी वह अविरोधी होगी और इसी कारण उसकी मान्य धनिवाय हो रहेगी।

गांधीजी का हममें राष्ट्रपिता माना है। यह यदि पिता है तो ऐसी ही राष्ट्र के ध—यानी उस राष्ट्र के जिसकी सत्ता सम्पत्ति में अधिक नीति में आधार रखने वाली होगी और जिसकी व्यक्ति भय में नहीं प्रीति में होगी। वह राष्ट्र

करता है। दुनिया में कहीं भी देखिये आदमी का अपना स्वतंत्र स्वतंत्र और अबाधित नहीं है। फिर सम्पत्ति का स्वतंत्र कहां माना जाय ? स्पष्ट चल रहे हैं 'सोशलाइजेशन और नेगनलाइजेशन। यानी समाजीकरण और राष्ट्रीयकरण। राष्ट्रीयकरण का मतलब साफ है कि उसका स्वतंत्र और अधिकार राष्ट्रीय सरकार के पास हो। समाजीकरण का क्या अर्थ है स्पष्ट ही यह स्पष्ट नहीं है। अतः उसकी अर्थ निष्पत्ति भी यही होती है कि वह राष्ट्रीय सरकार के अधीन हो जाय। व्यवहार में इस तरह समाजीकरण स्वीकरण का रूप लेता है क्योंकि सरकार का यंत्र दल के हाथ में ही हो सकता है।

इस सब विचार का परिणाम यह निकलता है कि यदि हम युद्ध से छी पानी है तो राष्ट्र-सत्ता को सम्पत्तिमूलक न रहकर नीतिमूलक बनना होगा। ऐसा सभी सम्भव है जबकि राष्ट्रों की अर्थ रचना और तंत्र रचना नीचे से ही सम्पत्तिमूलक न हो नीति मूलक हो। कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसा अर्थ तंत्र अंतर्केन्द्रित न होगा। वहां की समाज-व्यवस्था और जीवन-व्यवस्था ऐसी न होगी कि व्यक्ति मन में प्रीति और हाथ में उद्यम रखकर भी अपने को अगहाय अनुभव करे और सरकार की कृपा कोर पर एक अमहीन पुष्प सब सम्पन्न बन जाय। उस राष्ट्र के जीवन का मूल अर्थ में होगा और शक्ति भी सेना में नहीं अर्थात् में होगी। शहर और गांव में वहां विरोध न होगा। शहर साहूकार और गांव ताबेदार न बन पायगा। उस देश की संस्कृति और सम्पत्ता भी अमर्क-दमक और जोर धार की न होगी बल्कि गम्भीर भय और सिन्धु होगी। सम्पत्ति वहां किस की होगी यह प्रश्न हा तो साफ है कि वह केवल उपयोग की होगी। सम्पत्ति में लोभा का अपरिग्रह भाव होगा। कोई यदि सम्पत्ति को अपनायगा तो वह केवल क्लेश्य भाव से ही अपना सवेगा। उस पर छीन कपट बदावदी होने की आवश्यकता न रहेगी।

साफ है कि एक ऐसा राष्ट्र किसी कारण भय का कारण न होगा। किन्तु उतना ही साफ यह भी है कि उस राष्ट्र को स्वयं किसी का भय न होगा।

आज की समस्या राष्ट्रवाद में से बनी है और युद्ध भी बहुत-बहुत राष्ट्रवादों में से उत्पन्न होता है। राष्ट्र असल में क्या है ? एक जगह फाटो का तार बांध दिया और कहा कि इधर हमारा राष्ट्र है और उधर मुंहारा राष्ट्र है। वह सबीर कोई पहल से जमीन पर बनी नहीं होती उधर से हम ही वहां रोक और बाह पगी कर लेते हैं। राष्ट्र की कल्पना जब तक इस तरह बाध-बन्ध बनी रहेगी और राष्ट्रगता की धारणा भी उन्ही हस्तियों पर टिककर पडी होगी तब तक अविनाय है कि एक पौजी स्तना निब-यन्त्रों उम तरफ जाने इधर

संस्था रहे और बसा ही एक दस्ता अपनी निच-बन्दूके इस तरह साने रहे। यह हालत बदल या सुधर ही नहीं सकती जब तक कि सत्ता राष्ट्रसत्ता या राष्ट्र राज्य सम्पत्तिमूलक समझा जाता रहेगा। ध्यान रहे कि राष्ट्रा की सीमा रखा पर दो छत आपस में एक और ऐसे जुड़ हो सकते हैं कि उनका मालिक किसानों की रोज एक-दूसरे से नाम पड़ता हो लेकिन अपने अपने राटो के नाम पर दोनों को एक-दूसरे के लिए गर यहाँ तक कि दुग्धन बनना पड सकता है। इस अस्वामाधिक और अत्राष्ट्रिक स्थिति को ही आज की सम्पत्ति मूलक राष्ट्र सत्ताए सबसे बड़ा सत्य बताकर आत्मरक्षा की दुहाई पर युद्ध रचा करती हैं। प्रजाए कमी नहीं लटती कभी नहीं लटना चाहती। राजकीय स्वाय लडते हैं और देग का नाम पर वे ही प्रजाजना को लगान है। प्रजाकीय राज्य यानी सच्चे प्रजातन्त्र या लोकतन्त्र का रूप एसी सत्ता का हागा जो उत्तरोत्तर नीति मूलक है इसलिए कम-से-कम कन्वर-बद्ध है। सत्ताया का रूप जब एसा होगा तब उनमें टक्कर या रगड न हागी जस दो दीपका के प्रकाश में और उनकी सीमाओं में रगड नहीं होती है।

एक भारी भ्रम हम पर सवार है। सब जानत हैं कि हम राज्यहीन समाज पर पहुचना है। फिर भी जान किस विदम्बना से हम उस समाज पर पहुचने के लिए राज्य को स्वय में सम्पत्तिधान और सब समय यहाँ तक कि व्यक्ति केन्द्रित बनाने जान में समुत्तता नहीं लखत। आज सा जैसे सगठित राष्ट्रसत्ता स्वय प्रतिष्ठ मूल्य बन गई ह। माना मानवता एक न हो और उसकी अलडता सर्वोपरि सत्य न हो।

भावश्यक है कि ऐसे पुरुष रहें जो उस अखण्ड मानवता के मूल्य को किसी भी कीमत पर नष्ट न होने दें। अच्छा है कि यह बग इतना बल प्राप्त कर कि राष्ट्रा-सत्ताए उससे स्वन्त्र होकर प्रमत्त और निरडुग न बन सकें। इससे भी अच्छा यह हा कि कोई राष्ट्र उस सनातन मूल्य की ही हाय में लेकर अपनी सत्ता का एसा निर्माण कर कि वह सम्पत्ति मूलक न होकर नीति मूलक हो। इससे भी दूधरे सत्ता में उसकी सक्ति आत्मिक हो और वह दूधरे दंगो में आस्थासत्र के बल पर स्वाय-विग्रह की भाषा में बात न करे वकि सहानुभूति और समग्र हित की भूमिका पर आत्मीय भाव से बात करे। ऐसी सत्ता सनाथित न होगी यह अविरोधी होगी और इसी कारण उसकी बात अनिवाय हो रहेगी। गांधीजी का हमने राष्ट्रपिता माना है। वह यदि बिना ये तो एसा ही राष्ट्र के थे—यानी उस राष्ट्र के जिसकी सत्ता सम्पत्ति से अधिक नीति में आधार रखने वाली होगी और जिसकी सक्ति भय में नहीं प्रोति में हागी। वह राष्ट्र

पुरुष थे किन्तु उससे अधिक वह आत्म-पुरुष थे। उस क्षण में वह दुनिया के थे। उन्हें आशा थी कि उनका देश यह भारत यह राष्ट्र बनेगा जो पुरानी वस्तु सत्ता की जगह नई आध्यात्म-सत्ता की परम्परा धारण करेगा और जिसका राष्ट्रवाद सही और पूरे अर्थों में मानवतावाद पर आधारित होगा।

यह आशा क्या भूट होगी ? पर उस सब करने के लिए जड़-मूल स आति की आवश्यकता है। क्या हम उसका लिए उद्यत हैं उद्यत होंगे ? काम बठिन है पर असल में करने लायक वही है।

वि सर्जन की शक्ति

विनोबा ने आपने इस भ्रम को वि-मजन नाम दिया। विनोबा की अद्वितीयता ही इसे न समझ लीजिये न भाषा का कोरा चमत्कार मानिये। वि-सजन म सं सचमुच विनाप सजन होता है। सबसे बड़ा और नया सजन विज्ञान ने जो किया है वह है अणु का भजन। अणु को माना जाता था कि वह वस्तु की इकाई है और भट्ट है। आइस्टाइन ने बताया कि वस्तु का ठोसपन अणु में सोई शक्ति का ही नाम है। ठोसपन छोड़कर मटर अपना वि-मजन करता है तो वि-मय बन जाता है। वस्तु जब स्वयं शून्य होती है अर्थात् अपने का विसर्जित कर देती है तब शक्ति बन कर प्रगट होती है।

सोमे पड़े चित—पिण्ड को ही मटर कहिये। उसके छोट-ने छोटे अणु को विज्ञान ने पाया पकड़ा और फिर तोड़ डाला। इसी म से अणुशक्ति का उदय हुआ और अणुयुग बन गया। अणुत्व विमर्जित होने से महाशक्ति प्रगट हो आई। यह कहनाया पिंडन बम। फिर उसके बाद पर्युजन बम बना। पहले से अणु वियुक्त होता है, दूसरे म उसके बाद प्रक्रिया संयुक्त होने की है। इस संयुक्तीकरण अर्थात् पर्युजन में जो शक्ति प्रगट होती है वह पहले से सफ़ेद गुना हो जाता है। पदार्थ यों जड़ और निष्क्रिय दिखाई देता है। हम उससे या उसकी आशक्ति से, जितना विपटने है उनसे हम भी जड़ और बंकार हात है। यदि विपटें नहीं अपना को बचायें नहीं बल्कि विसर्जित करने की तयारी रख तो महा शक्ति पदा कर सकते हैं। इसनी मिसाल गांधी है। सामान्य से भी कम सब-नामन स्थिति से चले और अवतार का उच्चाई पर पहुँच गये। आखिर उस विराटता के विकास की प्रक्रिया क्या थी? देश के वह एकछत्र नेता बन गये। उस उनके नेतृत्व के निर्माण का क्या रहस्य था? मामूली तौर पर भी छाटी-सी सीढरंगिण के लिये बड़ी जडाजहद करना पड़ती है। पर गांधी की स्वयं शून्य बनन की साधना रही चाहने कुछ और बनना हा नहीं आता। अपने का विसर्जित करन म सगे रहे। फल यह कि शून्य बनते बनते विराट बन गये। गांधी की ताजत एसी बनी कि उनका ध्यास्तान भाग्य की अपिलता को ही नहा वरन् मानवता

की समप्रता की मूल करने वाला माना गया। इसके मूल में वि-सजन मन के सिवा भला क्या रहस्य ही सबता है ?

जो आदमी अपने को ऊँचा रखना और दूसरे को उस निमित्त अपना साधन मानता है वह उन्नति करता लीकता हो लकित हिया ही करता है। यानी वह उन्नति टिकनेवाली नहीं होती है। न उसमें कभी चन मिल पाता है। स्वयं को साध्य और अन्य को साधन बनाना है तो भ्रमति बनती है। लकिन जहा दूसरे सब व्यक्ति साध्य होने हैं और मैं उनके हितनिमित्त साधन बनता हूँ तो यह अपने को विसर्जित करने की भावना भ्रमिा है। इत्ये तो उपगे होना है और प्रभाव उस पर निभर नहीं है। गति का श्रोत विमजन में है। स्व को पुष्ट करनेवाला कम बघनकारक हागा उस स्व को विसर्जित करने वाला मुक्ति दायक बनगा

इतने गहरे विचार के आधार पर यह मस्या बनी है। पर अपने कहत हैं कि मस्या को अभी यग नहीं मिला है। क्यों यग नहीं मिला है ? महाभ्रम मिल गया है तो फिर उमका महाफल क्या नहीं मिला भौतिक धन में यह मत्र चमत्कार लिता रहा है तो नैतिक धन में चमत्कार का उद्घाटन क्यों नहीं दीखता ? निश्चय रखना चाहिये कि घुटि कहीं प्रयाग में ही होगी। या जो साधन रूप हम हैं तो हममें अथया मिद्वान्त निरपवाद सिद्ध है। सार इतिहास में उमकी महिमा और विभूति लिवाई देती है। आर्य वि-मजन जिहोंने किया है व मानों अमर बन गए हैं मनु का वरण किया ऐस लोग ही इतिहास में लिखे हैं जिहोंने अपने को मनु से बचाना चाहा व जात जी मरे में बन रहे। एग भी लोग हुए हैं जो लागो मोन के घाट उतारने में कारण बने। इतिहास उन्हें याद करता है लकिन पीक के सौर पर उतना भी इमलिए धाग बडकर मोन के साथ आखिर गल ता मेला है। फिर भी समय की घूल में वे मर दख जात हैं। त्रिप और जाने रह व जा जान में घिरने नहा और मनु का मय नहा माना है। व जा वि-मजन को साथ लेकर चल हैं। मीनु गुनी पर घडे तब जनत एकारी कि मानन धाना को नाम भी न टहरा। लकिन ईगा क्या मर गये ? मरने का तग दाखल था। लकिन उममें क्या होना है; बलि साय उम तग के अमानुषिक जान में ईमा का विमजन और भी चमका और म नाम में ग ताजन अभी गी अभी उरी कि इतिहास पनर मया। रामन मासाय स्वयम हा गया और मरी उदर मी के सायाय न सा। धाग जाकर जड यह लच दन विमजन के उ म स्वयम का सायाय हा गया लत्र उमका इतिहास मात हा रने।

गांधी जी न जो माया वह यही था। वह उस मात्र के प्रयोक्ता और प्रतीक बने। हम अधिकांश उनमें से यह मात्र प्राप्त नहीं करते। हम तो उन्हें अपने राष्ट्र का नेता याता मान कर पूजते हैं। उनके उपकार खूब हैं और उतना ही उनको मानते हैं जितना उन्होंने देश और हमारा काम साध दिया।

भारत में शक्ति में कम विकास ही रहा है। भारत में घुमा बहुत निकलता है ता उसमें बाला उसनी नहीं हो पाती। इतिहास शक्ति और शस्त्र के रूपों के विकास का इतिहास भी है। मनुष्य की शक्ति पत्थर और लकड़ी की नहीं थी वह शरीर की नहीं हो सकती थी। शरीर से हर तरह से, पशु से वह कम था। तब बुद्धि के रूप में उसमें शक्ति उदय में आई और आदिम आयुष्य बने। यहाँ से चलते चलते धातु के आस्त्रास्त्र बने हैं जो अब आणविक तक होने आ गये हैं। इन सबमें भी शक्ति सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती गई है। रूप जितना सूक्ष्म होगा फल उतना अभीष्ट होगा। इसी विकास में बढ़ते बढ़ते हम देखेंगे कि शक्ति अपने अधिष्ठान के निये हिंसा को छोड़ रही है और अहिंसा का अपना रही है।

भारत में शक्ति हिंसा है ही नहीं। शक्ति सब अहिंसा की है। नहीं तो गेर का हर के भारे पहाड़ में छिपा रहना जबकि आदमी शान से शहर बना कर रहता है! इसलिये यह सधु भ्रम है कि शक्ति हिंसा में है। शक्ति का सब खात ईश्वर में है सत्य में अहिंसा में है। अहिंसा को समझना पड़े इसकी आवश्यकता नहीं आनी चाहिये। धर्म के गुण को समझाने की जरूरत नहीं रहती। अहिंसा का समझना इसलिये पड़ता है कि वह शक्ति में है प्रत्यक्ष प्रयोग में नहीं है। अहिंसा सक्रिय होती प्रत्यक्ष वि-सजन में फलित होती तो यद्यत् स्वयं आप के पास लिखा चला आता।

गांधीजी ने कहा न था कि अहिंसक एक भी काफी हो सकता है। उस एक से भी जगत को आशवासन मिलेगा। सब पुछिये तो आज आशवासन हमारे देश में नहीं है। धर्म का स्वयं भी बड़ भय से ब्राण करता है। सत्य में आचार की तो ठीक है उच्चार भी भय दूर करता है। यदि आपका शब्द भाव और कर्म में उत्तरकर प्रत्यक्ष बनता है तो उस किसी दूर से सहारे की जरूरत नहीं रह जाती है। क्या भारत-प्रत्यक्ष दाय का कहीं दूर से जगह डालने जायगा ?

में मानता हूँ कि यदि देश के पास उसका सत्य जगह हाता हमारी व्यवस्था में और मानव-सम्बन्धों के ताने-बान में स एकरता लाता हुआ प्रगट होता तो हम फौजों का आश्रय देने की जरूरत नहीं पड़ती। हथियार उतार ही ताकत रखते हैं जितना उनमें नीच मकल्प का बल होता है और सत्त्व का बल घटूट हो सकता है।

मूल की बात यह है कि वि-सजन अपना करेंगे तो सर्वत्र अपने भाग होगा। प्रगति जितनी होता है वित्त की प्रेरणा में से होती है। इस तरह विसजन में से इतना सजन होगा कि उसकी कल्पना नहीं हो सकती। बीज धरती में गनता और भिटता है तो क्या उसे पता होगा कि वृक्ष आयागा और वक्ष पर फल आयेगे ? पर फट कर बीज अकुर होता अकुर वृक्ष होता है और वर्षों-वष यह फल दता रहता है।

हम अनासक्त माध्यम कटलटिक् एजेंट के रूप में काम करें। अधिवार न चाहें। अमुक प्रवृत्ति के हम समोजक बन जायें यह भावना भी यदि होती है तो आत्म-श्रद्धा की जगह वस्तु-श्रद्धा हुई माननी चाहिए। सरकार इसी आधार पर चलती है। तथा आत्म श्रद्धा के बजाय उसमें धन की श्रद्धा बढ़ने लग जाती है।

यदि आप में श्रद्धा पदा हो जाये अम-श्रद्धा जाग जाये तो कितना घण्टा हो। परन्तु आज तो रचनात्मक वाय-वन के लिए सरकार की अपेक्षा रखता है। यत्न सरकार के पास से लेना चाहते हैं। पर यहा धन पदा तो होता नहीं जनता के अम में से ही बीचकर आता है। यदि हम सरकार की धरी पर निगाह न रखेंगे अपना धन पदा करेंगे तो सरकार पर भोक्त वनन के बजाय समय पर उसके लिए सहारा भी यत्न करेंगे और वसी आवापकता हुई तो यथावश्यक अकुल का उपयोग भी दे सकेंगे।

दूसरी जगह अजन की श्रद्धा है। सब अपने अपने लिए उपाजन करने में लगे हैं। उसकी प्रति शोषण और भ्रष्टाचार फलाती है। आपने पास वि-सजन की श्रद्धा है तो सचमुच गवट दूर हो सकेगा। तब धन पैदा होगा और उसकी मदद सरकार को भी पड़ुधगी। सरकार के पास धन की और मोने की कमी नहीं है। पर उसमें जो लोग के स्वाय का वि-सजन गया है उतनी ही क्षति माननी चाहिए। सरकार वानन में भी धन से बननी थी। पर वानून से मिलन वान रूप में बह क्षति नहीं हो सक्ता।

अहिंसक क्षति सरकार की क्षति को कम नहीं करेगी बढ़ायगी ही। सरकार की क्षति करने का मतलब होना चाहिए जनता का समय और स्वाय सम्बी होन जाना। राजा का सामर्थ्य स्वय प्रजा ही मो है। जहा राज की समृद्धि का मतलब प्रजा का स्वय होन लगता है तो वह राज्य फिर शक्ति नहीं है। बिजनी का प्रकाश दीपक के प्रकाश को बाधता नहीं उसमें गहायक बनता है। यदि गवमुच रूप के पास अहिंसक क्षति हो अपन का वि-सजन वान वानता की कमी न रह जाय तो सारी हवा ही चल जायगी। दान को कभी-कभी

अपने को फटा और असह्यम अनुभव कर आता है वह जुड़ जायगा और दूसरे देशों तक के लिए आश्वासन का सन्त बन सकेगा ।

आपके वि-सजन क मात्र स देश में बलिदानी जन उदय में भाषण जो जीवन होंगे और सकट काटेंगे, ऐसी में भाषा करना चाहता हू ।

दिसम्बर, '६२

□ □ □

अहिंसा का पुनरुज्जीवन

धम के गन्दो के बारे में एक बड़ी कठिनाई यह है कि उनका सम्बन्ध सबथा अन्तरंगता से होता है। इससे जब धम की तुला पर कम को तोलते हैं और यह कार्य बहुत आवश्यक है तब साफ-साफ परिणाम हाथ नहीं आता। सदा ही दुविधा बनी रहती है और मानूम हाता है कि किसी कम का मान धम की अपेक्षा में निश्चित करना प्रायः असम्भव है।

कम स्वभावक है। इसी तरह धम भी अस्तु-स्वभाव है। इन दोनों के बिना जीवन चलता नहीं। संबन्धित विचारकों लोगों को विचार करते हुए यहाँ तक पहुँचना पड़ता है कि कम ही धम की बाधा है। यही दृष्टिकोण कम-सर्व और कर्म-निजरा से धम का आरम्भ बताती है। यहाँ कम-बन्ध है और मोग कम के सम्पूर्ण दाय की आस्था का नाम है। जन दान का सारा ढाँचा ही इस पर खड़ा है। यहाँ कम पाप का समानाधिकारी बन जाता है। पुण्य-कर्म भी यहाँ है अतः म उस मोक्ष में बाधक बताया है। कम से सबथा मुक्त आत्मा की अवस्था सिद्धावस्था है और कर्म पुद्गल है। पुद्गल के अयोग और सम्बन्ध के कारण ही भवबन्ध और समार पत्र है। अतः कमनाश में ही मोक्ष है।

धीमद् भगवद्गीता के कुरुक्षेत्र में कर्त्सव्य अकृतव्य का प्रश्न उत्पन्न पर अन्त में अकर्म के महत्त्व पर बत दिया गया है।

यही उत्तम निवृत्ति प्रवृत्ति की अर्थात् विद्या और युद्धि म का विषय बनी है।

उत्तम यह दृष्टि-भीमात्ता से अटने वाली नहीं है। दृष्ट तट एक पहुँच सकत हैं। जीवन की अस्पन्द्यता को वे नहीं पा सकते। इससे विद्या और आस्त्राय जबकि विज्ञान का गुण है तब साधक के लिये दोष है। क्योंकि विद्या में अन्त नहीं मिलता है। और दृष्ट के द्वन्द्व में स जो फन उठता है उत्तम सब घूमिल हो जाता है। अधिकांश उत्तम अमुप धा मिलता है।

बात सीधी-सी यह है कि अन्तरंगता का सूचक कोई बाहरी मान या लक्षण बन नहीं पाता। बनाते हैं वह फिर अज्ञान और अविश्वमनीय पड़ जाता है।

यह गडबड बुद्धिवादी को इतना परेशान करती है कि वह अन्त में सब धर्म और अध्यात्म से छुट्टी पा लेना चाहता है और जीवन-शोध के लिये भी विज्ञान की धारणा लता है। विज्ञान में कुछ स्वतंत्र सिद्ध मानने का आग्रह नहीं है और प्रयोग के लिये वहाँ सदा अवकाश है। इसलिये समझदार लोग जिन्हें शब्द से अधिक सार से मतलब है विज्ञान की अधिक सुनत हैं और उसी का सहारा लेते हैं। मनोविज्ञान, जीवनविज्ञान, समाजविज्ञान आदि-आदि। ये श्रद्धा अनावश्यक कहते हैं और जिज्ञासा को पर्याप्त मानते हैं। फिर जिसनी दूर तक प्रयोग और तक उन्हें ल जाये वही तक वे सन्तुष्ट रहते हैं। अज्ञेय के प्रति कोई निश्चित धारणा या वृत्ति बनान से वे बचते हैं और विजिगीषा को लेकर वे बस तटस्थ हो रहते हैं।

एसी अवस्था में धर्म के शब्दों को यदि टिकना है बल्कि प्राण-वन्त और ज्वलन्त बनना है, तो आवश्यक है कि उनमें तत्त्वाय नहीं प्रत्युत जीवनका रस, प्राण का सार डाला जाय। अथवा यह शब्द इन्ने कोरे और फालतू बन जायेंगे कि समझदारों के बीच उनका उच्चारण विडम्बना जसा जान पड़ेगा।

धर्म के शब्द प्रायः नकारात्त हैं। यथाय म नवारादि हैं। जैसे अहिंसा, अस्तेय अपरिग्रह। ये शब्द 'अ'—पूर्व इसलिये हैं कि वे बाहरीपन से विमुक्त हैं। किन्तु विमुक्तता में ही उनका सार नहीं है। जैसे बाहरी पार्थ से झाल मोच लेने या पीठ फर लेने में अपरिग्रह नहीं है। चारी में कर्ना भर अस्तय नहीं है। न हिंसा का अभाव अहिंसा है। फिर अस्तेय क्या है? अहिंसा क्या है? यह प्रश्न बनता है।

जिसको अस्तय और अहिंसा और अपरिग्रह की लगन नहीं है, वह उन शब्दों की कितनी ही बाल की खाल निकाले उसको सार नहीं मिलेगा। पत के भीतर पत मिलते जायेंगे। उनके भीतर और पत। दारीर को धीरत-पाडते जाइये। आत्मा कही मिलने वाली नहीं है। ज्ञान का यही हाल है। धर्म ज्ञान का और विनेपनर। श्रद्धा के बिना ज्ञान सम्यक हो नहीं सकता। क्योंकि उपलब्धि जिसकी श्रद्धा में है यह इन्द्रियों का पकड़ में आ नहीं पाता। इसलिये मति और श्रुति के ज्ञान से वस्तु का कवत्य बचा ही रह जाता है।

भव यहां अहिंसा को लें।

देह है तब तक धर्म है। तब तक हिंसा भी है। अधिक-स-अधिक हम यह कर सकते हैं कि दारीर को हिलने इतन न दें। इन्द्रिया को रोक लें। आन्य देखे नहीं और दूसरी इन्द्रिया भी अपना काम करें नहीं। मान लीजिय कि कान को भी हम इतना साथ लेते हैं कि बाहर शब्द सुन न पाये। सबया ध्यानस्थ

घोर समाधिस्थ हो जाते हैं। पर जब तक मर पूरी तरह नहीं जाते तब तक भन्दर धड़कन तो रहने वाली है श्वाभ तो चलता ही रहेगा। मारीकी से देखें तो कहना बठिन है कि इतने म भी किञ्चित् हिंसा समाई नहीं है। यानी जीवन का स्वीकार हिंसा का भी स्वीकार है।

इस स्वीकृति की वेदना में मे ही अहिंसा का धर्म अनिवाय घोर प्रमोभ बनता है। अर्थात् अपनी अहिंसा से सन्तोष नहीं लिया जा सकता। अहिंसा की बात ही यह है कि व्यक्ति व्यथित रहे कि मुझसे अब भी हिंसा हो रही है।

सन्त न सदा स्वीकार किया है कि उन-सा कुटिन पलकामी कोई न होगा। कहा जा सकता है कि जो ऐसा अनुभव करता है सन्त वही है। असन्त भोग अपने बारे में कातर नहीं होते। वे अपने को मानते हैं और विनय की जगह उन्हें स्वाभिमान प्रिय होता है।

अहिंसा का भी मूल सार यह है कि व्यक्ति में अपनी हिंसा की पहचान और उसका पचात्ताप बढ़ता जाय और उसी अनुपात में अपनी अहिंसा की वृद्धि उसे उत्तरोत्तर अधिक अनुभव होती और घुमती जाय।

इस तरह देखने लो अहिंसा किसी भी काम के साथ जड़ित नहीं लिखाई देगी। दान को दान दिया इसमें अहिंसा नहीं दीलेगी। रोगी की परिचर्या की इसमें भी अहिंसा नहीं जान पड़ेगी। कृत्य के साथ उमरा सम्बन्ध ही दीखना बन्द हो जायगा। दस दिन एकाग्रता किया पाच दिन निराहार ब्रत रखा इतना समय साधु-मवा में लगाया आदि-आदि बातों में से अहिंसा और धर्म के पानन की सात्वता न मिलती। (असल में धार्मिक व्यक्ति का अपने से सन्तोष कभी मिलना ही नहीं चाहिए। धर्म का मूल अर्थात् अहिंसा का मूल आत्मव्यथा है जिसमें मे निरन्तर धर्म विगजन को प्रेरणा मिलनी रहती है। इनमें से सन्त अना अनुभवा की उपरान्त व्यक्ति को होती है। इसी आध्यात्मिक अवस्था का लक्षणवाहरी आदिचिन्म है। जिस द्वारे दुःख उठाना जाता है उसी में उसे गुन अनुभव होता है और गमना जान जाता गुन उभे वापता है। इस मनोना का तब सहसा हम हाय नहीं आता। मामूला छोर पर जिस प्रतिबिम्ब कहते हैं अर्थात् स्वर्णत का हान् विपर्याय वही हम वहा दान मा जान हैं। समझते हैं कि दुनिया में य ए और उत नाप है। उह नाम इमी रम की आवकता है। वाचनना में मिलन जाना व यही अयम रम है।

मैं यह नहीं कहूंगा कि मून में यह प्रतिबिम्ब मापु लोगा में मिलती नहीं है। बल्कि यह भी माना जा सकता है कि अन्ति अना में निग रग की साधुता मूलतः प्रतिबिम्बत्व है। पर धर्म भावना जहाँ जन्म है उसका उभ प्रतिबिम्ब

क बाप से तनिक भी हृदयगम नहीं किया जा सकता। जिसमें भ्रजस कारुण्य, सहानुभूति पर संवेदन और नितान्त उत्सर्ग प्राप्त होता है उस प्रेरणा के उत्स से बड़ी उपनयि इस ससार में कोई नहीं है। इसी को भक्ति और तितिक्षा कहते हैं।

मानस चेतना की इस अवस्था में से जो निकलता है सहज अहिंसात्मक होता है। भाजन ता भाजन है। साधु में वह धर्म को पोषण देता है। भ्रष्टाचार में वही पाप को बल देता है। इस तरह स्पष्ट होगा कि अहिंसा का सम्बन्ध कृत्य के बजाय भाव से है। अहिंसक कम जैसा स्वतः कुछ होता नहीं। अहिंसक हो सकता व्यक्ति है। अहिंसक का काम अहिंसक होगा। व्यक्ति के अहिंसक होने का मतलब उसका उत्सर्गशील होना स्वयं विमजित होना अनुकम्पा और कारुण्य से भरपूर होना और अपने प्रति आलोचक बने रहना है।

यो देख लो अहिंसा के प्रचार का क्षत्र हम स्वयं बनत है। अपने से बाहर अपने से निरपेक्ष जिसका प्रचार हो सकता है, वह अहिंसावाद भले हो अहिंसा नहीं है। भाग अपना प्रचार नहीं कर सकती। कारण जिन् वह छूती उसे ज्वाला बना देती है। इस आत्मसात् करने की प्रक्रिया द्वारा वह अपने को फलाती है। भाग कर्म में जैसे ज्वाला और चिनगारी नहीं है वैसे ही अहिंसा के बाद में भी अहिंसा नहीं रह जाती।

गांधी के ज्वलन्त व्यक्तित्व के स्पष्ट का भोग इस देश में पाया। वह अनुभव भी उसकी रंगों में है। उस स्पष्ट से मिट्टी के आदमी ने अनुभव किया कि वह बुद्धन का गया है। गांधी की अहिंसा चरखे में प्रकट हुई। मत्प्राप्त में उसने चमत्कार दिखाया और दूसरे रचनात्मक कार्यों में उसने अपना प्रकाश दिया। चरखा धर्म भी है बकि पहले से गांधी की उपज अब ज्यादा है। सत्प्राप्त भी अनक मुनने में प्राप्त है। रचनात्मक कार्य की संस्थाएँ भी गांधीजी के जीवन-काल में गिनती में अब कम नहीं होगी। यह सब काम अधिक है क्योंकि पण्ड अधिक है। सरकारी स्वरूप है निधियों का स्वरूप है। पर फिर मन्ता क्यों है? क्यों है कि आज हर आदमी अपने से और अपने स्वयं से चिपटता दोलता है अपनी आहुति द डालने की बात उसे कल्पना में भी नहीं सुहाती।

क्यों ऐसा है इसका एक ही उत्तर है। यह यह कि सत्य कृत्य में नहीं है। बाप अहिंसा नहीं है। काम-काज के विस्तार में भी आत्मोपलब्धि नहीं है।

धर्म स्वयं धर्म नहीं होता। लकिन कम से यह तटस्थ भी नहीं रह सकता। आत्मा जो विवेक है शरीर जिस नहीं है उसे प्रत कहत है। कम में

जो व्यक्त नहीं है वह धम प्रेत के समान है। लेकिन धर्म है तो धम उस बलवन्त हो जाना चाहिए। तब वह ससार को बड़ाने का नहीं उसको काटने का साधन बनता है, यानी समस्याएँ उससे कटती हैं। जैसे कि धमहोन धम से वे उपजती और बढ़ती जाती हैं।

धाम की स्थिति सकट की है। अहिंसा और धम का विश्वास खोया जा रहा है। दोष केवल उनका माना जायगा जो अपने को अहिंसा और धम में विश्वास रखने वाले मानते हैं। विश्वास सन्ध्या हो और पूरा हो तो हाँ कहे सकता है कि वह छुए और फले नहा। पर है यह कि आध्यात्मिक नतिब बन कर रह गया है और नतिक बोरा बानीय बनता जा रहा है। अग तरह स्थिति पर से धम का नियमन और शासन एकत्र उठ गया है। जो चतन्य स्वभाव है वह धम मानो जड हो गया है। स्थिति और परिस्थिति का भार मानो उस पर भारी पड़ रहा है। मैं उग चिनगारी को नहीं समझ सकता जिम पर बोयन का बोझ भारी हाना है। अगर सब ही चिनगारी है तो बोयन कितना भारी हो कितना हाँ बाला हो चिनगारी -सको दहवा और दमका कर ही रहगी। अगर वह रहक और दमक आज किश्कई नहीं होती तो सिवाय असक क्या कहा जा सकता है कि धाम का दम भरनेवाला क पाम राव में एक चिनगारी तक नहीं है।

और हम स्थिति के सामने के लिए मुझे आवश्यक मालूम होता है कि शास्त्र में और धाम से सत्य को मुक्त किया जाय और धात्म की अध्या और साधना में स शास्त्र के अन्तरग का उल्लेख और साधक करके फिर उनको पुनर्जीवित और प्रवृद्ध किया जाय।

अहिंसा एक ऐसा ही शब्द है। आज वह धजान और ठण्डा है। कारण उमम बलिदान नहीं पकता है। जीवन का अर्थ उससे प्रति नहीं है। धर्म को शास्त्र में धामन कहा है। यानी जीवन का यहाँ से शासन होगा। शास्त्र का सामर्थ्य यदि धम में है तो आज की स्थिति के प्रश्नों पर क्या वह प्रवृत्त नहीं होना? तोच जीवन के प्रश्न अगर धम की धोर से समाधान नहीं पायेंगे तो धर्म की धोर धम के शास्त्र की साधक पकती ही जाने वाली है। शास्त्र में और किताब में धम जीने वाला नहीं है। कारण धामिक के जीवन से ही जीया है और जीयता। धामिक से स्वतंत्र धम है यहाँ ?

अहिंसा और सामाजिक समस्या

अहिंसा ऊँचा सिद्धान्त है यह तो सभी मानते हैं। प्रश्न और सन्ध तब होता है जब अहिंसा से सामाजिक और राजनीतिक सक्कों के हल का यत्न किया जाता है। अहिंसा से आत्मा को लाभ होता हो यह तो समझ में आता है पर अत्याचार का प्रतीकार और इमाज कस बन सकता है यह सहसा समझ में नहीं आता।

अहिंसा का चलन जिस रूप में दीखता है घम मानने वाले जिस परिपाटी में उस मानते और पासत हैं उससे अहिंसा एक नियमात्मक बन्त रह जाती है। हिंसा न-करना ही वहाँ अहिंसा है। अर्थात् न-करना वहाँ प्रधान हो जाता है। यह समझ में कैसे आय कि न-करने से स्थिति सभल सकती और सकट नट सकता है। स्थिति की भाग सदा है कि कुछ हो कुछ किया जाय। न करने से उत्तमन कटती नहीं है ज्यों की स्थो बनी रह जाती है। अर्थात् अहिंसा स्थिति और परिस्थिति को सदा भलना छोडती है। शासन या समाज का परिवतन ऐसे उसके वग की बात नहीं रह जाती।

अहिंसा के सम्बन्ध में यह अमियोग नितात्त निराधार नहीं है। बल के साथ उसका योग कम हो देखा जाता है। यदि बल उसमें है भी तो वह स्व रत है तप याग में तुष्ट रहता है। वस्तु स्थिती के प्रति उसका पराश्रम प्रगट नहीं होता है।

अहिंसा यदि सृजनात्मक नहीं समीक्षात्मक हो तो यह उसका नकारात्मक परिणाम अवश्यभावी है। अतना के सृजनात्मक उत्साह पर सब समीक्षात्मक सवार हो जाता है और तो उसमें से कम की हानि होती और निष्क्रियता निश्चे पता पलित हाती है। जीवन का कोई व्यापार ऐसा नहीं बचता है जिसमें हिंसा नहीं ऐसी जा सकती। इसलिए ऐसी निरी समीक्षात्मक अहिंसा हिंसा के निषेध में ही अपनी पवित्रता और पूरुता देखनी खोजता हुई कम विमुख बनकर रह जाती है। यह सिद्धान्तवादी और आदर्शवादी अहिंसा है जो आलोचना का अधिकार अपनाती है, जीवन सम्बन्धी दायित्व अपने ऊपर नहीं र्भार करती है। यह

व्यक्ति या प्रमुख दल के लिए अपने सम्बन्ध में एक नतिक उच्चाभिमान का प्रवसर देकर समाज में विषमता पैदा करती है। कुछ उस चष्टा में कम विरक्त अहिंसक साधु बनते हैं, घेप कमरत हिंसक ससारी बने रहने को रूढ़ जाते हैं। इस प्रकार मानव समाज विरागी रागी श्रेष्ठ-निष्ठ उच्चम अधम आदि श्रणिया में बंट जाता है। परस्पर समुक्त होने में नहीं आता। अर्थात् अहिंसा की उपरोक्त धारणा अन्त में वग चेतना और बर्गविग्रह का समाप्त नहीं कर सकती। मूल सामाजिक समस्या उससे और बसती ही है।

किन्तु अहिंसा की सजनात्मक धारणा भी है वह जीवन्त धर्म है। वह निकार निषेध-मूलक नहीं है। (वह अहिंसा व्यवहार को काटती नहीं सम्मन् करती है। वह जीवन विमुक्त और कर्म-विमुक्त नहीं हो पाती। इतना ही नहीं, वह जीवन को वेग देती और कर्म को विराट करती है। हिंसा न-करना उसकी मर्यादा नहीं बरन् उसका प्रथम चरण भर है। नेप उसमें करन को बहुत हाता है। इस अहिंसा में स्व क प्रति निमग रहकर पर के प्रति आत्मीयता और आत्मयत्ना साधनी पडती है। यह अहिंसा स्वरूप रह नहीं सकती। समाजो-मुख उसे हाना ही पडता है।) ऐसे वह बम से कातर नहीं बननी बल्कि तत्पर और पदारूढ होती है। इस अहिंसा में अपनी प्रेरणाओं को हम अपने भीतर उख गहर तल से साना और उन तक ल जाना होता है जिसको अवचतन कहते हैं। उस पटल को भेदकर अर्थ को गहरे सीषा जाता है। इसमें स मनुष्य की सम्पूर्ण चतना या परिष्कार हाता है। उनमें स्वाय की प्रमण आहूति होती रहता है और जो बाधाओं और बासनाय अन्त को अपने में रोकती हैं प्रमण एक-एक कर गिरती जाती हैं। उन अहिंसा में कारण फिर व्यक्ति समाज से पृथक् रह कर विग्रह का नहा बल्कि गयस होकर सग्रह का अंग बनता है। वह अपने लिए गुण सींचा की जन्मत से मुक्त हो जाता है। वह छोरो का दुग लने में स्वयम गुण आमुष करता है। फिर उस दुग को अपने अन्तरग प्रम अथवा अहिंसा के स्पर्श से उगी का गुण वग दूमेरे तक भजन का बामिया पा जाता है।

हमारे सामाजिक प्रश्न मूलात्मक अहिंसात्मक में स बनते हैं कि मैं प्रधान हूँ अथ गौण है। मैं सही हूँ अन्य गलत है। मैं चायकर हूँ अथ अयकर हूँ। यह अहिंसा का गाठ सामाजिक रोगों के मूल में है। वग और बाध दण और अहिंसा के नाम पर दण गौण बग कर और मजदूर बना ली जाती है। गजनात्मक अहिंसा उगी गाठ का छूनी और छूनी है। उगक परिणाम में हमने देखा है और यह दण सर्वो रि न केवल अहिंसा सामाजिक समस्याओं

को समाधान दे सकी और दे सकती है बल्कि यह भी कि उस अहिंसा के प्रति छातीसीत और निरपेक्ष रहकर मानव समस्याओं को निबटाने और मुलभाने की चेष्टा अकाग्रता जाती है। बल्कि वैसे निरे ऐहिक (सेवयुवर) प्रयत्न से दूसरे तरह की उलझने बतती है।

सितम्बर '५०

□ ■ □

खादी और उसके फलित्थ

खादी का केंद्र चरखा है और चरखा अहिंसक समाज रचना का आधार है।

पिछले जिन सब जानते हैं गांधी सेवा सघ लगभग समाप्त कर दिया गया था। उसका अर्थ पहना रूप नहीं रह गया है। गांधीजी अहिंसा को बजानिक चाहते हैं। जितनी और प्रवृत्तियाँ चल रही हैं याना खादी और दूसरे सामोयोग। लोग परलें और दलें कि उनमें वास्तव में अहिंसा की कितनी सिद्धि होती है। लगभग अर्थ सघ वरा शोधना का सघ है। इसका अर्थ है कि बाहरी प्रवृत्तियों में से जिस अर्थ में अहिंसा का मार प्राप्त हो उतना ही उन्हें साधक माना जा सकता है।

खादी का इतिहास है। खादी विकासशील वस्तु है। सन् २१ से अर्थ मन् ४१ तक उसकी परिमाणा एक जगह स्थिर नहीं रहो है वह बराबर बढ़ती आई है। जीवित वस्तु ही तो विकासमय है। अर्थात् खादी निरा कपडा नहीं है। वह तो प्रतीक है।

उसे निरा कपडा मानकर जिम अर्थशास्त्र के नियमों से सावित कर लिया गया था कि खादी नहीं अर्थशास्त्र खादी उसका बावजूद खनी। न सिर्फ बावजूद अर्थक इच्छापूर्वक उससे उतनी खादी अर्थनाकर खनी। अन्त में अर्थ देना जा सकता है कि उम अर्थशास्त्र के ही नियम अर्थों से और खादी-वस्तु सच्चा मान योग्य है।

[मिलवान अर्थशास्त्र में खादी का उल्लेखन क्या है? वह उल्लेखन यह है कि पूजावानी अर्थशास्त्र में मनुष्य के परिश्रम की कीमत सबसे पीछे और कम है। खादी में मनुष्य के उसी उत्पादक-श्रम की कीमत सबसे आगे ही होगी। खादी का काम करने वालों ने अपनी बटिनाइयाँ रखीं। कहा अर्थी खादी फिर विकेगी कम? अर्थी ही वह बाकी महंगी है। उसका स्थापन पर स्थापन अर्थ कर देने में तो कुछ न होगा। ऐम एक अर्थिन ही अर्थदूरी बढ़ाने के सोम में क्या उन गदकों बकार कर देने का सतर्प उठा लिया जाय। पर गांधी जी

कायकर्ताओं की मनास्था ने साथ तक करते रहे और अपनी बात पर अटल रहे। अब शायद तीन घाने कतिन की मजदूरी के समझते तक कायकर्ता आ गये हैं।

पर क्या गांधीजी का जो मर गया है ? जब तक बातनेवाली या बातने वाला को दिनभर की खरी मेहनत के एवज में माठ घाने जरूरी तौर पर न मिल जाये तब तक क्या उन्हें धन होगा ? रुपये की खादी में सातह के सोलह घाने उत्पादक श्रमिका को पठ यह घरसे के सिद्धांत की कोशिश है। आज की खादी यह बात पूरी नहीं करता। इसलिए उस उस दिशा में विकास कात रहना है।

खादी को लोग तरह-तरह के कारणों से पहनने है। लेकिन सब पूछिये तो वह एक नई जीवन नीति का प्रतीक है। गांधी जयंती में आप पांच सौ हजार रुपये की हुण्डी भ्रमणा खादी खरीद लें यह तो अच्छा ही है पर उससे कहीं अधिक अच्छा होगा कि आपको एक पसे की भी खाली खरीदनी न पड़े। घर में चरखा चल और जरूरत जिसनी खाली अपने सूत में से यः उसके ऐवज में आप पा सकें।

खारी

खाली को चरखे से दूर न ले जाय। कहीं वह एक स्त्रिय व्यवसाय न बन जाय। उसमें इष्ट है धन का विकेतीकरण। इससे सब पूछिये तो बड़े-बड़े मण्डार और बड़ी-बड़ी दफ्तर दूकानें खाली की शोभा को बढाने वाले नहीं है। तो भी किया क्या जाय ? सक्षपता हुण्डी खरीद सकता है पर वह बचारा चरखा कस कात ? उनकी और हमारी इस बेचारी के कारण ही खादी का खिलायती माल के ढगों पर बेचना पठ रहा है। पर सक्षपतियां में और नासमझ समझ दारा में जब सभक धायगी ता मानूस होया कि रुपये के जरिये हुण्डी और हुण्डी के जरिये खाली लेना धम का सक्ण्ड हैण्ड बना कर लेना है।

वतमान शासन विधान या समाज विधान की बुराई भादमी का घोपण है। धम इस विधान के नीचे घुस जाता है और घालाको फूलती है। भादमी धक बन जाता है। वह सुख-दुख महसूस करने वाला सजीव प्राणी नहीं रह जाता। उनकी कोई निजता नहीं स्तत्व नहीं वह एक जिस के मानि है। इस तरह तागों-लाख की गिनती में भादमी चन्द मोगा की मुठ्ठी में होकर उनकी कूल नीति के गिकार होने हैं। वे चन्द फिर पार्टी नेता हों या मुल्को के शासक ह। राजनीति इस तरह भादमियों पर और भादमित्यत पर जुधा लादकर अपने सत्त वेला करती है। तागों को मग्वाती है ताकि मुठ्ठी भर की सत्ता जमी रह।

यह काम किसी राजनीति धयवा राजनीतिक धतना के वग का नहीं है कि वह हम मूल घोपण से तठ तक और उसका नाग कर सके। क्योंकि उसमें

खादी और उसके फलित्ताथ

खादी का क्षेत्र चरखा है और चरखा अहिंसक समाज रचना का आधार है।

पिछले दिना सब जानते हैं गांधी सवा सष सगभग समाप्त कर दिया गया था। उसका अन्न पहना रूप नही रह गया है। गांधीजी अहिंसा को वजानिक चाहते हैं। जितनी और प्रवृत्तियां चल रही हैं यानी खाना और दूसरे सामाजिक। लोग परखें और देखें कि उनमें वास्तव में अहिंसा की कितनी सिद्धि होती है। लगभग अन्न सष वसे दोषना का सष है। इसका अर्थ है कि बाहरी प्रवृत्तियों में से जिस अन्न में अहिंसा का सार प्राप्त हो उतना ही उन्हें मायक माना जा सकता है।

खाने का इतिहास है। खाने विकामगीन वस्तु है। सन् २१ से अन्न सन् ४१ तक उसकी परिभाषा एक जगह स्थिर नही रही है वह बराबर बढ़ता आई है। जीवित वस्तु ही तो विकाममय है। अर्थात् खादी निरा बपडा नही है। वह तो प्रतीक है।

उसे निरा बपडा मानकर जिम अर्थशास्त्र में नियमों से साबित कर दिया गया था कि खादा नहीं बनगी खाने उममें बावजूद खनी। न सिर्फ बावजूद बनि इच्छापूर्वक उममें उलटी दिना अर्पनाकर खनी। अन्त में अन्न दगा जा सकता है कि उम अर्थशास्त्र में ही नियम छोड़े थे और खाने-तरख सच्चा मान योग्य है।

मिलवाने अर्थशास्त्र में खाने का उलटापन क्या है? वह उलटापन यह है कि पूजावादी अर्थशास्त्र में मनुष्य के परिधम की कीमत सबसे पीछे और कम है। खाने में मनुष्य के उमा उत्पादन अर्थ की कीमत सबसे अगले ही होगी। खादी का काम करने वालों में अपनी कठिनाइयां रखी। कहा अनी खाने फिर बिबेगी बने? अभी ही वह काफी महंगी है। उगना म्टाक पर स्याक अमा कर सने में तो कुछ न होगा। एमे एक बलितन ही अन्नदूरी बढ़ाने में सोम में बण उम सबकी बकार कर देने का अतरा उठा निया जाय। पर गांधी जी

कायकर्ताओं की प्रनास्था के साथ तक करने रहे और अपनी बात पर अटल रहे। जब शायद तीन भागने कलिन की मजदूरी के समझने तक कायकर्ता प्रा गये हैं।

पर क्या गांधीजी का जी मर गया है ? जब तक कातनेवाली या कातने वाले को दिनभर की खरी मेहनत के एवज में भाठ भागने जरूरी तौर पर न मिल जाये तब तक क्या उन्हें चन होगा ? रुपये की खादी में सोनह के सोलह भागने उत्पादक श्रमिकों को पड़े, यह चरखे के सिद्धांत की कोशिश है। आज की खादी यह बात पूरी नहीं करता। इसलिए उसे उस दिशा में विकास करते रहना है।

खादी को लोग तरह-तरह के कारणों से पहनते हैं। न किन सच पूछिये तो वह एक नई जीवन नीति का प्रतीक है। गांधी जयंती में आप पांच सौ हजार रुपये की हुण्डी भ्रमवा खादी खरी लें यह तो अच्छा ही है पर उससे कहीं अधिक अच्छा होगा कि आपको एक पैसे की भी खादी खरीदनी न पड़े। घर में चरखा चले और जरूरत जितनी खादी अपने सूत में से या उसके एवज में आप पा सकें।

खादी

खादी को चरखे से दूर न ले जाय। कहां वह एक स्वतंत्र व्यवसाय न बन जाय। उसमें इष्ट है धन का विकेद्रीकरण। इससे सच पूछिये तो बड़े-बड़े भण्डार और बड़ी-बड़ी दफ्तर दूकानें खादी की शोभा को बढ़ाने वाले नहीं हैं। तो भी क्या क्या जाय ? लक्ष्मपती हुण्डी खरीद सकता है पर वह बेचारा चरखा कम काते ? उसकी और हमारी इस बेचारी के कारण ही खादी को विलायती माल के ढगां पर बेचना पड़ रहा है। पर लक्ष्मपतियों में और नासमझ समझदारों में जब समझ भ्रामगी तो मालूम होगा कि रुपये के जरिये हुण्डी और हुण्डी के जरिये खादी केना धन को सक्कड़ हैण्ड बना कर लेना है।

वर्तमान गणसद विधान या समाज विधान की बुराई भादमी का शोषण है। श्रम इस विधान के नीचे घुस जाता है और चालाकी फूलती है। भादमी भ्रक बन जाता है। यह सुख-सुख महसूस करने वाला सजीव प्राणी नहीं रह जाता। उसकी कोई निजता नहीं स्तत्व नहीं वह एक जिस के मानिद है। इस तरह लावा-लाव की गिनती में भादमी चन्द लोहा की मुट्ठी में होकर उनकी कूट नीति के शिकार होते हैं। वे चले फिर पार्टी नेता हों या मुल्कों के शासक हों। राजनीति इस तरह भ्रामियों पर और भ्रामियत पर जुझा लादकर अपने खेल खला करती है। लावा को मरवाती है ताकि मुट्ठी भर की सत्ता जमी रहे।

यह नाम किसी राजनीति भ्रमवा राजनीतिक चेतना के बश का नहीं है कि वह इस मूल शोषण से लड़ सके और उसका नाश कर सके। क्योंकि उसमें

प्रयाजन साध्य और व्यक्ति साधन ही रहता है। असली स्वतंत्रता वधानिक नहीं होती। राष्ट्र वह स्वतंत्र है जिसका हर आदमी स्वतंत्र हो। यानी जहाँ मेहनत प्रेम की हो और जहाँ किसान के विवास पर ऊपरी श्रावण न अनुभव हो। जहाँ अभाव उसी के पास रह गये कि जो आसानी है और उम के साथ सदा खुशहाली हो। उम हरेक की इज्जत पवित्र समझी जाय और किसी के साथ पगु की भाँति बर्ताव न हो सके।

चरखा उगी अन्नबन्धा को खाने के लिए है। विधायकी अध्यात्म विलासिनी मुद्द हम्बा द गया है। वह मुद्दोयोग को समझ सकता है। ग्रामोद्योग को वह किस समझ में समझेगा? गांधी ग्रामोद्योग का केन्द्र है। रातए जो केन्द्र और इन कारण स्पीन होकर अपने मूल में स्वयंशा या स्वविस्तार के नाम पर आपस में सब पन्न को आचार होनी है के मत्ताए टूटेंगी और बिगड़ेंगी तो इसी तरह से कि हरेक उमी बने और अपने श्रम का मानिक बने। इस तरह से हर श्रमिक स्वयं में सत्तावान और स्वाधीनचैता होगा। अभी भीसन आदमी में मेहनत तो बगून करली जाती है पर रक्या उमे अभाव और अज्ञान में जाना है। अन्न में उसी को महान्न में से उपजे हुए घन की पूजी में से कुछ देकर उम अपने मत सब का साधन बनाया जाता है। पूजा की यही चान है। पूजी यानी सत्ता। पूजा नहीं जमा हो सकती जब तक कि कहीं न-कहीं धर्म को चगा न जा रहा हो। पन्न उम में से बनता है। पन्न समय में धर्म का ह्रास हाता है। पूजी की भीमत जहाँ बड़ी है आसानी को कामत बहा उतनी ही पत्नी। यानी जहाँ श्रम सस्ता है वही पन्न महगा हो जाता है।

गांधी इस तरह पूजीवाणी अर्थशास्त्र में लब्धापूर्वक उसनी दिशा में चरती है। और यदि कभी भागज पर नहीं बल्कि सचमुच में पूजीवाणी दासन विधान और समाज-व्यवस्था में शान्ति आयाती और उतका वायातन्व होगा तो वह अरमा और गांधी और ग्रामोद्योग के माग में ही हागा। पर्याकि यहाँ है जिनमें दस का आजाती या दस की राजनीति को उम देग की जनता के वास्तविक हित के अर्थ में हा दसा जाता है। यानी बहा जनता को अस्तेमाल के लिए राजनीति का इस्तेमाल किया जाता है।

यह तो ऊपर स्पष्ट कर ही दिया गया कि गांधी यदि सही है तो सभी जब उममें अन्तर्निरीक्षण की वृत्ति है और यह विवादास्पद है। यानी यह मूनपरफात (Middle man) के मच को कम-से-कम करके उत्पादन श्रम को अधिक-से-अधिक पहुँचाने के बतव के प्रति मावधान है। उगवा यह मत सब कि गांधी आश्रम का व्यवधानन जानता रह कि उममें वातनेवासी बतितन

और बुनवाना जुलाहा ज्यादा असली और ज्यादा प्रधान भादमी है। गांधी-भाषम के व्यवस्थापक की खादी का असला अर्थ लिया जाय तो यह कोशिश होगी कि यह समय जल्दी भाये कि उसे व्यवस्थापक रहने की आवश्यकता न रहे और वह खुद जुलाहा बन जाय।

इसके विरोध में अगर खदर-संगठन राजनीति के प्रयोजन का कही साधन बन गया—चाहे फिर गांधीवादी ही राजनीति वह क्या न समझी जाती हो—तो यह हमारी मुक्ति में सहायक न रह जायगा। तब वह भी एक न्यस्त स्थाय हो जायगा। इसलिए ध्यान रखना होगा कि खदर की भावना खरखा है और खाली खरीदने वाले से खादी बनाने वाला श्रम के मूल्य के अधिक निम्न है।

अक्टूबर '४१

■ ■ ■

अपरिग्रह और स्वत्व विसर्जन

सभी जानते हैं मनुष्य बला जाता है कोई भी साधन वह अपने साथ नहीं न जाता धन अपरिग्रह पर जोर देता है । सब इसका समयन करते हैं पर उन्हें अपना (Share) हिस्सा छोड़न लिखत होती है । ये नतिब भी बने रह और धन भी रहे इसमें उन्हें सतोष रहता है । दुविधा यही है । अपरिग्रह से हम यह क्षमता और दृष्टि मिलनी चाहिए कि पदार्थ, जो हमारा नहीं है उमका हम क्या करना है ? पण्य और स्वत्व विमजन म से यह प्रतिफलित होगा कि उसका जो कुछ है वह तुम्हारा नहीं है तुम्हारे जिम्मे किया हुआ है । इससे स्वतः इस्तीफा निकलगा ।

विनोबा ने जा कहा कि सरकार या राज्य के बिना हमारा काम चल सकता है, पर व्यापारी के बिना नहीं चल सकता । इस पर व्यापारी-वर्ग को विशेष ध्यान देना है । जहा उपभोग होता है वहाँ वस्तु का उत्पादन नहीं होता है और जहाँ उत्पादन है वहाँ उपभोग का अवसर नहीं है । व्यापारी उत्पादन और उपभोग के बीच का मादमी है कि जो उत्पादन को उपभोगता के पास पहुँचाता है । मात्र हवा ऐसी बनी है कि बीच का मादमी फायदा है । वह नफा कमाता है नफा कमाने की भाँति उमके रक्त म है । उसकी भाँति को दूर न कर उसे ही दूर कर लिया जाय और उमकी जगह पर तनम्बाह्वार को रक्त लिया जाय ता काम ठीक नहा होगा क्यकि उमका उममें राग नहीं है । हमने सोचा यह भाँति हुई इससे स्वयं का जायगा । पर वात एक दूसरी सामने धानी है । वय एक पार्ट रण्य पर भी तरह-तरह की बठिनार्ई भैवता हुआ काम कर सकता है । मिबिन गविम वाला अपना भला व तनम्बाह्वार भाँति धतरे में डानने वाला नहीं है । इसमें सगा यह तरीका भी गही नहीं है । फिर यत् विचार आया कि प्रोक्ति भाँति वाले के हाथ म व्यापार काम रहन दें मिबिन गविम वान के हाथ म होने वान मुकमान के लिए कमीशन बिटा लेंगे । वय-वर्ग के हाथ म व्यापार रहन न ता सोपण छावगा ही । अतएव उमके धारे धीरे व्यापार न लिया जाय । इससे व्यापारी वर्ग पर उन्नी प्रतिनिधता होगी है । उमके हाथ में

जितनी कुशलता है उसे वह अपनी सिक्युरिटी (Security) में लगाने की सोचगा, समाज व हित में नहीं ।

यह सब देखने पर स्पष्ट लगता है—वय के जिम्मेवार बने बिना काम नहीं चल सकता । उसे अपना जीवनक्रम और व्यवहार बदलना होगा । हमारे भारत में सहस्रो वर्षों तक यह घटित हो सका । बड़े बड़ करोड़पति यहाँ हुए पर उनका जीवन साधारण व्यक्तियाँ जमा रहा । व्यापारी अपनी सिक्युरिटी (Security) का प्रश्न ही उठा दें, कुल का बात ही न सोचें । गाँवा में जो कहा गया—“योगक्षेमैर्वहाम्यहम्” को सोचते हुए अत्यन्त निश्चिन्त व प्रसन्न भाव से वचस्व और प्रखर चतन्य में उसे अपने कर्तव्य पर बढना होगा । इससे उनकी धार का तनाय कम होने से स्थिति सहज बनेगी ।

जिन लोगों का पनाय पुद्गल एवं सम्पदा से सम्बन्ध है वे थोड़े स खूब हो जाए तो बड़ी शक्ति आ सकती है । उदर एवं शरीर के प्रतिनिधि दिभाग को बल द इसकी आवश्यकता है । जो कम के लोग हैं, वे धार्मिक आन्दोलनों को बल दें । मैं मानता हूँ जिस प्रकार कार्मिक आन्दोलनों को धर्म व बल की आवश्यकता है, उसी प्रकार धर्म के साथ कम की शक्ति आवश्यक है ।

भारत के संघर्ष और अशांति पूर्ण युग में यदि भारतवर्ष माया नहीं दिखा सका, तो दूसरी ओर से तो समाधान ही नहीं है । यह एक शुभ लक्षण है कि अणुव्रत और सर्वोद्यम इस दिशा में कार्य कर रहे हैं ।

राजनीति का प्रश्न राष्ट्र निर्माण की समस्या

एक दिन दो बघुमा मे चर्चा हो निकली । एक का कहना था कि कांग्रेस और सर्वोप्य ग्राज एव-दूसरे स उलट हैं पर यह क्या कि सर्वोप्य म उन्हीं नताओं का मच पर उपदेश के लिए लाया जाता है जो वजीर है ? कांग्रेस अब सत्ता है और सत्ता केन्द्रित ही होती जा रही है । सर्वोप्य क्या उसमे उलटनी राह नहीं बताता ?

इन बघुमा की राय थी कि स्वराज्य क बाद हम घागे नहीं बढ हैं नीचे खिचक हैं ।

दूसरे बघु समझत थ कि असन्तोष का कारण हो सकता है लेकिन जितना और जा हुआ है उसक लिए गव का भी कारण है । देखिए अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कितना मान बढ़ा है ! भारत की बात की हर जगह बढ़ है । युद्ध फूटा नहीं और अगर युद्ध कोई ग्राज उसकी बात नहीं कर सकता तो यह भारत की भावाज की ताकत की बजह स । यह तो मानना ही होगा कि भारत म गरीबी है इसलिए पहला काम मास पदा करना और ज्याग पना करना है । सिद्धान्त की बात ता पीछे भी दली जा सकती है । गाम्भी दीन और दखि रहेगा तो नि अन्त कहा ग्ट जायेंगे ? साफ है मनीन याना पना करती है । कुछ उससे बजार बनत हैं तो उनत लिए दूसर काम दूडे जायें बीस गाम्भियों का काम एक मगान कर तो क्या जरूरत है कि उनीस गाम्भियो को फामतू उस काम में रखा जाय ? उन उनीम के घबतीन हाथ किसी दूसरे काम म लग सक्ने हैं । घसिए, चग स बवारा को काम मिलता है ता वह घबछा । बीन उसे सराव कहता है ? घाग बह काजिय सरकार उमम मग द रही है और दगी । पर मशीनी उत्पा न्न बग हा या न बढ क्याकि घरग का खपना है तो भाई यह तो हठ की बात होगी गरीब क भन या खान न होगी । घरगा जितना कर सक् घरगा कर हाद करघा भा घम और मिन भी घपना जग बपड़ा बनाय । तो इस

तरह चारों ओर से गरीबी और बेकारा पर हमला बोलना है। जैसे ही अभाव काटना है बहुतायत लानी है। हमारे नेता शासन पर जाकर महं कर रहे हैं। इसी से बात सोशलिस्ट पटन (समाजवादी प्रणाली) की है। यह नहीं कि निजी व्यवसाय और उत्पादन की पद्धति को एकदम खत्म करना है पर जहां वह विघ्न बने वहां सचमुच उस नहीं रहने दिया जा सकता। पंजीवादा उत्पादन स्थापित स्वाय की गांठ बनाता है और राष्ट्र को पनपने नहीं देता। तो व्यवसाय और उद्योगों का आवश्यक समाजीकरण हम कर रहे हैं। लक्ष्य यह कि सब तरफ से सब मौलिक पन्ना हो और गरीबी की जगह हम खगहाली लायें। आप कुछ गोल माल होने की बात करते हैं पर बड़ कामा न ऐसा कुछ हो जाना अचरज की चीज नहीं है। आदमी अभी दबता तो नहीं बना है। अचरज बल्कि यह है कि काम इतना हुआ है और गालमाल इतनी कम हुई है। जो ध्यान उधर भी है पर देखिए कि कितने बड़े बाध तयार हुए हैं और उनमें किम कदर फायदा होगा। रेगिस्तान में वहां हरिमाली हागी और जमीन फसल उगलगी। साइस (विज्ञान) का मदद से कुदरत से हम ताकत खींचेंगे और उसे जाया नहीं जाने देंगे। आखिर इस कदर पानी नदियों की राह बंद जाता था और काम नहीं आता था। नुकसान करता था सो अलग। पर उमम ताकत थी और उस ताकत को हमने बाधा है। उसको विजली की शक्ति में हम हर देहात में पहुंचा देंगे। ताकत हो फिर बड़े-स-बड़े काम हो सकते हैं। अभी तो आदमी हम मागने पड़ते हैं और मशीनें भी। हलके हलके मशीनें हम यहां तयार करने लग जायेंगे और टैक्नियन (यांत्रिक विज्ञान) भी। यह चन्द दिन की बात है फिर हम कुछ उपार लेना नहीं होगा बल्कि यह मुल्क तब मागने का जलूरत में नहीं उभट देने की हालत में हो जायेगा। भाई हम बटना नहीं है सबको इकट्ठा रहना है। कांग्रेस सर्वोत्तम को नहीं मानती सो नहीं। हा वह उन लोगों को अपने में अलग नहीं मानती जो सर्वोदय से समाजवाद को पसन्द करते हैं या किसी और तरीके को—यानी वह एक पक्ष पर नहीं झुक सकती एका तवादी नहीं बन सकती। यों तो दोया पक्ष है और बाया पक्ष। दोनों आपस में मड यह काग्रस को मजूर नहीं है। यह सर्वोत्तम की पक्ष बन इसमें क्या फायदा है और आपकी यह शिकायत कि मिनिस्टर मंच पर लाये जाते हैं माफ कीजिये स्वस्थता का चिह्न नहीं है। आखिर क्या ये लोग आजादी के जगह में तय हुए मिपाहा नहीं हैं? स्वतंत्रता के लिए क्या मुसीबतें इन्होंने नहीं उठाई? मंत्री हैं, क्योंकि देश की तरफ से यह काम उन पर आया है। कहां तो इस सेवा के लिए हम उनके कृतज्ञ होते वहां आप आपसित करते हैं। आखिर मंत्री-पद होना ता है और किसी को यह

काम अपने कंधा उठाना है। जिनके कंधे परते हुए हैं और चौक है उहीं पर बोझ भाये यह स्वाभाविक मानिये। यह बोझ है स्वाय नहीं है। भाई, अभी तुम जवान हो। सन् २६ में तुम पदा भी नहीं हुए थे जब इन लोगों ने मोर्चा लिया था। जलियाँवाला बाग तुमने सुना है इन्होंने भेला था। इसलिए जल्दी नहीं करना चाहिए।

उत्तर में भाई कायम हो गये ऐसा नहीं मानूँ हुआ वस्कि कुछ गरमा ही गये। उन्होंने भी अपनी तरफ के तक दिये और उसी जोर के साथ। लेकिन मेरा ध्यान उधर से हट गया था। ऐसे विवाद बहुत होते हैं। बाहर घ्रापस में होते हैं और अकेले में हर एक के अपने दिमाग के अन्दर भी होते हैं। वेग है पर मध्यम भी है। काम धाम में हम घड़घड़ाते हुए चल रहे हैं। परा में शिथिलता भी नहीं देखती है। पर अन्दर प्रश्न है और उलझन है। शीतल कायकर्ता इस दल का या उस दल का इस दिमागी परेशानी से बरी नहीं है। इसलिए काफी मानव-शक्ति परस्पर के और अपने अन्दर के विग्रह में खत्म होती है। सधय ऐसे जोर का भी नहीं होता है कि उससे से ज्वाला दमक आय। धुटन होती है और युष्मा ही उठता है। यह धास्पा का सनट है और विलकुल जरूरी है कि हम चाहे तो विवट दण्ड-युद्ध में से होकर अपने लिए स्थिर धास्पा प्राप्त करें।

ऐसे समय में गांधीजी की याद उठती है। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के प्रयत्न हो सब धोर से चलते ही भाये थे पर गांधीजी के जाने से मानूँ हुआ कि सबको सब कुछ करने का विधेय अवसर नहीं रह गया है अब भारत में भाव की ऐसी एबना जग आई। सब विचारा क बीष जन्होंने एक अमोघ प्रश्न डाल दिया है हिंसा या अहिंसा? यह प्रश्न कम की धोर से सगत न था बहुत हो दूर का धोर सिद्धान्त का मानूँ होता था। पर गांधीजी न परिस्थिति को कम की धयसा उत्तर पल की धोर से नहीं लिया मूलगत धास्पा की धोर से पकडा। उनक जाने क साथ ही जमे परिस्थिति फट गई और देश के सामन असता हुआ प्रश्न राडा हा गया यह या वह? यह प्रश्न व्यक्तिगत या दर्मीय नहीं रह गया वस्कि मौलिक और धास्पा का बन कर समझ भाया। उसमें भारत क मन और मस्तिष्क में एक विलक्षण आलोडन मचा। जा फलित हुआ इतिहास उमका साक्षी है। कान्ति का मूनपाठ हुआ सारा दल गवल्प में एक बन घाया। बनि दान की धाकाशा में वह उर्दीव हुआ। असमयता की भावना सधया समाप्त हो गई। साम्राज्य जिसकी जड़ें पाताल में गहरी समझी जाता था डगमगा भाया। जनता में उन्साह और विवास जगा और सनिया स चली आई गुनामी

की जकड़ का तोड़ फेंकना उन्हें सहज ही आया। आस्था भर आई स्पष्ट मूम उठा और भारत के तर नागिया ने वह कर दिखाया जिस पर पीछे स्वयं उन्हें ही निश्वास न होता था।

अग्नि के चेष आने के बाद ऊपर से किया जाने वाला काम मुश्किल नहीं रह गया। कायत्रम जो असम्भव समझ गये सफल होते चले गये। रोगम जिह्नु भुभ सकता था उ होने लगी से टाट पहना। अघशास्त्र उलट गया और लोग घाटा उठाकर नफा अनुभव करने लगे। मालूम हुआ कि फिमलना स्वभाविक उतना नहीं है जितना ऊपर उठत जाना है इत्यादि।

आज की हालत में और सब हैं आस्था गायब है। अपनी सरकार है उसका भरबो का बजट है। पर समस्याएँ अधिक हैं, सात्वना कम है। भीतर महा सकल्प का अभाव है। पंचवर्षीय योजना एक है और दूसरी है और उस पर पूरा बल है। लेकिन इतनी सरकारी है कि उसका जनता तक पहुँचाने के लिए फिर बरोडा खपा के खच से प्रधार करने की आवश्यकता मनी रहती है। मालूम होता है चिन्ता सबकी अपनी अपनी हो आई है अपने को रखने की बढ़ाने की और धन-माल जुटाने की। जो जहा है फूरना चाहता है। अपने को मिटाने का आदेश थोड़ा हो आया है। जा पहले खीवता था अब व्यथ लगता है। पहले त्याग था तो अब सग्रह धम है।

हिन्द में अथ स्वराज्य है। एक 'हिन्द-स्वराज' गांधी ने दिया था। उसकी याद क्या किसी की है? क्या हिन्द का यह स्वराज' उस हिन्द स्वराज के जसा है?

जरूरी नहीं है कि पुराना आज को हम रखें। चाहे गांधी के नाम के साथ हो अगर चीज गलत लगती है तो हम उसे फेंक देंगे। इसमें हृज नहीं है। लेकिन क्या हमने ऐसा किया है? क्या हमने इरादे के साथ गांधी के हिन्द स्वराज को परसा है गलत पाया है और फेंकने का निर्णय किया है?

नहीं बसा नहीं हुआ। सिर्फ हम उसकी याद भूल गई है। तो मैं दश को उसकी याद दिलाना जरूरी समझता हूँ। जरूरी इसलिए कि रूस के कुछ लोगो ने स्टालिन का गिरा दिया। हम चाहें तो गांधी का गिरा सकते हैं। पर विचार पूर्वक हम गांधी को गिराने के लिए तयार नहीं हैं। कोई कारण नहीं रहता कि हम गांधी को और उनके हिन्द-स्वराज को भला दें।

आवश्यक यह इसलिए और भी है कि सब जो काम चम रहे हैं उनमें जोर पसे का है सत्त्या का है और सरकार का है। बलिदान में अधिक महत्वाकीला है रोगनी से ज्यादा गर्मी है। इससे निया जितनी है उसमें धम प्रतिनिया

नहीं है।

गांधीजी के जीत जी भी कांग्रेस ने एकाध बार वह नहीं किया जो गांधीजी की सलाह थी। कांग्रेस को बसा अधिकार था। कांग्रेस ने अपने साथ ईमानदारी धरती और यह ठीक ही था। लेकिन उसमें सक्त इसलिए नहीं पता हुआ कि भारत की भास्य गांधीजी में मूत और अनुष्ण रही। कांग्रेस राजनीतिक होकर कुछ भी धरती चाहे तो गनन सिंगा अपनाती उसमें भारतीय जीवन का विनेष बिगाड होन वाला न था नराकि ध्रुव उबल था और लगर रहन नाव की स्थिरता को धतरा न था।

लेकिन गांधीजी का योग में कांग्रेस राजनीतिक सस्था ही न रह गई थी धरन् उमम भारत का भादग मान और गौरव भी प्रतिष्ठित हा भाया था। यह देखते हुए गांधीजी ने अग्रजों के जाने और स्वयंकी हुकूमत धाने के समय कांग्रेस का पूछने पर कांग्रेस को धनाया था कि यह हुकूमत पर धाने का काम अपना न मान वलिक प्रणु धाधवर अनन्धया को अपना न। इन तरह भारतीय जीवन के भाग्य को जीवित रखने का धायित्य वह उठाय हलकी धाता में न जाये।

धगा नहीं हो सका। कुछ दिन धाग दग न गांधीजी का हा ग्यो सिंथा। तव से अथ तव कुछ मिलानर दध एक भास्य का मन्त म में गुजरता रहा है।

शक्ति का निर्माण और भारत

हम नहीं चाहते कि लड़ाई हो। हमसे मतलब सिर्फ उन लोगों से नहीं जो आदेश की निष्ठा में रह सकते हैं और जिन पर जिम्मेदारी नहीं है। मतलब उन लोगों से भी है जो जिम्मेदार हैं नेता है। निश्चय ही उनमें कोई लड़ाई नहीं चाहता। फिर भी सत्ता को एक के बाद जो दूसरे युद्ध में उतरना पड़ा है और ऊपर से युद्ध का सक्त् पूरा तरह टलता नहा दीखता है सो क्यों? अर्थात् उसका पीछे कोई विवशता होती चाहिए जो स्वयं में राजनेताओं के लिए से भारी हो। राजनता नाग स्वाधीन और स्वतंत्र होकर निश्चय ही युद्ध की घातकता का बोझ वभी अपने ऊपर लेने को तयार न होगे। लेकिन वे अपने को बेवश पाते हैं और इसलिए जब समय पर युद्ध का घोष होता है तो उस देश की जनता मानो युद्ध के लिए उनसे भी अधिक उत्सुक मिलती है।

यह भ्रम है कि युद्ध का निर्माण यहाँ होता है यह वह लड़ा जाता है। बारिश जो यहाँ गिरती है हम न समझें कि उसका पानी यहाँ ही तयार होता है। मूसलधार वर्षा का पानी कण कण भाप को लेकर इकट्ठा हुआ करता है। और यहाँ टूटने वाला बादल जाने कहा का पानी साख कर बना होगा ठीक कहना मुश्किल है। सच यह है कि घर घाट और हाट-बाट में मानव-सम्बन्धों की विषमता में से जो अनिष्ट तत्व निर्मित होते हैं वे अल्प में मचित होने और मानव-जाति की मानविकता में घने होकर छाते जाते हैं। फिर राष्ट्र-स्वायत् की सीमा रेखा पर उही को जुटाकर तीव्र बनन दिया जाता है और समय आता है जब राष्ट्र राष्ट्र के नेता लोग देखते हैं कि कुछ भा और नहीं हो सकता— युद्ध ही एक उपाय है। अस्तित्व के लिए युद्ध ठानना होगा।

लार्गों के निर्माणों में अगर वह वास्तव इकट्ठी न हो पाये जो युद्ध में काम आती है जो उन्हें मारने और मरने को तयार करती है जो उन्हें एक दूसरे को दुश्मन गिन कर शक्ति और विकास के नाम पर नैस्तोनाबूद करने पर आमान्य कर देती है तो साफ है कि युद्ध लड़ा नहीं जा सकता। यह वास्तव कोई बार-बार करना तयार नहीं करता। हम सब ही अपने आपसी काम-काज में हर पक्ष वह

सपार करते रहते हैं। स्वर्दात्मक और विग्रहात्मक सम्बद्ध चिनगारिया उपजाते रहते हैं। हम यह न मान लें कि हमारे राग द्वेष और शोधावेश सिर्फ हमारे ही होते हैं। नही सम्बन्धों के द्वारा सारे समाज से हम जुड़ हुए हैं। द्वेष और कोष जो मुझमें उठता है मुझ तक ही नहीं रह जाता—दूर-दूर तक प्रतिक्रिया पदा करता है।

इस तरह युद्ध का प्रश्न राजनीतिक प्रश्न नहीं है—बहु गभीर नतिक प्रश्न है। युद्ध होता राजनीतिक भूमिका पर है। लड़ा वहाँ जाता है और उसी पट पर निबटता हुआ भी दीखता है। पर यह तो यह है जो घटनात्मक है दीखता है। युद्ध का बहुत भाग तो दीखता नहीं है। और असल में प्रगट घटनात्मक को धारण करने वाला जो युद्ध का बहुत बड़ा मानसिक भाग है—युद्ध का सही निदान और समाधान तो वहाँ ही खोजने से मिलेगा।

इस भाँति देखें तो युद्ध का प्रश्न विविध देशों की विदेश नीति पर उतना निभर नहीं रह जाता। सच यह है कि विदेश-नीति स्वदेश नीति से स्वतन्त्र होती भी नहीं है। न राजनीति समाजनीति से स्वाधीन बनाई जा सकती है। अन्तरंग नीति में अहित-तब को स्वीकार करके चलने से बाह्य नीति में दास्य निर्माण की अनिवायता से बचने का उपाय नहीं रह जायगा—यानी कोई देश अगर सबका घाति के पक्ष पर ही दृढ़ रहना चाहता है तो उसके लिए यह तभी सम्भव होगा जब उसकी अन्तरंग व्यवस्था—समाज और अर्थव्यवस्था—अनुकूल हो। अर्थव्यवस्था अन्तर्गत हो तब फौज की आवश्यकता से छुटकारा ऊपर के लोगो के विचारों और सफलता के आधार पर भी सम्भव नहीं होगा क्योंकि यह प्रश्न मानसिक नहीं तात्कालिक है—फौज हम नहीं चाहते—इतने पर से फौज से छुटकारा नहीं हो जायगा। फौज से होने वाला काम की ही दरकार हम नहीं रह गई हो तभी फौज से सहज छुट्टी होगी। जब तक फौज की ताकत से होने वाला काम मौजूद है या उस काम के लिए फौज के अलावा किसी दूसरे शक्ति का हम निर्माण नहीं कर पाते हैं तब तक सना में अहित असम्भव है। अभाव प्रकृति में कही है नहीं। इसीलिए कविया और आदर्शवादिना के युद्ध का निराकरण सम्भव नहीं हो सकता है। वह निपयात्मक नहीं रचनात्मक काम है और युद्ध अगर करोड़ों की जान लेता है और धरवा-धरवा की संपत्ति स्वाहा करता है तो युद्ध के निराकरण के अर्थात् नाश के काम को उगम छाया काम समझना का अर्थ ही कुछ नहीं है। युद्ध शांत होना न करोटा जानें जायेंगी और शरबों दया बच जायगा—इस डर या सातथ में से युद्ध का समाप्ति नहीं हो जायगी। अन्तिम युद्ध न करन के प्रण में करोटो आत्मी जूमन और जान दन को तैयार

होंगे और सबों अपना सब कर डालने को वे छोटा समझेंगे, सब वह काम हो सकेगा। जैसे आज देशों का समूचा उत्पादन बल-कारखाने सुरक्षा के और युद्ध के लिए चलाये जाते हैं सारी अर्थ-व्यवस्था मानों युद्ध के लक्ष्य के अधीन होकर चलती है शान्ति के लक्ष्य को उसी तरह उतना ही महत्व देना होगा। ऐसी शान्ति स्पष्ट है कि, युद्ध की अनुपस्थितिमात्र न होगी बल्कि वह जीवित और ज्वलत लक्ष्य होगी। वह शान्ति एक देश से आरम्भ होकर वही तक सिकुड़ी न रहेगी बल्कि नवीन अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं और परम्पराओं का वह विकास करने वाली होगी। वह मानव-जाति को मिलाती जायगी और विकास के नव नवीन आयाम उभार प्रकाश में लायेगी।

प्रश्न की इस रूप में जब दृष्टा जायगा तब गांधी से व्यावहारिक मांग दर्शन प्राप्त होगा। भारत गांधी का देश है पर भारत के पास पीछे और अस्त्र-शस्त्र नहीं है ऐसा नहीं है। भारत के नेता और अधिष्ठाता लोग गांधी को नहीं मानते हैं सो भी नहीं है। एक तरह के गांधी के अपने ही आदमी हैं। फिर भी फौजी सब को अगर बढाना पडा है तो यह उनकी मजदूरी से हुआ है। पर इस मजदूरी के नीचे उनकी इच्छा की नटि नहीं परिस्थिति की विवक्षता है। राज्य पर न हो तो वे अन्वय ही पूरे जोर से निराश्रीकरण की बात बहे। पर राज्य का दायित्व लेकर वे आहूकर भी बसी बात नहीं कह सकते। राज्य पर सुरक्षा का भार है। सिद्धान्त का रक्षा का काम जिसका चाहे हो वे देश के आनमाल की रक्षा का जिम्मा भकर शासन पर बठ हैं। भारत का शासन गांधीवादी होने के बहाने प्रमादी नहीं हो सकता और अनमने मन से क्या न हो उसे भारत की सन्ध-शक्ति को आधुनिक बनाय रखना होता है। नये-नये संयोग करणा को जुटान में वह पीछे नहीं रह सकता। न पडोसी किसी दश से हेटा रह सकता है।

तो युद्ध का प्रश्न वाद का और सिद्धान्त का प्रश्न नहीं रह जाता है। न इसा भाति शांति का प्रश्न वाद अथवा सिद्धान्त का प्रश्न है। दाना हां समग्र जीवन विधि के प्रश्न है कि समाज और देश के रूप में हम किस प्रकार की व्यवस्था का निर्माण करके रहते-महते हैं? इस प्रश्न का हल ऊपर से नहीं जाना जाता है, बीज में से वह प्रगट होगा। चाहने में ही युद्ध का अभाव नहीं हो जायगा न शांति फलित हागी। उसके लिए बुनियाद से शुरू करना होगा।

इस समय दुनिया का काम काज चल रहा है राष्ट्र राज्य की कल्पना के आधार पर। विश्व-व्यवस्था के घटक आज सावनेन राष्ट्र-सत्तात्मक दंग हैं। उनका सब समुक्त राष्ट्र-संघ है। आज अन्तर्राष्ट्रीय नीति के क्षेत्र में बड़ी स-बड़ी

बीज जो पदाई है वह पचशीत है। इस पचशीत सिद्धान्त का मतलब है कि प्रत्येक राज्य-सत्ता अग्रण्ड है और एक दूसरी के विषय में कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकती। इस व्यवस्था के अनुसार अंतर्राष्ट्रीय ढंग का कोई प्रश्न उठ तो क्या उपाय है? संयुक्त राष्ट्र-मण्डल जो उपाय है उसकी अपनी कोई सत्ता नहीं है—राष्ट्रा की स्वेच्छित स्वोच्छति ही उपाय बल है। कुछ बड़ी शक्तियाँ के पास यहाँ तक कि बिना पावर है—अपान उन बड़ों में से कोई एक अपनी स्वोच्छति न दता। यह अममय रह जाता है। बिना स्थिति की इस परिस्थिति में फरमे का उपाय गति अनुभव के बिना दमन रह नहीं जाता है। नतिव गति जमी कोई बीज उस स्तर पर रहती नहीं सतिव शक्ति ही सिफ रहती है। शी से शासनात्म्य की होड नहीं है और जो मम अडपल हो उगी को अपनी को प्रथम शक्ति मानन का अवसर है।

गति की परिस्थिति यह नहीं हो सकती। उस इससे उगभग एवम विपरीत होना होगा। अर्थात् तब प्रभुमता अलग अलग घटकों के पास छोट या बड़ राज्य के पास न मानी जायगी बल्कि वह नीति नियम के पास हागी। सध के अन्तरेण साक्षरेण-सत्तात्मक राज्य न होंगे बल्कि के मासृत्तिक भोगो तिव और भाषाकार स्वच्छित सामुदायिक इवाइयाँ हागी। अपनीति राष्ट्र राज्य-शक्ति न होगी बल्कि विकेंद्रित अर्थात् जन-केन्द्रित होगी। तब राष्ट्रीयता एक निषेधात्मक धारणा न रह जायगी और सीमाधा पर तब काटे की काँ न हागी। सरहते तब कुछ फीकी और बमानुम होगी और राष्ट्रवा एव दप की हृवार और स्वाभिमान की गाँठ होने की भाव्यवता से छू जायगा। वह एक उन्मत्त ससृति का सूचक भाव हागा और अपनी रक्षा मोजन के यथाय उगम अमदान की भावना और स्पृहा जाग्रत होगी।

विमहाल राष्ट्र राज्य के आधार पर रहने के हम अपनी बने हैं। या कामन धर्म है साम्यवाणी सध है दूसरे मिण्टो नती अति धारणाए भी हैं। सतिव मूलतः राष्ट्र राज्य हा व्यवस्था का आधार है। राज्य के रूप में भिन्नता हो सकती है—जैसे साम्यवाणी समाजवाणी जनतन्त्रात्मक। पर वह भिन्न प्रश्न है। सतिव राष्ट्र राज्य राष्ट्रीय स्वायत्त के हित में शोषता और योजनाधा और नीतियों का निर्माण करता है। जस सर्वोपरि तब राष्ट्रहित हो। गिण्ड का माँधा उगी ढंग में नुवार हाता है और उद्यम-अवसाय एव श्रुति-व्यापार का उगी श्रुति में नियोजन हाता है—जस राष्ट्रीय-म्याय स्वय प्रमाण और स्वय प्रतिष्ठ मूय हा और मय मर्यामा में उताग हो। राष्ट्र के नाम पर सति ने और सति मन का महत्व शीतिव बढ़ च पाता है। सतिन को हम राष्ट्र के नाम

पर कूतते हैं और राष्ट्र को मालामाल करना अपने परम कर्तव्य मानते हैं ।

इस आधार पर सहारक मुझ सदा और सवथा अनिष्ट नहीं रह जाता ।
राष्ट्रीय-स्वाय की कसौटी पर कभी वह उचित और उपादेय भी बन सकता है ।
ठीक इसी जगह गांधीजी ने जगत को एक नया दशन दिया । मानो राष्ट्रवाद
को एक नया आधार और नई दिशा दी । (स्वदेशी के धम को उन्होंने प्रतिष्ठा
दी और उसको भौगोलिक और राष्ट्रीय से अधिक मानवाय भूमिका प्रदान की ।
पन्चामन एक ग्राम राज्य (विलेज रिपब्लिक) की कल्पना हम मिली । उस
आधार पर प्राप्त होने वाला स्वदेश विश्व भावना के लिए सदा ही साधक बनेगा,
कभी साधक नहीं बन सकेगा । ऐस स्वदेशवाद में से मुझवाद या साम्राज्यवाद
कभी फलित नहीं हो सकता । ऐसा स्वदेश मनमाना निर्धारित करके अपने को
मालामाल करने की नहीं सोचेगा । जिसको आज की भाषा में औद्योगिक या
व्यवहारिक साम्राज्यवाद कहें वह उस सालच में नहीं पडगा । मैशीनी उत्पादन
का एक उस स्वदेश में मानव हित और मानवीय परस्परता पर भारी होकर
नहीं बठ सकेगा । वह स्वदेश फीज पर निर्भर करने की आवश्यकता से मुक्त
होगा । उसकी हृद पर काटे की बाड एकदम गर-जहूरी हो जायगी । सम्बन्ध
तब सोया के और मसूहों के उस स्वदेश में स्पर्धा और द्वन्द्व पर आधार नहीं
रहेगे—बल्कि उनमें हित की समथता उत्तरोत्तर व्याप्त होती जायगी ।

जब तक कोई देश आज की (पहने) सम्पत्ति और (फिर) शान्त की होड
से अपने का अलग कर बुनियाद से ही विधायक शान्ति की और तदनुकूल समाज
की रचना का प्रारम्भ नहीं करेगा तब तक मुझ का वेस के बोज का सघतोभावेन
नाश का उपाय भी नहीं होगा । और जो देश सचमुच इस प्रारम्भ से प्रारम्भ कर
सकेगा वह विश्व के भविष्य का निर्माता समझा जायगा । क्या गांधी का भारत
वह देश न बनेगा ?

एक वक्तव्य

इधर बहुत दिना स लिखा ओ नही है सो जगह जगह मुमम जवाब तलब किया जाता है । मगर मष यह है कि लिखना मेरे विण घघ की तरह आसान नहीं बन सका है और मैं उलभन म रह गया हू । साहित्य के परिचय म से या उस तरह की किसी इच्छा म स साहित्य में मरा घाना नहीं हुआ । सन् १९२१ ई० के असहयोग म पढ़ने से अलग हो गया और फिर इधर-उधर भटका किया । इसमें जेन जाना हुआ और सब कुछ के अभाव म लिखना शुरू हुआ । यह लिखना फिर साहित्यिक आलोचना से साहित्य सम्भा गया और उस दिना में मुझ स अपसा होन लगी । उस अपसा के उत्तर पर सीधे मैं कुछ द नही सकता था । आज भी देवता हू कि उस तरह के दावे का जबाब मुझमे नही बन पढता है ।

इसम जो विषम स्थिति कारण बनी है उसको राजनीति स अलग नही किया जा सकता । गांधीजी हमारे राष्ट्रपिता थे उनके बाद स राजनीति सिफ राय की नीति होकर नहा चल पाता है उसे मानव की नीति भी होना होता है । यानी मानव जाति स विमुख हाकर उससे स्वाधीन होकर राजनीति प्रपथ की ही नीति बन रहती है—एमी धारणा जन-सामाय म प्राय जम चुकी है । राजनीति का सम्बन्ध इस तरह राय से और राजनर्ताओं से अधिक जनता के सुख-दुःख से हो गया है । वह कुछ साम आदमियों की चीज न होकर हर आत्मी क सगाव की चीज हो गई है । वह पैसा नहीं है बल्कि आध्यात्मिक पूरप क लिए भी भी आवश्यक रूप म चिंता का विषय है । आज राजतंत्र जनतंत्र होकर ही निक सकता है । पूरे और मजबूत धर्मों म जनता का अयना तंत्र नही बन जाता नव तक वह न अयन आप म सुराित है न साज क लिए हितकर है ।

इस तरह राजनीति उगवा किमी तरह निश्चिन्त नही छोड़ सकती जो सर्वजनगीत है । सर्वजन ही त्रिनी पूजा है एम भागा पर हमनिण कुछ अधिक ही बोझ घाना है । त्रिन पर राय का उगवे पं आनि का दावित्व नही है त्रिनकी प्रवृति म यमी अनुबलना नही है उनका ही आज विपय चुनोती है ।

धुनीती इसलिए कि हम सबके अनुभव कर रहे हैं। दस विभिन्न अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के बीच खुद प्रांतिक और निजी सबके म गिरपतार मालूम होता है। सब देखते हैं कि पात्र की सी हालत पहले कभी नहीं थी। अष्टाचार हद पर है और सभी को अपनी या अपनी की पड़ी है। पाकिस्तान नाम का राज्य हिन्दुस्तान की सहमति से बना है लेकिन दोनों के बीच बिगाड़ है और जलन है। उसमें म को कठिनाइयाँ उत्पन्न हुई हैं वे किसी को धन नहीं लेने देतीं। उसने जीवन की सहज प्रणाली को प्रायिक और व्यापारिक बनाव को और प्रापसी नागरिक सम्बन्धों को भङ्गभोर कर रख लिया है। देश की चिन्ता शक्ति का मुख्य भाग उसके उत्पादन का और उसके आयकर का बहुत बड़ा हिस्सा उसी खाते में फँक जाता है। फिर भी विभीषिका कटती नहीं मराम टलता नहीं है। धारदारें होती ही रहती हैं जो सब को धाम से भर दें। हुकूमत का भारी लक्ष और उसके दूसरे बड़े उपाम जनता को राहत नहीं पहुँचाने हैं। और उसके इस बड़े व्यय से अर्थात् शक्ति के इस समूचे अपभ्यय में से दक्षिण के सचय की प्राप्ति की जाती है। इस प्रापाधापी में ही यह हासत बन आई है।

गांधी जी के बाद लगता है कि यह दृष्टि नहीं है, नेतृत्व नहीं है व्यक्तित्व नहीं है जो कुल मिलाकर देश को एकाग्र भाव से चिन्ता की धोर ले जाय। गांधी-नीति में सभावना दीखता थी। लेकिन वह नीति तो विश्वरी पड़ी है। व्यवहार में हटकर यह सर्ववाद में लगी दाखला है। परिस्थितियों पर और दलों पर यह भारी नहीं आती और जान पड़न लगा है कि शक्ति मम्मा में है और दलों में है और इस तरह बहुमत-बान्ना-दल जहा घोट पाकर बैठता है उस सरकार में है। राजकीय राष्ट्रीय और दलीय भूमिका से भलग कही कोई दक्षिण ही नहीं है और दस भयो कि कई हैं इसलिए हर एक दल दूसरे दल को पराजित करने की लगन में से देश की भलाई का अपना काम और प्रोत्साहन प्राप्त करता है।

लेकिन यह झूठ है। शक्ति जनता के पास है और वहीं से किसी के पास पहुँच सकती है। दलों के पास अपनी स्थायी शक्ति नहीं हो सकती। सरकार की दक्षिण जनता के पास से नहीं आती तो समझना चाहिए कि वह वहाँ है ही नहीं। जनता सारी दुनिया की अपने मुख दुख में एक है। दलों में राज्यों में राष्ट्रों में बँटकर जनता अंगर लक्षित होती है तो वे दल, राज्य और राष्ट्र टिकने वाला नहीं है। जनता को बाँट बाँट कर अब कोई अधिक नहीं जी पायगा।

पात्र का सबके कुछ यह है कि जनता की आत्मा निराश है और अपभ्यय है। जो राज्य के पद पर हैं वे मुख्य हो गये हैं। नेता जनता में नहीं हैं वे

हकूमत पर हैं। इसलिए सेवन होने और सम-समान होने की इच्छा के ऊपर नायक होने और विगिष्ट होने की वृत्ति बढ़ रही है। मूल्य असल से हटकर नवल पर जा चढ़े हैं। व्यवस्था और शासन बड़ा काम हो गया है। उत्तम और उत्पादन छोटा काम रह गया है। रचना करने से आंदोलन करना प्रमुख हो उठा है।

समूचा देश आजाद होकर एक विधान के नीचे आया है और रियासतें अब अलग अलग छिटकी हुई नहीं रह गई हैं। यह इतिहास में पहले कभी नहीं हुआ। पर कानूनी एकता को पुनिस और फौज के सहारे ही ठिकना पडगा कि जब तक वह संसृति की ओर अभिलाष की एकता पर ही बाधम नहीं होता।

सशास्त्र प्रशासन के नीचे चलने वाली एकता उसके अभाव में फूटकर सब बिखर जायेगी वहा नहीं जा सकता। उस बल मरोसे कि जहां से कानून है और हकूमत है हम निश्चिन्त नहा बठ सकते। यह सतरनाक होगा। जरूरी है कि जहा सच्ची एकता रहती है और जहा से वह विकासगीत बनती है उस आत्मा की हम जगावें। मन और मूल्य हमारे बदलें। अर्थात् वे बाहर की ओर से सौटकर अन्दरूनी योग साथें और वसे बनें जैसे गांधी काल में थे।

राजनीतिक व्यक्ति स यह काम मही हो सकता। इसके लिए उसे अधिक सचेष्ट और अधिक सवेक्षणगील बनना होगा। अथवा कि यह काम सबदनशील व्यक्तियों के आने से हो सकता।

इंसान अपनी जगह रहकर राष्ट्रीय मतदान में घिरने को साधारण क्यों बने ? प्रकृत सहानुभूति के प्रति वह भूला क्यों सिद्ध हो ? मानव नीति को मजबूती से हाया में लेकर वह मध्य राष्ट्रीय या राजनीति को सहा दिना में रमन का काम क्या न कर सके। गांधी जी देश का ऐक्य सभी साथ सब जब उनकी सवेदना दगाव न थी मानवीय थी कृत्रिम और भौगोलिक न थी प्रकृत और हादिक थी। सीमित नहीं थी उससे गहरी और व्यापक थी।

अपन पर गध्व करने का अर्थ अवसर नहीं है। नाना धर्म (Exclusivism) हमको घर लिया करने हैं। एमे हम अमीम स बटते और भीमा स चिपट जाते हैं। अ-व्यक्तता है कि परम की अर्द्धा हम अगन में और बाहर जागृत करें।

जगह जगह सब चिह्न नजर आ रहे हैं। अगतोप है और तरह तरह के अयन्त हैं। यह सूचना है कि जमान का क्या अणना है। अनास्या को बाटने के लिए गोबने का अवसर मही है। बटने से हा व्यय विचार बटता है। और करने का आरम्भ होगा अर्द्धा से आस्या में।

सुनी बानी

अभी बानी सुनी है अभी उसे दोहरा दे रहा हूँ। आदि उसका नहीं जानता
सायन् वह बनादि है। जो सुनता हूँ वही सुनाता हूँ। सुनो—

विचार परिग्रह है। हर विचार परिग्रह है। आदश बचन है। आदश और
दशन और विचार और धर्म इन सबकी जड़ में भय है। धनागत भय अपना
भय और जाने किस किस का भय। भय जीतना होगा, उसका सामना करना
होगा। बलकर किता दान या पथ या पुस्तक या गुरु के पीछे छिपने से नहीं
बनेगा। भय क्या एस तुम्हारा पीछा छोड़ देगा? हमसे नागो नहीं सामना
करो। तुम्हारी बनाई विधियाँ तुम्हारे बदबाने है। वे तुमका ही रोकती है,
या वे तम को मारती हैं। छुटना चाहते हो तो छूटने तक के विचार से छूटो।
आदश भाव में छूटो। हय विषय से छूटो। क्या सहारा पकड़ा है? लकड़ी जड़
है जिस का आधार तुम बैठे हो। उसपर उठना गिरने की तयारी करना है।
और अगर लकड़ी टिकी भी रही तो उसपर भार डेकर तुम्हें स्वयं अपना भार
सभालना कैसे धायेगा? हमने छुटी पाओ। खुद अपने से छूट पाला। मनको
ऐसा रखो जमे बिना बदल नीला आसमान एकदम सूना और सुनसान। 'सुन
महल में दियवा वारि लें। वहाँ जा रहे अभाव रहे ताकि सब भाव उसमें आकर
जा सकें। और बुद्धि का रक्षा तरल जैसे वायु। निराकार निर्लेप। उसको
जमकर आकार न पकड़ने दो। उसको चट्टी हूँ रहने दो। उसमें गठ भली
नहीं। विचार गों हैं। हमारे बनाये आदश और पथ और ग्रन्थ मोटी मोटी
ग्रन्थियाँ हैं। पर खूनी पर कपड नटक मफत है और गठी मायताओ पर
आग्नी लटक सकते हैं। लेकिन लकड़ा आग्नी चलता नहीं है। पैर टेक कर
वह भाग नहीं सकता। उठ ता बड़ सकता ही नहीं। और आदमी घरती में
धिपटकर कोन रह सकता है? वह पट में नहीं चलता। उसका सिर सीधा
रहने के लिये है। कल्पना उसकी उडन का विषय है। आग्नी बनन क नियो
खूटिया या सहारा छोडो। उस दीया का ही साथ जिसमें खूटिया गडनी है।
अरे क्यों नहीं समझें तब कि खूटियो पर उसारे कपड ही टगते हैं और श्रुति-स्मृ

तिया पर भादमी की उतरन ही टग सनती है। क्या तुम उतरन हो तुम इन्सान नहीं हो ? इन्सान हो तो तुम्हें खूटी की टटोल क्यों हो ? छोड़ो तुम उस घर को जहाँ तुम्हें बहुत आसानी पदा कर दी गई है। यह आसानी ही परेशानी है। यही बाधा है। मुसीबत में इन्सान कहीं दबसा है ? मुसीबत को सामने से लो। अपने लिए मुसीबत पना करो। सहारा छोड़ो और दलो कि व-सहाय भी तुम रह सकत हो। क्या बुद्धि को दरिद्र रखते हो ? बन्द होकर बुद्धि पीली होती है। सहारा पाकर वह ऊपन लगती है। क्यों उस सहार की भाग्नी बनाते हो ? रीढ़ अपनी क्या ताउन हो क्या उसे भजाते हो ? मुसीबत बघाना उस मुसीबत को अपने गिर हावी हान दना है। वस मुसीबत जीतती और तुम हारते हो। इसलिए धरलूपन के नीचे कभी न आया। धरलू आराम को जहर की तरह मजो। आराम में डक है। आस्मान जिमकी छत है और धरती जिसका बानी है और जिसमें कभी कुछ नहीं खो सकता है अगर ऐसे ईश्वर के घर में रहना तुम्हें नहीं आता है रहना दूसरों का जाता है और तुम्हें उससे एक छिन्पुट पर अपना धन्य चाहिए तो चलो कोई घर अपना बना बठो। वस कार्ट न-बोर्ड पर ता तुम्हें जम ग मित्त है ही। धम का घर जानि का घर, देग का घर। पर य द ग्यो हर घर सराफ घर है। वहा के आराम ग गिर कि मग। नित प्राथना में रहो कि उस घर में फिरकर तुम न रह जाओ। दुग्नी हैं वह जा छत को बीच में नकर आस्मान में अपने को कागता और दीवारों का आग दिगाओं में बीच अपने को मून्ता है। मुक्ति से कगता है वह जो घर में बगता है। तेरिन उगम टुली है वह जा घर को घर कर उगम सामान का घरता है। याद रहे कि वह अपने स्वयं का गतरा बगता है। नहीं और कुछ कर सकते हो तो सामान को निवाल पेंवो। सामान जो जितना कीमती है उतना मना है उगा ही वह जहर है। उमारी कीमत तुम्हारे मन में गहा बाग है। बाग जग तन है सब ताफ मन का धन कम हो सचना है ? निवाल दा न काट को। पॉ दो पत्र ता ने हाता। धम कीमती नहा हाता। उगकी कीमत दग है। उगम जिसको कीमती नमभा है उग गाग माग को अपना दुस्मन गमभो। घर को उगम पाव रगो। बुद्धि में सान का कीन टागकर क्या तुम छद हा मग बगाने हो ? या कि तुम गममन हो कि उग बुद्धि मनुद बनती है ? कामती मागी हूँ कीमें उगम गाद-गागर तुम बुद्धि का छपनी ही बना सकते हा जिनमें कोई गग न हो। जान में नरकर बुद्धि का भारा बनाना अपनेका निवानिया बनाना है। बुद्धि मुन हाकर पूग है। बुद्धि की मूजन राग है। गड़ पत्रकर बुद्धि को पुपुन न बनाया। उम का निरग्नी बनता है। क्यों बुद्धि के

पीछे पड़ हो ? ठीक पीटकर उसको दुस्त करने की सीख किसने दी ? उसका क्रूर गुम्हारा कसूर है। उस पर काबू मत बनाओ। उसे बन्दिनी मत बनाओ। पीट बाध-बाधकर और गहन लाद लादकर उस क्या बनाना चाहते हो ? वह अनुरक्त और अनुगत ऐसे नहीं बनती। ऐसे वह बेकार और बीमार बनती है। उसको नभी परिस्थिति दी खुला वायु दी। शब्दों का घरा मत उसके चारों ओर बसा। सब जो चाहते हो वह छुम्के मिनेगा। बटोरा सामान सब फटने जाओ। बटोरा हुमा जान परिग्रह है। वह जबड़ पैदा करता है। मान खजाना सब सुटा दी। अनिश्चन हाकर ही तुम विस्तार के लिये गुनोगे। बदखाना नहीं साधोगे ता खुला हवा तुम्हें नहीं नसीब होगी। कद म आराम है पर स्वतंत्रता बाहर है। उसे पाओ। और वह पाना है तो आराम को पास न फटकने दो। सहारों को दूर करो। मन के काटा का एक-एककर चीन डालो। उन सूटियों को उलाड़ फेंको जिनपर टिककर बुद्धि अपना उठना भजता जा रही है। आस्मान की तरह होओ जिसमें कुछ नहीं रुकता और सब भरा रहता है। रू धा जहा कुछ नहीं है स्थित जहा सब कुछ है जिसका गुण भवकाषा है और स्वरूप शून्य है और रग कोई नहीं है। यरोंदे अपने उजाड़ फको। क्या घमा तापत हो ? बाहर जाओ। धूप उजला है स्वागत फला है। आदर पडे क्या अपने इन फट फटाकर तोड़ रहे ? अपत्यास कि सुम नहीं जानत ह्य। इन समर और मन का साहस याम तुम घासलो स बाहर निकलो ता। देखोगे कि तुम खुद अपना सहारा हो। घर कुछ जो अपने को बन्द ररता है बन्द वही है। और कुछ दुनिया म बन्द नहीं है। भाभा बाहर और उठा उपर।

काग्रिस तव, अव, और आगे

हमारी भारतीय राष्ट्रीय काग्रिस मन् २१—४७ की अवस्था में आज मन् ५३ में कमजोर हो आई है इस बार में काग्रिस ही को मत हा। अब सत्ता उसके हाथ में है उसका महत्व बनने या न के लिए काग्रिस सङ्घ-परिषद् की सभाद्वारा मुस धाती है। पढ़ने सिर्फ मामने जन या और दूसरी तरफ के खतरे से। फिर भी देखने हैं कि अब काग्रिस निवृत्त है पढ़ने का प्रवृत्त थी। इसलिए आवश्यक है कि हम समझ कि अब उनका क्या था जिससे फिर से उभर कर आती बनाने के लिए हम उभर कर आती होगी इसका अनुमान हाथ आ सके।

गांधीजी का मानना था कि पवित्रता ही शक्ति है। शक्ति नैतिक है। शक्ति नैतिक है। और मानव क्षेत्र में काम देने के लिए दूसरी शक्ति यानी शक्ति नैतिक न केवल संसार है बल्कि शक्तिशाली है। मूल में देखा जाय तो वह शक्तिशाली है निवृत्तता है और यदि उनमें शक्ति का आभाव होता है तो इस कारण कि मनुष्य में नैतिक भावना मूर्च्छित होने से उसकी बुद्धि का उभर प्रसन्न सहायक मित्र गया है। बुनियाद में काग्रिस सहायक न हा तो शक्ति को दूसरी हो नहीं सक्ता है। नीति का प्यारित करना महयोग उनमें नाथ से शीघ्र न तो शक्ति की शक्ति कि नहीं मन्त्री सहज ही यह गिर गया।

गांधीजी का यह बात उभर समय उनकी माफ हम नहीं हो गयी। कोटि कोटि मानवा का यह भारत का मानों उभर समय हुआ के का था और हम अवसर था कि हम मानें कि काग्रिस जनगण्य का है। कभी अवसर हा न आया कि हम नानि को और शक्ति को अवसर करन का नहें। गांधीजी के पाठ्य प्रणाल्य मानकों का यह महत्त्व उभर था और हम मानन का यह कि काग्रिस का महत्त्व का जनगण्य का काग्रिस का वन है।

गांधीजी की थोड़ा काग्रिस थी न जन पार्स। काग्रिस राष्ट्रीय थी गांधी पार्सिक थ। मन् और काग्रिस गांधीजी के लिए जन थ काग्रिस न काग्रिस नीति के तौर पर ही उन्हें धरनाया था। फिर भी गांधीजी के रक्त उनका रग से

कांग्रेस बच नहीं सकी और गांधीजी का प्रभाव सत्ता के रूप में कांग्रेस को प्रभावित करने बनाम रहा।

बल क्या होता है? मालूम होता है कि वह व्यक्ति में नहीं होता है, व्यक्ति के संबंधों में रहता है। व्यक्ति अपने में क्या है इससे अधिक दूसरे के प्रति वह क्या है उसमें उसका बल रहता है। उसकी अपनी निजता दूसरे के प्रति बल उसके संबंधों के रूप में उसके व्यवहार में भवती है। उससे धनग उसमें कोई मूल्य नहीं है बल नहीं है। २१ ४७ के जमाने में कांग्रेस केवल एक मगदित सत्ता नहीं थी एक दल नहीं बल्कि समूचे देश के उठते हुए मानस की प्रतीक थी प्रतिनिधि थी। माना अपार जनता के मनोभावा का वह व्यक्त करती थी। तब वह अपनी सत्ता नहीं जितना जन आंदोलन थी। उसका सत्ता-पन का पता ही नहीं चलता था। विधि विधान का उल्लंघन गायब ही तब कभी होता था और उनकी धाराओं का याद बट्टन कम की जाता था। कांग्रेस और अ-कांग्रेस के बीच गहरी रेखा नहीं थी। माना दश के सभा लोग कांग्रेस में थे। इस तरह देश का बल कांग्रेस में आ गया था। सक्रिय सदस्यों की संख्या तब बढ़ा दी गई थी वह काम जोलम का था। गिने घुने लोग थे जो उस सभा में थे। लेकिन जैसे व गिन चुने अपने पीछे अनगिनत को लिये चलते थे। व केवल अपने में नहीं जनता के मनोभावा की धाती लिये चल रहे थे।

तब से हम जानते हैं कि शक्ति जनता में है। किन्तु भाषा को जानते हैं, क्या उस सार का भी जानते हैं? बला चुनाव अन्त में हमारे देश में हुआ इतना बला कि ऐसा दुनिया के इतिहास में नहीं हुआ होगा और बिना दुश्मना के हुआ। यह छोटी बात नहीं है। याना बोट के नियम कांग्रेस के लोग जनता के पास पहुँचे और जनता ने उन्हें बोट दिया। परिणाम कि कांग्रेस सत्ता पर है। पर बोट के साथ क्या जनता का गानक भा आई? पहल कभी बोट नहीं लिया गया फिर भी मानो जनता की पूरी शक्ति कांग्रेस के पास थी। अब बला लिया गया है और मिल गया है लेकिन क्या वह महाशक्ति भी आ सकी है? यदि नहीं तो साधने की बात है क्या नहीं?

जनता में जाने और जन-सम्पर्क बढ़ाने की बात सत्ता कही और याद की जाती है। ठीक है। पर क्या यह काफी है? क्या काफी हो सकती है? यदि नहीं तो क्यों?

कारण मुझे यह जान पड़ता है कि कांग्रेस अधिकाधिक सत्ता बनी जा रही है चेतना नहीं रहती जा रही है। अब वह अपने में ठोस है मघटना है, दल है। पहल उसकी जैसे अपनी असल निजता नहीं स्वयं न था। वह मप

कांग्रेस तब, अब, और आगे

हमारी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस मन् २१—'४७ की अवस्था से आज मन् ५३ म कमजोर हो गई है इस बारे म सायब जी का मत है। अब सत्ता उसका हाथ म है उमका मन्मथ बनने वाले के लिए आगे तरह-तरह की मभावनाएँ मरत आती हैं। पहन मिय सामने जन या और दूसरी तरह के सतरे थे। फिर भी देखते हैं कि अब कांग्रेस निबलत है पन्ने वह प्रबल थी। इसलिए आवश्यक है कि हम समझ कि बल उमका क्या था जिससे फिर मे उम बल वाली बना। व लिए हम उम नया िगा लेनी होगी इसका अनुमान हाथ आ सके।

गांधीजी का मानना था कि पवित्रता ही बल है। सशक्त नीति म है असल शक्ति नतिव है। और मानव शत्रु मे काम देने के लिए दूसरी शक्ति यानी सनै शिष्य शक्ति न केवल बकार है बल्कि हानिकर है। मून म देगा जाय तो वह शक्ति है निबलता है और यदि उमम शक्ति का आभाव होता है तो इस कारण कि मनुष्य म नतिव भावना मूर्छित हान से उमकी बुद्धि का उमे प्रच्छन्न महयोग मिल गया है। बुनियात म वह मन्मथ न हा ता शक्ति की दूसरी ही नहीं सतती है। नीति का व्यक्ति अपना महयोग उमन नाच से गीत य तो समत् की शक्ति थि नहा मवनी सहा ही वह गिर गेगी।

गांधीजी की यह बात उम समय उतनी माफ हम नहीं हो सकी। कीन्ति कीन्ति मानवा का यह भारत दल मानों उम समय दुखार न रहा था और हमें अवसर था कि हम मानें कि हमारा जन मनमथा का है। कभी अवसर हा न आया कि हम नाति को और गिनती को धनग करके दग करें। गांधीजी के पीछे अमम्य मानवा का यह मन्मथ उदत था और हम माने था मये कि पांडव का सन्मथा की जनगणना कांडव का बल है।

गांधीजी की शक्ता कांग्रेस का न बल पाई। पांडव राष्ट्रीय की गांधी शक्ति म। मन्मथ और अहिंसा गांधीजी का तिर धम ध पांडव ने सामाजिक नीति के शीर पर ही उन्हें अरनाया था। फिर भी गांधीजी का रहा उाक रग से

कांग्रेस बच नहीं सकी और गांधीजी का प्रभाव सन्ध्या के रूप में कांग्रेस को प्रभावित करने वाला रहा।

बच क्या होता है? मालूम होता है कि वह व्यक्ति में नहीं होता है, व्यक्ति के व्यवहार में रहता है। व्यक्ति अपना भव क्या है इससे अधिक दूसरे के प्रति वह क्या है इसमें उसका बच रहता है। उसकी अपनी निजता दूसरों के प्रति बने उसके सम्बन्धों के रूप में उसके व्यवहार में झनकती है। उससे भग्न उसमें कोई मूल्य नहीं है, बल नहीं है। १९४७ के जमाने में कांग्रेस कबल एक सग्नित सन्ध्या नहीं थी, एक सन्ध्या नहीं बरन् समूच देश के उठाने हुए मानस की प्रतीक भी प्रतिनिधित्व थी। मानस अन्तर्गत जनता के मनोभावों का वह व्यक्त करती थी। तब वह इतनी सन्ध्या नहीं थी जितना जन आन्दोलन थी। उसका सन्ध्या पन का पता ही नहीं चलता था। विधि विधान का उल्लेख गायन ही तब नहीं होता था और उनका धाराओं की याद बहुत कम को जानी थी। कांग्रेस धार अ-कांग्रेस के बीच गहरी रेखा नहीं थी। मानो देश के सभी लोग कांग्रेस में। इस तरह देश का बल कांग्रेस में आ गया था। सक्रिय सन्ध्या की भाँति तब ज्यादा नहीं था क्योंकि वह काम आसानी से था। गिने चुने लोग थे जो उस सभासते थे। सक्रिय अर्थ में गिने चुने अर्थ में पीछे अन्तर्गत को लिये चलते थे। वे बचल अपने में तब जनता के मनोभावों का धार लिये बल रहे थे।

तब मैं हम जानते हैं कि सक्रिय जनता में है। किन्तु भाषा को जानते हैं, क्या उस धार का भी जानते हैं? क्या चुनाव अर्थात् हमारे देश में हुआ इतना बड़ा कि ऐसा दुनिया के इतिहास में न हुआ होगा और बिना दुःखटना के हुआ। यह छोटी बात नहीं है। यानि बोट के लिये कांग्रेस के लोग जनता के पास पहुँचें और जनता ने उन्हें बोट दिया। परिणाम कि कांग्रेस सत्ता पर है। पर बोट के साथ क्या जनता की शक्ति भी आई? पहले नहीं बोट नहीं लिया गया फिर भी मानो जनता की पूरी शक्ति कांग्रेस के पास थी। भव बोट दिया गया है और मिस गया है लेकिन क्या वह महाशक्ति भी आ सकी है? यदि नहीं तो सोचने की बात है क्या नहीं?

जनता में जाने और जन-सम्पर्क बढ़ाने की बात सत्ता नहीं और धार की जाती है। ठीक है। पर क्या यह काफी है? क्या काफी हो सकता है? यदि नहीं तो क्या?

कारण मुझे यह जान पड़ता है कि कांग्रेस अधिकाधिक सन्ध्या बनो जा रही है, सोचना नहीं रहती जा रही है। भव वह अपने में ठोस है सघटना है, दल है। पहले उसकी जैसे अपनी अलग निजता नहीं स्वयं नहीं था। यह भव

और सत्ता न थी। वह समाई थी और समाती थी। तब मानो हरेक उसमें था और वह सबकों का भाईपारा थी। कांग्रेस में जो थे उनकी अपनी पृथक् हस्ती न थी मानों ये केवल इसलिए थे कि जो कांग्रेस में नहीं हैं उनकी सेवा में आ सकें। अब हालत कुछ दूसरी है। मानों अब जो कांग्रेस में हैं इसलिए कि दूरमें दूर रहें। मानो कांग्रेस का काम अब कांग्रेस में अपने को बचाय रखना है। उनमें लगना और उन्हें परास्त करना है। सेवा करना नहीं मंजूर करना है।

मुझ समझ है कि जन संपर्क जो नया बंधनिये प्रभाव के नियंत्रण किया जाता है उनके सुख-दुख में सम रम होने के लिये नहीं। वह इष्ट परिणाम ला सकता है? अपने स्वयं और निजस्व के विस्तार के लिये जो कोशिशें होगी वह यथावश्यक नहीं। उनसे प्रह्वकार बढ सकता है पर असली वन उनमें करने ही वाला है।

कांग्रेस गांधीजी के साथ हाकर दन में न मिश्रण पाई। और यदि वह दल हुई भी तो गांधीजी उसमें ऊपर मण्डल निम्न रहें। वह स्वयं के न बने सेवा के ही बने रहें। अपार निरीह जनता के मुख दुःख में धुन मिल रहने की उन्नी कोशिश रही। माना वह नया न था जनता के। परिणाम यह कि नवस्व अभी उन्हें अपना नहीं पठा बचाना नहीं पडा माना यह उनके पास आता और रहता चला गया। परिणाम की भांति वह अपने में उस दूर ही मानने रहें पर वह अभी उनमें दूर न हो सका।

यस पर मृष्टि बनती है। जब कांग्रेस में दण चला तब गांधीजी की उपस्थिति के योग में कांग्रेस के बीच दण भाव प्रतिष्ठित था। अब वह नहीं है और सब कुछ है। दन मगहन है विधान है अनुशासन है प्रान्ता में और केन्द्र में सत्ता है नगरपालिकाओं में और जिन्ना बोर्डों में बन्धन है। उमक वन में देश का जन और समूचा वन उमका मण्ठी में है। पतिग है पतिग है। हममें की सारी मण्ठी है नगोडा-बगड रूपका है। वह मृष्टी-नगी कांग्रेस में नहीं जो अभी दृष्टा करती थी। पर अब भी जा नहीं है। यथा तो मानो कुछ भी नहीं है सब उन्नत गया है। कांग्रेस में दण तो क्या चलना माना मृष्ट कांग्रेस में ही नहीं चल रहा है। हाथ में ही हुए कांग्रेस के अपने बनाव के बार में तेजी भरी गयी और हकी वानें मुनी जा रहा है कि क्या कहा जाय। क्या दृष्ट्य के पीछे यात्रों को दायम में मटना और मरना ही था? या कि दृष्ट्य के अभाव में दृष्ट्यत्व की फिर प्रतिष्ठा हो सकती थी?

दृष्ट्य की क्या क्या है? यह कि उनके पास सेवा भी थी और सहायता की आशा में दुर्घोषन और अन्न दोनों ही उनके पास पहुंचे थे। दुर्घोषन में सेवा

पाई धजन के लिए प्रकेन कल्प रह । अजुन क पक्ष क पाठव जीते कौरव हारे । जीत नीति और माय की हुई जिस पर कल्प का ध्यान था । सेना और सपना क बल की नहीं हुई जिन पर कौरवा न विवास बाधा था ।

दल के रूप में ताकत बढ़ाकर सग्या वाकर अनुशासन और कोशल बढ़ाकर कांग्रेस मजबूत और मशकत हो सकगी इसमें बहुत सन्देश है । भारत की शक्ति धाम उस जगह नहा है । अंगों का भा है विन्वाम उम सेना और संस्था के बग पर और व राष्ट्र जिनका दुनिया पर प्रभुत्व है और आतंक है बदा संना और देश अंग गस्त से लस हैं । वह तयारी उनकी बढ़ती ही जा रही है । उनक पाम दल है ऐसे सुगठित जसे ठोम दीवार । लेकिन उन्ही से दुनिया सकट म है । जमे सम्पना ही सकट म हा और साथ मानव-जाति और उसका विकास भी । गांधीजी को आशा थी कि सकट म स माग निवन्ना और भारत यह भाग लिखायगा । मारों अब तक का भारत का इतिहास जमा बना है यह इसीलिए कि सभृति और सम्पत्ता के एक विभूत माड पर यह अरानी युग-युग की साधना में स तीसरा भाग दिना पाये ।

६७ के बाद अभी सिफ ५२ हा पूरा हुआ है । याने अमा हमारे बुधली नही हा गई है चिह्न जो गांधी के चरण समय की धूल पर छोड गये अभी वे गीले है और ताजा है । और असभव नहा है कि हम उस राह को फिर म लें और उस पर चल निकसें । वह तो राह है कि जिसका अंत नही होता । गांधी बनकर उसे बता गये पर हम आगे चलना है । क्यों कि उनका जीवन प्रयोग रहा और प्रयोग का परिणाम वह हम देते गये अत उस परिणाम का हम विस्तृत परिस्थितियों में और बड पैमान पर घटा खाने का आस्था ररा सकने है और उधर चल सकन है ।

वायिम दौराहे पर है । उसके आग चुनाव साफ है । एक राह है जिधर चलकर सब टकूमत के हाथ हो रहता है । सत्ता कर्त हाती है और अमुक प्रदंग या धन-जन सब उसका स्वत्व होता है । उपर के निष्पक्ष नीच की चीजें चलती हैं और इस खूबी के साथ कि जमे मरान चलती हो । वह सब कुछ जो इस यत्रवत् चलन में बाधन होता है वगानिक विममता क साथ नष्ट और नाबूद कर लिया जाता है । यह पूरा दगन ही है । इसको स्टन्डिस सपा दी जा सकती है । यह सबसे प्राधुनिक इरम है और मानना होगा कि बहद वगानिक है । सगता है, दुनिया ठीक इस समय इसी इरम के अधीन चल रही है । उससे ईश्वर बनाय-यक हो जाता है प्रायना केवल दम बनकर रह जाती है मम वहां घोसा होता है और व्यवित नगण्य बनता है । सगठन और शासन

वह सबसे ऊँची कला होती है और श्रम की सेवा निम्न । कांग्रेस के सामने यह राह खुली है और चाहे तो वह उस पर सरपट जाने का निश्चय कर सकती है । ऐसी अवस्था में प्लानिंग अच्छा बन सकता और बन सकता है । तब पदाय के हिसाब में मानव माबना किसी ओर से बाधक नहीं हो पाती बल्कि स्वयं उस माबना को और मन को यात्रिक और बज्ञानिक प्रचार से नियत और नियमित रखा जाता है । निम्न नियता-वग के अधीन रहना है और नियम के बाहर रोप को असत ठहराने अपनी व्यवस्था और धेष्ण से सधमुन ही मीत के घाट उतारकर अस्तित्व-हीन कर दिया जाता है ।

इन रास्ते का समूह राजनीतिक इतिहास का अनुमोहन है । उसको हम धानत है वह प्रयुक्त है परिवर्तित है और एकात्म स्पष्ट है । उसका नीति दो टूट है कि जनता के हम हितधी है उसने नेता है जनता के दुःखना को हम होन नहा देंगे हा गय है ता रहते नग देंगे । एक-एक को धीन जान कर अनहित की रक्षा में हम खरम कर देंगे । और जो हम हितधिया का पात में नहीं है वम घड़ी है जो जन अनु है । हमारा शक्ति उनका नीता नहीं रान दगा ।

यह नया मंडह्व है । शासक पुराना मंडह्व भी गया है होता था । पुरानों के पास ताकत शासक शक्ति का हानी थी और शक्ति का कम होता था ।

अध ताकत विज्ञान की है और अपरिमित है । यह इमन जा इम या उस रूप में स्टाटिम्स हा है गुला दृष्टा गामन विद्या है । उस पर जनवर बंधक फतह की तरफ बग जा सकता है । उस नारे पर यग हा ता उग भी दम बल का साथ जुम का लडा जा सकता है ।

जनता का श्रम तरह्व का मंत्रान संनानी बरना विचारक और गुधामन हितधी नेता कम नहीं हुए हैं । जनता की छाती उह भवती आई है । उनकी हितधिया का बागनाम उगक भात पर घडिन है । हमारी बान्त मी तरवकी उगी दम पर हुई है । कांग्रेस उम रास्त का समझ-बूझ कर ल सकता है और उमम कोई दाप न हागा ।

सबिन सब गांधी का नाम का उम एक ही दार छात्र बना होगा । समें कोई हत्र नहीं है । जरूरी समझा था ता हमने ईगा को गुपी दी था जिगने जरूरी समझा उमने गांधी का गोनी स दूर कर दिया । चाणिर मध का और हव का टका ईसा और गांधी का पाप न था । कांग्रेस भी गांधी में स्वतंत्र होकर निश्चय कर सकती है । धमन में स्वतंत्र हा निगम करना चाहिए । इतमता का पाप भी मान है । मन में धार रग सजन है पर बुद्धि घपनी से बनना होगा ।

जो खतरनाक है वह दोना नावों पर सवारी करने की कोशिश है। सही है कि चीज कोई ऐसी नहीं है जिसके दो किनारे न हों। धीरे होता है तो छोर भी होता है और दोनों को मिलाये रखना पड़ता है। इसलिए जीवन की कला समन्वय की कला है इसको और उसको मिलाये रखने की कला है। हर क्षण वह समझौता है। सही लंबिन समझौता ईमान में नहीं हो सकेगा। उसको तो एकाग्र ही रहना होगा। इसी से सत्य में आप्रह्व को स्थान है। समझौता और समन्वय की बात कहकर ईमान को ही दो मही बनाय रखना स्वतः स गाली नहा है। ऐसे जिल दिमाग की लडाईं पदा हा जायगा और कुछ नहीं होगा। ऐसा कोशिश में स नटवाजी की कला उन्मय में भाती है। डिप्लामट ऐसा ही नट है। साधक वह नहीं होता और कोई स्थायी दान नहीं दे जाता यद्यपि कौशल का वह नमूना होता है।

इस दारुद के मुहाने पर कांग्रेस नटवाजी के फर में न पड़। समन्वय की साधना वह नहीं है। अपने को अच्छी तरह टटोव कर उसे अपनी ईमान पा लना और स्थिर कर लेना चाहिए। गुड हिना और आद्विग रुही नहीं है पर रास्ते जबर दा है और ईमान और तरीक भी उनक मुताबिक दो ही हैं। ऊपर का राजनीति का और हिंसा का है। इसमें राज मुक्त और साध्य धाय गीण और सावन हाना है।

पर दूसरा भी है। वह रास्ता जरा बड़ा है। राजनीतिक इतिहास के पत्र पर वह कही चना हुआ नहीं बीखता है। फिर भी यह नहीं कि वह आजमाया नहीं गया है बल्कि इतिहास की एव निगाह यह भी है जो सफाता का सत्ता उमी राह पर दखती है। उस मारने की नहीं मरने की तपारी की राह कहा जा सकता है। इसमें आदमियों को जुटाया जाता है बनाया और बन्ना जाता है तपस्या से तितिक्षा में सेवा से। वहाँ आदमी अपने निण स्थिति नीच स्वीकार करता है सेवक बनता है दूसरे को ऊचाई देता है और उस अपना सेव्य गिनता है। भांगि इस अंतर के साथ भाग भी अन्तर पड़ता जाता है। यानी उसमें राज्य ऊपर कही कद्रित नहीं होता, नीच ग्राम पचायत से नियुक्त होता है। समाज का उस स्थिति में कद्र व्यक्ति होता है जिसके हृदय में स्नेह और हाथों में श्रम है न कि कोई स्टेट जो फाइल और फीते से अपने को घिरा रखती है। तदनु रूप उत्पादन की विधि होती है और वितरण का विधान और जीवन की दूसरी व्यवस्थाएँ भी उसी नीति से स्वरूप पानी और नियंत्रित होती हैं। उस सब स्थीर में जाने की जरूरत नहीं है। कारण, उस नीति के प्रयोग और उससे निष्पन्न धयशास्त्र समाज शास्त्र और राज शास्त्र का काम निर्माण

नहीं हुआ है। प्रचुर साहित्य उस दिग्गज का मिल सकता है।

तो वह राह भी है। अच्छा है कि उस श्रेयकर भी निमग्न निर्णय के साथ उस सत्ता के लिए छोटा दिग्गज जाय। लेकिन उस राह का हम मोभ है और रह रहकर मन यह कह उठता है कि उसमें भी कुछ सचार्ई है तो अच्छा है कि हम ठिठकें और अपने को मोचने का समय दें। पर लें उस राह को तो मदम फिर डीने न रहे मुह न मोहें और उस नीति में से जो फलित हो उसका स्वीकार करें और पासन करें।

बम्बूनिम में पास एक पूरा विधान है। अथ स इति तक वह निष्पन्न है और बम्बूनिस्त उस वारे में निम्न में है। इसलिए वह यष्टुन कुछ कर जाता है और बम्बू पर गुणी से मर जाता है। इस ताकत ने उसे दुनिया को रोगनी दी है। लेकिन जम इसी ताकत ने दूसरी मुकाबल की ताकत को खड़ा कर दिया है। वह अपनी नशा बन्कि एन्-बम्बूनिम की ताकत है। इसलिए दोनों एक दूसरे को काट नहीं पाती माना अपनी साथ बानिगीं से व एन-दूसरे को और धार ही देती है।

ऐसी हालत में क्या कोई चीज है जो एग 'पोलेग'जेशन (परम द्रव) से बाहर हो? कोई इन्फ्लोमभी कोई क्लोरान् इग द्रव के बीच मधि नहीं ला सकती। यूनी का चित्र गमन है। क्या सब कोणा बहा हार ही नहीं रहा है? क्या एक भी अक्षर हुआ जब यह उपद्रव बिना रह सका कि शोषण है बीच में गहरी फाँव है और पुन रितने ही बनाया अथवा तो वह बनने वाल नहीं हैं बने से लगे तो निम्न पात नहीं है।

ऐसी हालत में क्या कोई जीवन का विधान है नहीं होगा नहीं जा ड्रव से न चल और इसलिए नत पना न करे। तो एम्पन न बने इसलिए एम्पन न बनाय। जो मारने की कोणिग में न मरे त्रिसस कि मरना बाध्य रह। अन्वि बपान की कोणिग में मरे त्रिससे कि फिर सब एन-दूसरे को बचा में लग मरें। दुनिया इग बहर निवातिया हो गई है रेगा मरामा तो नहीं होता। पर भारत और भारत की बाध्यम इग निगा में अपना निवाता निगा उठनी तो फिर भला घाटा दूसरे वहाँ और त्रिससे रग्नी जा सकती है?

धुनाय का अक्षर बाध्यम के हाथ है और हर बाध्यमोजन के साथ है। देतना है कि उत्तर क्या धाता है?

संस्कृति का प्रश्न

प्रश्न— सांस्कृतिक षड्द का आजीवन बोलवाना है। स्वतंत्र सभ्यता के अनिश्चित राय स्तर पर भी बड़-बड़े इन्स्टीट्यूशन टाठ किये जा रहे हैं। युद्ध का खतरा था ही निकट दीखता है उक्त सांस्कृतिकता की निरर्थकता स्पष्ट हो जाती है। आखिर यह संस्कृति क्या है? क्या उसमें इतनी शक्ति नहीं होती चाहिए कि अमानवीय तत्वों का नाश कर दे?

उत्तर— संस्कृति यह है जहाँ आत्मी का प्यार काम करता है अहंकार नहीं। अहं से कोई छत्रा हुआ नहीं है। इसीलिए प्रेम अनिश्चय होता है। अहं बोध एक कष्ट है। प्रेम में जो सुख मालूम होता है सो अभी वास्तविक उसमें अहं भाव हमसे छूटता और पर के प्रति विमर्जन का भाव जागता है।

आपका प्रश्न यह बनता है कि अहंकारों में जब विग्रह छिड़ना है तो प्रेम यहाँ क्यों अकारण हो जाता है? संस्कृति क्यों असमय और अयोग्य दीखती है उस समय जब युद्ध को चुनौती सामने होती है?

इस प्रश्न में एक भ्रान्ति है। आपकी संस्कृति मेरे अहंकार का दामन क्यों नहीं करती प्रश्न का मूल यह रूप है। आप देखें कि वह माफ ही बढगा और भौंधा है। अहंकार का उत्तजन जब हाँ तब प्रेम तो भाग ही घका होता है। यह कहना कि प्रेम उस समय क्यों अपनी शक्ति नहीं निभाता माना यह पृथक्ता है कि अहंकार जागता हाँ क्यों है? इस तरह प्रश्न उलट-पलट जाता है। अर्थात् संस्कृति पर नायित्व राजनीति का नहीं है।

लेकिन आब आया आप मानव जाति को एक एकदुःख रूप में देखकर पृथक्ता आने हैं कि संस्कृति की शक्तियाँ क्यों निराला भावित होती हैं? और उससे विरोधी अहंकार की बहो या पशुता की शक्तियाँ क्यों जबरदस्त निकलती हैं? कुल मिलाकर अवश्य ऐसा होता दीखता है। लेकिन तब यही कहना होगा कि मनुष्य संस्कृति में सोपान में अभी उतना ऊँचा नहीं पहुँच पाया है।

मुझे यह भी प्रतीत होता है कि यदा-सदा व्यक्तियों को ऐसा ही लगेगा, सगते रहना चाहिए कि मनुष्य काफी संस्कारी नहीं अभी बन पाया है। यह

असतोप दयी गुण है और जगत् के सब प्राणियों को छोड़ कर एक मनुष्य में ही सम्भव है। यह हमारी संस्कारिता का ही प्रमाण है कि हम अनुभव करते हैं हम काफी सुमस्तुत नहीं हैं। वाम्बविक और ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो पिछले युग से मनुष्य बहुत भाग था गया है। सृष्टि न मान म भी मानव जाति ने उत्पन्न किया है। इन सम्बन्ध में अधिक प्रमाण देने का आवश्यकता नहीं है कि पाषाण-युग धातु-युग आदि को पार करता हुआ मनुष्य अगुण्युग में आया है तो यह उन्नति है। यह मान रखना एकदम हटवाना होगा कि इस मान में मनुष्य ने विकास नहीं किया है। हमारी सम्भाव्य सब इनका प्रमाण है कि मन मस्तिष्क दोनों आर में मनुष्य ने अपना अंगम विस्तार साधा है। इस प्रगति पर यदि आज मनुष्य का सताप नहीं है तो यह स्वयं उसका उन्नत मानन का परिचायक है।

अहंकार पर अहंकार की विजय न होता जाता तो आज हमारे पास यह अंतर्राष्ट्रीय तन्त्र उपान्वित नहीं हो सकता था जो है और काम कर रहा है। यह सब सम्भव नहीं रह गया है यदि वास्तविक और दृष्टि अपने में बद और दूसरे में अन्तर्भावित रहे। गति-धृष्ट का पृथी तनिक असंतुलन पर ही स यहा तक सार विषय का विचलित कर देता है। दूर निजन प्रमाण में सासन की समस्या उठता नहीं कि दुनिया की बन जाती है। यह यथाशक्ती आप दृष्ट रहे और मैं दत्त रहा हूँ। अहंकार का आत्मा का अपने में सब कुछ मान रखने में सहायता देता या मान विज्ञा का भाग्यिक नहीं सकता है। यह उन सहभाष्य की विजय नहीं तो क्या है। इसके मूल में प्रम मूलक सृष्टि ही हो सकता है।

अहंकार से छ वारा हुआ गया है या नहीं। यह अहंकारा पूरी तरह कभी हानि वाला भा नहीं है। पुण्याय मन्त्र अर्थात् रहगा और कभी न होगा कि आदमा यह और उद्यक पास करने जानने का कुछ न रहे। उमर अन्तर का मूल विग्रह यह अहंकार उद्यक अन्त तर साय दन आता है। मुक्ति और मृत्यु से पहले एक क्षण के लिए यह उमर छाड़ने वाला नहीं है। यह गया तो इत ही जाता गया और फिर प्रम तन्त्र के लिए अवकाश नहीं रह गया। प्रम सभी तर सम्भव और बायवारी है जय सब स्व के लिए कुछ पर भी हो। सम्बन्ध का सब काम जहाँ तक है प्रम की भी वहा तर व्याप्ति है। मैं समाप्त हो गया तो यह और 'मू भी गतम हो गया तब की तो मान नहीं का जा सकता। यह अवस्था अनिवचनाय है।

अन्तिम अहंकार तो नहीं होता नहीं ही होन वाला है। उसका अन्तर अवकाश हुआ करता है। यह अहंकार विग्रह बन गया है। गच्छ्यातो मे वहीं आद आर आकर अन्तिम अन्तरगतन कामनदय मीने नटी आदि उसके

अनेक रूप हैं ! विश्व का एक झंकार तो नहीं बना है और राजनीतिक घरासस पर उसकी कोणिका चल रही है। यूनो अन्तर्राष्ट्रीय संस्था है झंकारो का सम्मेलन है। एकता का समीप सगठन नहीं है लकिन धीरे-धीरे वह भी संभव हो सकेगा। झंकार का यह फलाव स्वयं स संस्कारी नहीं है विस्तार की पीरधि पर सदा बहा सुरक्षा की चिन्ता और मुद्द का ठनाव है लेकिन जिस कारण यह विस्तार अनिवाम होता हुआ बडता ही जा रहा है उमम जाने अनजाने मानव-संस्कृति क तत्व पडे हुए हैं। अपन का आत्मनुष् मानन के निदान्त से (मुनरो डोकरीन स) अमेरिका को बाहर आया पला तो यह किमी मकीण स्वाध के कारण नहीं बकि इन पहवान के कारण कि कोई स्वाध मकीण रह बर स्वम अपने को सिद्ध नगी कर सकता है। इस तरण आमी चां अपन स यह अनुभव कर रहा हो कि उसका झंकार दिन दिन विस्तत हो रहा है और यह मद भी उस पर बडता जाता हो सायद सम्यता का म यही है लकिन इसम परस्परता के विकाम का ऐतिहासिक सच काम कर रहा है। परस्परता का भाव घनिष्ठ हा होता जा रहा है। आज का युद्ध तो जागतिक (ग्लोबल) हुए बिना रह नहीं सकता स्वयं क्या दरसाता है ? यही नहीं कि ध्य एम आपस में उस तरह बड और बिबरे नहीं हैं अगर उटे हैं तो कुल दो छत्रनिधा मे बडे हैं। इस अकेल गपन क अलाया हम आपस स वेहद भिने हुए हैं। देशो के अरवा अरवा क बजट आवागमन यातायात के सबदमान माधन भी मोगोगवाद और बहनू यत्रबाद-अगर स सवृत हैं तो इस बात के हैं कि हम एक दूसरे क पास पहुच रहे हैं आपस स काम ने रहे और काम आ रहे हैं।

इस विस्तार के प्राथमिक रूप को अवय राजनीतिक कहना चाहिए। नहां पर आपको झंकार के दशन होंगे। बहा इपलिए सस्य है सन्नदता है कूट नीति है। लकिन परिधि पर की इस विवगता और शुक्ति को दख बर कूट क समीप जो सिदान्त परिताय हो रहा है उमक प्रति अमावधान हाना अधा बनना है। केद्र स मनुष्य का नहीं ईश्वर का हेतु है। प्रेम का और संस्कृति का नियम बरा बतन करता है। यहां ध्यया है, नम है। यहां दावा और घोष यदि उतना नहीं है तो उस बारे स भून करना अनजान बनना होगा। आज का लोक-नेता लोक विधाता नहा है साक्षात्त है। उमको वीट की जबरत हाती है उमको जनता का प्यार और बिश्वास चाहिए। संभव हो सकता है कि वीट नस अतु राई मे मिल जाय लकिन जस भी हो यह अनिवाय है कि नावमानम उसको स्वीकार करा ऊपर लाय। निश्चित मानिय कि सात्मानस स उतर सवने बाने सत्व वे हैं जो सवा और अम के सग-सग रहत हैं। बप और दम लोक हृदय स

असतोप दवी गुण है और जगत् के सब प्राणियों को छोड़ कर एक मनुष्य में ही समव है। यह हमारी मस्कारिता का ही प्रमाण है कि हम अनुभव करते हैं हम काफी सुमस्हत नहीं हैं। वास्तविक और ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो पिछले युग से मनुष्य बहुत भाग आ गया है। सृष्टि के मान में भी मानव जाति ने उत्पन्न किया है। इस सम्बन्ध में अधिक प्रमाण देने का आवश्यकता नहीं है कि पापारण युग धातु युग धाति को पार करता हुआ मनुष्य अगुण युग में आया है तो यह उन्नति है। यह मान रखना एकदम हटवाना होगा कि इस काल में मनुष्य ने विद्या से नहीं किया है। हमारी सम्भावना से प्रमाण है कि मन मस्तिष्क दोनों और म मनुष्य ने अपना अगम विस्तार साधा है। इस प्रगति पर यदि आज मनुष्य को सताप नहीं है तो यह स्वयं उमर उन्नत मानस का परिचायक है।

अहंकार पर सत्कार की विजय न हाता धना जाती तो आज हमारे पास यह अर्गण्टाय नम उपस्थित नहीं हो सकता था जो है और काम कर रहा है। यह सब संभव नहीं रह गया है बाद में अफिर और दस अरन में बन्द और दूसरे से अप्रभावित रहे। अग्नि-सूत्र का कदा तनिक असतुलन या स यहा तब गार विषय का विचिन्तित कर देता है। दूर निजल प्रदण में वास्तव की समस्या उठता नहीं कि दुनिया का बन जाता है। यह यथाधता आप देन रहे हैं और मैं दल रहा हू। अहंकार का धात्मा या अरन में सब कुछ मान रखने में सहायता देता या आज किसी का भी त्वक नहीं सकता है। यह उस महभाव की विजय नहीं तो क्या है। इतक मून में प्रम मून सन्मृति ही हा सकता है।

अहंकार से छ बाधा हा गया है सा नहीं। वह छत्कारा पूरी तरह बनी हान याता भी नहीं है। पुष्पाय मदा अपणित रहगा और बभो न हागा कि आदमा ग्ट और उताव पास करन जानने का कुछ न रहे। उमर अन्तर का मून विग्रह यह अहमाय उगवा धत तब साय देन वाला है। मुनि और मृत्यु से पटन एक क्षण के लिए यह उग छाइन बाता नहीं है। वह गया तो इत हा खला गया और फिर प्रम तक के लिए अवकाश नहीं रह गया। प्रम तभी तक शभव और वापराता है जब तक स्व के लिए कुछ पर भी हो। सम्बन्ध का अवकाश जहा तक है प्रम की नी यही सा व्याप्ति है। मैं समाप्त हा गया तो 'वह और नू भा मतम हा गया सब की सा बात नहीं का जा सकते। वह अवस्था अनिवपनाय है।

इसलिए अहं मतम सा नहीं होता नहीं ही हान वाला है। उमका अन्तरे अवकाश हुआ करता है। वह यह आज विराट बन गया है। राष्ट्रव्यापी से वहीं काग धातु अवकाश पम्पुनित इतरनेगनन कामनयन्स सीता नगे धाति उसरे

अनेक रूप हैं ! विद्वत् का एक अहंकार तो नहीं बना है और राजनीतिक घरा-
 तन पर उसकी कौशिक चतन रही है। यूना अन्तर्राष्ट्रीय सत्ता है, अहंकारों का
 सम्मेलन है। एकता का सघीय मगठन नहीं है नकिन और-धारे वह भी सम्भव
 हो सकता। अहंकार का यह फलाव स्वयं म सत्कारी नहीं है, विस्तार की पीरधि
 पर सत्ता वहा सुरक्षा की चिन्ता और मुद्र का ठनाव है। लेकिन जिस कारण
 यह विस्तार अनिवाय होता हुआ यत्ना हो जा रहा है। उमम जान-अनजाने
 मानव-संस्कृति के तत्व पडे हुए हैं। अपने की आ-मनुष्य मानव के सिद्धान्त से
 (मुनरा मोक्तीन मे) अमेरिका को बाहर आता पडा तो यह किन्ती सकारण
 स्वायं क कारण नहीं कि इस पहचान के कारण कि की स्वयं मकींग रह
 कर स्वयं अपने को सिद्ध नहीं कर सकता है। इस तरह आत्मो चाहे अपने म
 यह अनुभव कर रहा है कि उसका अहंकार दिन दिन विस्तृत हो रहा है और
 यह मद भी उस पर चला जाता है। गायद सम्भता का म यही है। नकिन
 इसमें परस्परता क विकास का एतिहासिक तत्व काम कर रहा है। परम्परता
 का भाव पतिष्ठ हो जाता जा रहा है। आज का यद जो जागतिक (ग्लोबल)
 हुए बिना रह नहीं सकता स्वयं क्या करता है ? यदा नहीं कि अत हम आपस
 म उस तरह बट और बिल्वे नहीं हैं। अगर बट हैं तो कुल को छावनिया म बटे
 हैं। इस अकेले दोपत के अनावा हम आपस मे वेष्टा मिले हुए हैं। दसो के अरवा
 अरवा के अज्ज आवागमन यातायात क सबदमान माधन भी माओगवा और
 वहत् यत्रवा अगर य सवृत हैं तो इस बात के है कि हम एक दूसरे के पास
 पहुच रहे हैं। आपस म काम ल रहे और काम भा रहे हैं।

इस विस्तार क प्राथमिक रूप को अवश्य राजनीतिक बहना चाहिए। वहां
 पर आपको अहंकार क दान होंगे। वहां हमनिता काम है। मानदना है कू-
 नीति है। लेकिन परिधि पर वो इस विद्यता और मुक्ति का दस कर कांर के
 समाप जो सिद्धान्त चरिताय हो रहा है। उनके प्रति असावधान हाना अघा बनना
 है। केन्द्र म मनुष्य का नहीं ईश्वर का हनु है। प्रेम का और संस्कृति का नियम
 वहां बतन करता है। वहां ध्यया है। उम है। वहा दावा और घोष यति उतना
 नहीं है तो उम वारे म भुव करना अनजान बनना होगा। आज का लोक नेता
 लोक विधाता नहा है। लोकानित है। उसका वां की अरुत हानी है। उसको
 जनता का प्यार और विश्वास चाहिए। समय हो सकता है कि वो उसी अनु-
 राई से मिल जाय लेकिन जगे भी हो यह अनिवाय है कि सावमानम उमको
 स्वीकार द्वारा ऊपर नाये। निचित मानिय कि सावमानम म उतर रावने वाले
 सत्व के है जो सेवा और धर्म के सग मग रहत हैं। रूप और दम साव हृदय म

स्वान नहीं कर पाते। व जन नम्र हैं और मोन हैं इसमें हम सुविधा है कि कह दें कि व नहा हैं हैं तो नायकारी नहा है। लेकिन यह कर्तव्य तो तब जब दूर-दूर और अन्तर-दूर से बचेंगे। सच मानिय कि यदि धरती पर पाप है और रसातल नहीं जाती है तो इसी वजह से कि टिकी हुई वह पुण्य पर है। पुण्य भातर है पाप ऊपर है इस वास्तु ही भ्रम उत्पन्न होता है। लेकिन सम्यक दशन का महत्व ही यह है कि वह सुगम नहीं होता है इन चाम की भासा नहीं हो पाता है। यज्ञ से उमका साधारणकार हाता है अमपा दशन वन नहीं पाता। आपन जा कहा वह दीखन वाता सब हो सक्ता है इन दुग्ध रूप के नीच जी के गहरे म बसन बला ओ सब है उसको जो पहचानता है वही पहचानता है। रूप का हिनोर म आप मुग्ध और अमन्वृत हो सकत हैं लेकिन व ओ अन्तमन म बिदा जा रही है उसको पहचानेंगे तमा पहचान बाल कह जायेंगे। तब ही सक्ता है अमपा का आप मन पा लें उसका मघ पा लें और तब उसका अणु भा पा जायेंगे। दुनिया क्या उनको पीछे पागल बनी है जिन्होंने रूप का ही नहीं धाहा है।

मानना होगा कि संस्कृति म विचार आता है क्या कम है। क्या म से साक्षा और मन की निष्पत्ति है। राजनीतिक क पा इग साहस और कम का पूजा हुआ करती है। इस म से उमकी प्रबलता बनता है। इस प्रामाण्य से इन काग तला है और यदि मस्कारी व्यक्ति से यह अपणा है कि वह साक्षातिक भाव से भ्रवत हा ना उने विचार म अधिव क्या को अपन नीतर लवर वहा से साक्षिक कम का अमृष्ट करना होगा। कम यह है जो अजल मभय नहीं बनता ह्योचित भाव से कम भाग बड़ जाता है। भाव अपन म मनाकर रह सक्ता है और सहाय-ना-योग के बिना भी जी सक्ता है। भाव जब कम म व्यक्त होने बड़गा तो उसे कहवार म घाना होगा। तम उसम पारस्पर्य और अल उत्पन्न होगा।

जिना एकाकी होता है कम द्वारा मापिक सामाजिक बनता है। कम प्रवृत्ति है विचार निवृत्ति है। उग निवृत्ति म से प्रवर्तित और अजम म से कम निरवृत्त तो उमकी प्रबलता अमोय होगी। संस्कृति क प्रतिनिधि एसा तला कर सकेंगे तो कभी मभय नहीं बनेगा कि वह का परिधि पर साक्षात्की हुवार और मुझ की सतकार समान्त हो। वह मोर्चा जब जिस दम म अहिंसा अमपा प्रेम के प्रतिभों के हाथ आ गरेगा तमा जिनाई दे आयेगा कि साक्षररर म भी प्रेम अह म बग मूल्य है। प्रेम का अर्थ केवन व्यक्तित्व नहा है राष्ट्रीय अर मघ राष्ट्रीय तन पर भी उठता ही माधक और समय है। मात्र तो बोर्ड

देश वहाँ तक उठा हुआ नहीं है। स्वयं गांधी का भारत मोह में पड़ा है और संस्कृति को उपकरण के रूप में ही वह ले सकता है उससे भागे की श्रद्धा वह भी खा बठा है।

संस्कृति के दायं दोषत्व में अतः उस शब्द को जिस रूप में हम खलाते नचाते हैं उसका दोष है। मूल तत्व की त्रुटि नहीं है।

नवम्बर ६१

□ □ □

भारत के सदेशाधिकारी नेहरू

जवाहरलाल जी म बीन मनजान है। कुछ भी उहाने अपने पास नहीं रोका। समय को भी अपने म नहीं रोका। अपना सब कुछ वह देत ही चले गय है। इस प्रकार उनका सम्बन्ध सब धार फन हैं। पर उन अपना मानव सम्बन्ध के विस्तार म भी का सीमित रही है। सब उन्हें जानत है फिर भी सभी को विस्मय है कि क्या ये उन्हें जानत हैं। कारण धरना पर जितने हैं उससे अधिक वह हया म है। इस हार्फ चीज को पकड़ना आसान नहीं। मालूम हाता है कि वह जहा भा है वहा धौर जन हा नहीं है उस पर धौर धागे भा है। मानव सम्बन्ध म उन्हें पूरी तरह पकड़ा या समझा नहीं जा सकता। उनके पार जो आत्मा का साथ है जवाहरलाल एक धाग वहा म भी अपने को सागर धतम नहा पर पात है। इस तरह वचना को यह बहुत जल्दी नाराज धौर निराग कर दत है। लेकिन धगल धाग हा नाराजी दूर हो जाती है निरागा उड जाती है। यथाकि जवाहरलाल की मुम्बराहट उन्हें बतता दती है कि वह ध्यवित नहा बालव है। बानर म स्वाय गाठ नहा बन पाता सब कुछ उगम हरा धौर सहाराया रहता है। धाग उगरी गाफ धौर मन सदा धाग रहता है। बालव बगता नहा है उमम होता है। धगनी प्रिया धौर सूत्रियों क निय भी मानों पूरी तरह उसे जिम्मेदार टहगया नहीं जा सकता।

ध्यवित यों तो आत्मा है लेकिन गरीर इस जगल म होकर धीरे धीरे बहून गाया धर अपने पास नुना पता है जो धौरा म बाटकर उम धगनी निब्रना की गाठ म धलन साथ देता है। मर साथ उमका नियम धौर धरु रदा उसकी मितता होनी है। धरीर क पनाय सब उम चयना धौर उगरी भापा म जीना हाता है। इस तरह जीवन उमक निग समझा धाता है धौर वह जगत् का गुप्ती म माना धगनी धार म एक उममन धौर बगता है।

जवाहरलाल में का विनाग नहीं गगा तो नहा बह गबन। उनके रक्त में सम्भ्राति है। नगा म नीता मन है। धर उनका एक दर्पो धौर प्राणो ध्यवित्व प्राना करता है। धर उनको धाग छोट देता है। पर भीतर से

जवाहरलाल इस अपनी विशिष्टता पर प्रसन्न नहीं हैं। यह विशेषता है जो राग नीतिक रखकर भी उन्हें स्मरणीय बनाती है। अधिकांश राजनीतिक विस्तार म रहते हैं। इसलिये तत्काल में उनकी सीमा है और वहीं समाप्ति है। भावी में उनकी व्याप्ति नहीं होती। अमरता में वे नहीं उठते। मर कर वे ऐसे मिते हैं कि किसी कृतज्ञता में याद शेष नहीं छोड़ जाते। इतिहास उन पर धूल ही चढ़ाता पाता है। अतीत भीतर से उन्हें जगाने की चिंता भविष्य को नहीं होती। पर जवाहरलाल को अपनी निज की विशिष्टता अन्त से प्रिय नहीं यही अमरता के प्रति उनका दावा है। अन्त में यही उनकी समस्या भी है।

वह शक्ति के क्षेत्र में नगण्य नहीं है। वह क्षेत्र आवश्यक रूप में स्वार्थों का क्षेत्र है। शक्ति का मतलब ही है कि सामने तुलने को दूसरी शक्ति भी है। उस शक्ति में ही प्रति-द्रव्य है। विरोध और विग्रह के बिना शक्ति निष्फल ही अधिक है। विग्रह तमाम विरोधी स्वार्थों में टूटता है। ऐसा होकर भी जवाहरलाल किसी स्वार्थ के प्रतिनिधि नहीं है। भारत के भारतीय सत्त्व के सरकार के प्रति निधि हैं। फिर भी उसकी सत्ता के प्रतिनिधि उन्हें नहीं कहा जा सकता है। भारत उनके लिए भूगोल नहीं है मानो एक आत्मा है एक आन्ध्र ह एक आब धमकता है। स्थानिक दूरमन के मिलने जुसने में जो दिव्य होती है जवाहरलाल के साथ उसकी कल्पना भी मुश्किल है। कारण जवाहरलाल के पास देश की क्या अपनी निज की अस्मिता के लिये भी स्थान नहीं है। यह शक्ति से है कि शासक के साथ वह मित्र भी है सेवक भी है। सच पूछिये तो सही ढंग के वह शासक ही नहीं है।

आत्मी शरीर रखकर चलता है। लेकिन कल्पना उस बंधन से उल्टी ही उड़ती है। शारदा कल्पना विहारी नहीं हो सकता। इस तरह शासक अनागत के आवाहन में सदा ही बाधा है। वह स्थिति से बंध जाता है और गति यथा किंचित उससे रहती ही है। काल-गति उस ताड़कर अपने को सम्पन्न करती है। शासक और कवि में इसलिये मौलिक विरोध है। जवाहरलाल में यह विरोध कम नहीं हो गया " लेकिन कभी वह अखरता नहीं है। वहना मुक्ति है कि वह नर्दियक अधिन है या राजनीति में। कल्पना नील नहीं तो वह कुछ भी नहीं। यह कल्पना-गीतता प्रघात मंत्री नहर के नियम भूषण है दूषण बिल्कुल नहीं। यही जवाहरलाल की प्रतिभा का प्रमण है।

नता की मिन कोटि है। राजा का सदा राजा होना है और कुर्मी आत्मी का अफसर बनना सकती है। पर नता गामक में अनागत है। नता उगता है शासक दवाता है। जगती है कि आत्मा का विचार नासक में अधिन है। मगीर

जवाहरलाल इस अपनी विशिष्टता पर प्रसन्न नहीं हैं। यह विशेषता है जो राजनीतिक रखबर भी उन्हें स्मरणीय बनाती है। अधिकांश राजनीतिक विस्तार करते हैं। इसलिये तत्काल में उनकी सीमा है और वही समाप्ति है। भावी में उनकी व्याप्ति नहीं होती। अमरता में वे नहीं उठते। मर कर वे ऐसे मिटते हैं कि किसी कृतज्ञता में याद शेष नहीं छोड़ जाते। इतिहास उन पर धूल ही चढ़ाता जाता है। अतीत भीतर से उन्हें जमाने की चिंता भविष्य की नहीं होती। पर जवाहरलाल को अपनी निज की विशिष्टता अंदर से प्रिय नहीं यही अमरता के प्रति उनका दावा है। अतः में यहाँ उनकी समस्या भी है।

वह शक्ति के क्षेत्र में नगण्य नहीं है। वह क्षेत्र आवश्यक रूप में स्वार्थों का क्षेत्र है। शक्ति का मतलब ही है कि सामने तुलने को दूगरी शक्ति भी है। उस शब्द में ही प्रति-बुद्ध है। विरोध और विग्रह के बिना शक्ति निष्फल ही अधिक है। विग्रह समाप्त विरोधी स्वार्थों में टूटता करता है। ऐसा होकर भी जवाहरलाल किसी स्वाध के प्रतिनिधि नहीं हैं। भारत के भारतीय सत्व के सरकार के प्रति निधि हैं। फिर भी उसकी सत्ता के प्रतिनिधि उन्हें नहीं कहा जा सकता है। भारत उनका लिए भूगोल नहीं है, मानो एक आत्मा है एक आत्मा है एक आध्यात्मिकता है। स्थानिक द्रुमन के मिलने जुनन में जो दिग्भक्त होता है जवाहरलाल के साथ उसकी कल्पना भी मुश्किल है। कारण जवाहरलाल के पास देश की क्या अपनी निज की अस्मिता के लिये भी स्थान नहीं है। यह हमी से है कि शासक के साथ वह मित्र भी है सेवक भी है। सच पूछिये तो सही ढंग के वह शासन ही नहीं है।

धार्मिक शरीर रखकर धनता है। लेकिन कल्पना उस धन से उल्टी ही उड़ती है। धारता कल्पना विहारी नहीं हो सकता। इस तरह शासन अनागत के आवाहन में सदा ही बाधा है। वह स्थिति से बंध जाता है और गति यथा किंचित नसस सकती ही है। काल-गति उस तोड़कर अपने को सम्पन्न करती है। शासक और कवि में इंगलिय मौलिक विरोध है। जवाहरलाल में यह विरोध कम नहीं हो गया है लेकिन कभी वह अस्तरता नहीं है। कहना मुश्किल है कि वह न हिंस्रक अधिन है या राजनीतिक। कल्पना शील नहीं तो वह कुछ भी नहीं। यह कल्पना-गोचरता प्रथम मथो नेहरू के लिये भ्रूण है दूषण बिल्कुल नहीं। यहाँ जवाहरलाल की प्रतिभा का प्रमग है।

नेता की मिल्न कोटि है। राजा का वेग राजा होता है और कृमी धार्मिक को अफगर बना सकती है। पर नेता शासक में धनता है। नेता उद्योग है शासक दवाना है। जरूरी है कि धार्मिक का विचार नायक में अधिन हो शरीर

का लगाव कम। वह निस्पृह हो बहादुर हो खरा और बलाग हो। शरीर से स्वायत्तता है आत्मा से ही प्रेम। आत्मोन्मुख होने पर ही व्यक्तित्व उठता है। आत्मवान ही भ्रमन भ्रम में विराम बन सकता है। नायक को इस तरह भ्रमण की ओर ही बढना होता है जिसमें सहारा केवल उसकी थड्डा हो। भ्रम अनुयायी होता है उसका शरीर। भाजकम पार्टी लीडर पार्टी से भ्रमण और ऊपर कुछ रह नहीं जाता इसलिए यह जोड़-तोड़ में रहता है। उसकी घुबी घतुर्ग की बन जानी है। निष्कपटता में उस स्वतंत्र है। शीघ्र और पराक्रम उसमें भ्रमण नहीं सकते। किन्तु जवाहरलाल की धातु और है। देश और पार्टी के नेता होकर भी देश और पार्टी का वह भ्रमण नहीं पहुँचा पाते हैं कि वह उनसे घिरे हैं। यही उनका नेतृत्व है जो उन्हें ठकता नहीं उल्टा मुक्त करता है। नेतृत्व उनकी चिन्ता नहीं बोझ की भाँति आ गया हुआ एक दायित्व है जो विनम्र और कुशल तो उन्हें बना सकता है नायक और कुटिल नहीं।

दुनिया की भाँज की स्थिति में जवाहरलाल से बहुत आगाए हैं। गांधी ने एक नई दृष्टि और नई परम्परा जाग्रत की थी। उन्होंने दिखाया कि सत्ता का काम ईश्वर की नीति से ही चलना और चलाना होगा। सांसारिक नीति कोई भ्रमण नहीं हो सकती। आत्मा के अनुसार चलने में ही शरीर का स्वास्थ्य है। इसलिए सत्ता के भ्रम के लिए सम्राट और राजनेता नहीं चाहिए सबक और शहीद चाहिये। शासन और शक्ति का कोई भूँटी है। शासक बोझ है इसलिए शासक बदलने उनका सत्यायम अधिक करना और शासन तंत्र को इधर या उधर करने से भ्रमण कुछ लाभ होने जाने वाला नहीं है। आर्थिक कह कर जिस नायक के सहारे विदेश में महयोगी शांत और सही व्यवस्था हम जानती हैं उसका सत्य भ्रम और हिसाब में नहीं है। मूल की ओर से उसे नतिव और सेवा भावी होना है। उसके लिए सबसे पहले हृदय का परिवर्तन करना है स्वर्ण की जगह प्रायना से चलना है। सारी दृष्टि को ही बदलना है। सब शासन और श्रम दोनों के ही क्रम और क्रम बदलते दिखाई देंगे। उनसे विकार को दूर करके उन्हें संस्कार देना है। महा तो रुग्ण साधन से नीराग साध्य नहीं प्राप्त होने वाला है।

गांधी की यह दृष्टि सारे राजनतिक सत्ता के लिए चुनौती है। खासकर भ्रम जत्र कि नसी में तनाव है। शास्त्र भीषण वेग से तैयार हो रहे हैं और एक दूसरे को भ्रमण करने और शीघ्र और दुष्प्रमाणित करने की कोशिश चल रही है। तब में तब युद्ध चारा और सत्ता अनुभव होता है गांधी का माय

राज का एक राजामग रह जाता है। जवाहरलाल के हाथ उस परम्परा का उत्तराधिकारी है और उस भाग के द्वार की कुजी है। गांधी जगता और भावनी में रहते थे। जवाहरलाल सूट और महन नीम मन है। गांधी चर्चों पर मन रखते थे जवाहरलाल की मान्य मनीन और ट्रेकर पर है। यह मत है और जवाहरलाल को वक्त पासना तय करना है। फिर भा विनोवा से भी ज्यादा उस परम्परा की रू। जवाहरलाल के हाथ है—और विलायता तो जवाहर से वह नीज मिनती और ल ननी है। नहीं तो नहीं कहा जा सकता है कि तीसरा विन्वयुद्ध म होगा या कि फिर उमी की कही म चौथा प्रलय युद्ध म आकर टूटगा।

एक बात साफ है। वस्तु की बहुतायत मनका मनीनी उत्पादन सबकी वसो प्राकृतिकतामा की भ्रष्ट पूति—इस तरफ जवाहरलाल का हल और जोर हैं तो यह सब वस्तु की चाह के कारण नहीं बल्कि खरी मानव सहानुभूति के कारण है। इमान से उस प्यार है और धादमी को भूखा नगा दखना यह सह नहीं करता। भूखे नगे को गांधी शरिनासायण कह कर जब कि अपने से ऊप स्थान पर रखते थे तब जवाहरलाल उस भावना म उनका साथ नहीं दे पाता। इस मनका समायुधो की विरोधना कह लीजिए। लेकिन अगर वह कपड से और रहन-सहन से गलीन रहते हैं तो इसलिए कि वह नहीं चाहते कि कोई एक घड़ी भी अपना भूखा नगापन दर्शाइन करे। गांधी जा जिन मंदिर म बिठाते हैं उसका अपने कर्मरे म काम रखना भी जवाहरलाल बदांत नहीं कर सकत। इस उपो विरोधाभास के नीच दू की थोड़ी बहुत प्रातरिक एका भी नहीं देख सकत तो हम खुला घासो प्रथ ही रहगे।

अगर जवाहरमान धादना और नीति से भ्रष्टन भी है तो वह दूरे हा उन्हें भेटकाता है। उस दूरे मे बढकर भी क्या कोई धादना है? कोई नीति है? जवाहरलाल इसी मूल प्ररणा के कारण गांधीवादियो म अधिक गांधी परम्परा के उत्तराधिकारी है।

जिस पर हम ताह हम विस्मय कर सकने हैं उसी तरह हम तरस भी खा सकते हैं। नयकेर विरोधाभास जवाहरलाल में आ जुड हैं। व्यक्तित्व जो जितना ममूद और सम्पन्न हागा उतना ही विरोधाभासों का क्रहा सत्र होगा। समस्त मम व और एकाध जहाँ परिपूर्ण होता है वह तो है भगवान। गुणों सब वहीं से हैं और वह स्वयं निगुण है। साक्षरें सब कुछे उस निराकारें में स हैं। परे जवाहरलाल न प्रति गहरी बेरुखा होती है जबे दखते हैं कि इतने तीव्र विरोधा को भीतर रखर भी उन्हें उन भगवानें की उपासना क्रान्त नहीं है जो संभरें विरोधों के निविर्गेष धरत है और सबे धर्माति के लिए बिरे धरति है।

का गगाव कम । वह निम्पूह हो बहादुर हो खरा और बलाग हो । गरीर सं स्वाथ उपजता है आत्मा से ही प्रम । आत्मो-मुक्त होने पर ही व्यक्ति उठता है । आत्मवान ही प्रमल प्रथम विराट बन सकता है । नायक को इस तरह प्रणय की ओर ही बढना हाता है जिमम सहारा केवल उसकी थडा हा । प्रम अनुयायी होता है उमका शरीर । आजकल पार्टी लीडर पार्टी से प्रलग और ऊपर कुछ रह नही जाता इसलिए वह जोड-तोड म रहता है । उसकी खूबी चतुराई की बन जाता है । निष्कपटता म उस खतरा है । शीय और पराक्रम उसम भलक नही सकत । किन्तु जवाहरलाल की धातु और है । दश और पार्टी क नेता होकर भी दश और पार्टी को वह आदवानन नही पहुचा पाते हैं कि यह उनसे घिरे है । यही उनका नेतृत्व है आ उन्ह ठकता नही उल्ट मुक्त करता है । नेतृत्व उनकी चिन्ता नही बोझ की भाति आ गया हुआ एक दायित्व है जो बिनम और कुशल तो उह बना सकता है, कायर और कुटिल नही ।

दुनिया की आज की स्थिति मे जवाहरलाल स बहुत आशाए हैं । गांधी ने एक नई दृष्टि और नई परम्परा आमत की थी । उहोने दिखाया कि ससार का काम ईश्वर की नाति स ही चलगा और चलाना हागा । सासारिक नीति कोई प्रलग नही हो सकती । आत्मा के अनुसार चलने म ही गरीर का स्वास्थ्य है । इसलिए ससार क भल के लिए सम्राट और राजनेता नही चाहिए सेवक और गहीद चाहिये । शासक और श्रमिक को खाई भूठी है । शासक बोझ है इसलिए शासक बदलने उनकी सख्या कम अधिक करन और शासन तंत्र को इधर या उधर करने से प्रसली कुछ लाभ होने जाने वाला नही है । आर्थिक कह कर जिस कार्यक्रम क सहारे विश्व म सहयोगी शांत और सही व्यवस्था हमे जानी है उसका सध्य प्रम और हिसाब म नही है । मून की ओर से उसे नैतिक और सेवा भावी होना है । उसके लिए सबसे पहले हृदय का परिवर्तन करना है स्वर्घा की जगह प्रार्थना स चलना है । सारी दृष्टि को ही बदल डालना है । तब शासन और श्रम दोनो के ही क्रम और कम बदलते दिखाई देंगे । उनके विकार को दूर करके उन्हे सम्कार देना है । नही तो सण साधन से नीगग साध्य नही प्राप्त होने वाला है ।

गांधी की यह दृष्टि सारे राजनतिक ससार के लिए चुनौती है । खासकर प्रम जब कि नसो म तनाव है । शास्त्र भीरण बग स तयार हो रह हैं और एक दूसरे को घटार करन और दापी और दुष्ट प्रमाणित करन की बोशिश चन रही हैं । तत्र म जब मुड चारो ओर स लगा अनुभव होता है गांधी का माग

आण का एक राज्यात्मक रह जाता है। जवाहरलाल के हाथ उस परम्परा का उत्तराधिकारी है और उस भाग के द्वार की कुंजी है। गांधी न्याय और भावना में रहते थे। जवाहरलाल सूत्र और महान् हाम मन्त्र हैं। गांधी चारों पर मन रखते थे जवाहरलाल का भाव मनीन और दृढ़ था है। यह अंतर है और जवाहरलाल का बहुत पासता तय करना है। फिर भा विनायता से भी ज्यादा उस परम्परा की रक्षा जवाहरलाल के हाथ है—और विनायता तो जवाहरलाल यह राज मिलनी और लानी है। नतीजा नही कहा जा सकता है कि तीसरा विचार्युद्ध न होगा या नि फिर उमी का कहां म सीया प्रलय युद्ध न घाबर टूटता।

एक बात साफ है। वस्तु की बहुतायत नही मनीन उत्पादन सबकी घसी भावस्यवादाभा की भ्रष्ट प्रति—इस तरफ जवाहरलाल का हल और जार हैं तां यह युद्ध मनु का चाहक कारण नही बल्कि गरी मानव सहानुभूति के कारण है। इन्मान से उन प्यार है और धार्मिकी का भूया नया दखता वह सह नही सकता। भूमे नगे की गांधी 'परिनायण' कह कर जब कि अपने से ऊच स्थान पर रखत थे तब जवाहरलाल उस भावना में उनका साथ नहीं दे पात। इस 'नर' स्थापुर्मा की विपत्ता कह लीगिए। जिन धरत वह कपड से और रहन सहन से गालान रहते हैं ता इसलिए कि वह नही चाहत कि कोई एक घड़ी भी अपने भूया नयापन बर्णन करे। गांधी जा जिस मंदिर में विगत हैं उनका धाने बर्णने में काम रखना भी जवाहरलाल वर्दांत नही कर सकत। इस ऊपरी विरोधाभास के नीचे दम की घाटी बहुत आतंकि एषता भी नही देख मरत ता हम युवा धार्मिक भेष हा रह्य।

संगर जवाहरलाल धार्मिक और नीति से भ्रष्ट भी है ता कहें दे हा उन्हें भेटकाता है। उस दद से बचकर भी क्या कोई आशा है? कोई नीति है? जवाहरलाल इवी मून प्ररणा क कारण गांधीवादिता से अधिक गोधा परम्परा के संतगाधिकारी है।

जिस पर हमें तरह हम विस्मय कर सकते हैं उसी तरह हम तरस भी सा सकत हैं। नयकर विरोधाभास जवाहरलाल में घा जुड़ है। व्यवित्तिक जो जितना नमृद और समान होगा उनका ही विरोधाभास की का काठा क्षत्र होगा। समस्त सम व योग एतन्व नही परिपूर्ण होता है वह ता है भगवान। गुण सब वहीं से हैं और वह स्वयं नियुक्त है साकारं सब कुछ उस निराकार में से है। पर जवाहरलाल ने प्रति गहरी कसूर हीतो है जब देखते हैं कि इतने तीव्र विरोधा को भीतर रखकर भी उन्हें उमें भगवान की उपासना आये नही है पर समस्त विरोधों के निमित्त प्रसन्न हैं और उये प्रगति के लिए चिंतित हैं।

जवाहरलाल अत ममाधान नहीं जो कर्माधित् निर्धारण है। वह सतत प्रश्न है जो धायत यह जीवन है। वह एक गम्भीर और गहन द्रैजडी है। महान् जो भी है द्रैजिक है। जवाहरलाल म महता है और वही द्रैजडी है। यदि कवल वह व्यम्न न रहत बलिङ् आगे यदकर अपने लिए छीन कर एवाध पल की फुमत वह मो न नेत और उस फुमत म सचमुच दून्य होने अर्थात् स्वय न-हान की कृतायथा पा सकत तो ? ता—

पर यह तो ! ता ठानी की कर्पना है। जवाहरलाल म गाधी होने का दावा करन की अदया हम कस कर सकत है। हम कस चाह सवन है कि अन्तरग व्यथा किसी म वद मेकिन अगर उनका मस्तिष्क जो पश्चिम की गिला से खूब सघ गया है तनिक सह्य होता और सहज-सहानुभूति को बीच म लपक कर उसे बौद्धिक योजनामा का रूप देने म इतना अभ्यस्त न होता तो क्या मचमुच ही यह सहानुभूति उनके मारे व्यक्तित्व को जलाकर आज भाग न बना देती कि जिस पर न कपडा श्विता न पन और महत्व और न वह-वह नये बल्कि अपन समूचेपन म वह भासू और भाग की एक कविता बन जाता !

जवाहरलाल अमरीका सं अपन जन्म क दिन पर ही भारत पहुच है। भारत के यह है और कही कुछ करे जन्म वाला दिन ता उनका भारत के ही भाग्य म रहने वाला है। आज ता दुनिया विग्रह पर लडी है और एक का जा उजला है वही उस कारण दूसरे को जाला दीखता है। क्या हम कह कि नहूँ अमरीका जीत कर आय है ? कहिय तभी उधर दूसरा कहेगा कि अमरीका म वह बिक कर आय है। दोनो ही राष्ट्रगत स्वार्थो को भापा है। उसम भारत का आत्मा नहीं है। कुछ का गिवायत रहा कि भारत के इतिहास में राष्ट्र का उन्म नहा हुमा। इतिहास की जगह जो हो भारत की आत्मा कभी खण्ड के गर्बे म नहा उफनी, अखण्ड की पूजा में ही उसने अपनी लगन रखी। विश्व की और मानव जाति की यह अखण्डता आज बीसवी सदी म लय्य की और व्यवहार को बात हो आई है। भारत ने तो सना माना कि यह अखण्ड ही सत्य था और है लेकिन समाज वादियो ने उसे स्वप्न कहा। आज यद्यपि विश्व अखण्ड होकर समझ है फिर भी राष्ट्र अपने उत्कट राष्ट्रवादों स चहके हुए हैं। व शान्ति चाहत हैं पर औरों के सिर चढकर। क्या अक्ष तर हमी कृति म से मुद नही निकलते रहे हैं ? अपने को महत्व देने का यह आग्रह तो सदा का नियम है। किंतु दूसरों को महत्व देकर बसने का नियम सिफ एक भारत म पनपा है। वही अहिंसा का नियम है जिसे गांधी ने फिर से स्वय भारत को और उसक द्वारा जगत को अर्पित किया है। भारत में अत्रवर्ती भी हुए जिन्होंने आक्रमणों को मूना और परास्त

किया और देश के माथे को ऊंचा रखा। फिर भी भारत के आत्म शोय का प्रताप ज्वलत होता है—राम-कृष्ण में बुद्ध-महावीर में शंकर चतुर्धर म। और वास्तव में गांधी में वही है जो जगतवद्नीय हैं। भारत के बाहुबल को कभी इतना दर्पी बनने नहीं दिया गया कि वह दूसरे के लिए सगय और नीति का कारण हो। सदा ही वह आशवासन का साधन और वाहक होकर रहा।

जवाहरलाल पश्चिम को उसी विश्व की अखण्डता का दिग्गमन कराते हुए अमरीका से आ रहे हैं। अमरीकी अहता को उनसे उत्तजन और अभिनन्दन नहीं मिला है। महत्वाकांक्षा को नहीं बल्कि पश्चिम की उत्तरदायित्व भावना को उन्होंने उभारा है। भारत के योग्य उत्तराधिकारी का अनुरूप ही उनका यह काम हुआ है। सत्ता के प्रतिनिधि तो वह थे और इन हैसियत से उसकी तकनीकी आवश्यकताओं का उन्होंने ध्यान रखा है पर भारत के सच्चे सबकालीन सदेश का प्रतिनिधित्व भी उन्होंने बहा किया है।

आगामी विश्व में वस्तु से व्यक्त का महत्व निश्चय अधिक होने वाला है। तब विश्व का केंद्र पश्चिम नहीं पूव होगा। क्योंकि इसान ज्यादा यहा बसता है। एशिया सिफ खपत की मण्डी है उस समय तक कि जब मशीन पर हमारा भार है। पर आघार जब स्वयं मनुष्य होगा सब एशिया अनायाम विश्व की शक्ति छाति और प्रकाश देने वाला भूखण्ड हो जायेगा। अडर डवलपड जो वस्तु की ओर से है वह आत्मा का ओर से भी अविकसित है—यह मानकर खलना योक्षक अमरीका के लिए भयकर खतरे की बात होगी। जवाहरलाल से यह चेतावनी पूरे और सही अर्थ में मुत्का को मिली है। जिनको नहीं मिली हम आशा करनी चाहिए कि कान संकेत से वे भी जानेंगे और अधिक गफसत में नहीं रहेंगे।

भारत के अतीत गौरव के उत्तराधिकारी, भारत के आत्मगत सदेश के वाहन गांधी के नियुक्त जवाहरलाल का इस आगमन और नव धप पर हम अभिनन्दन करते हैं।

गान्धी, नेहरू और हम

नेहरू अब नहीं रहे। सन् १९४७ में जब (सन् १९६४) तक के काल को नेहरू युग कहा जा सकता है। उसका आरम्भ उस भारत से हुआ जिसमें से पाकिस्तान कटकर भलग हो चका था। भारत का बना स्वराज्य धाया ही था। गांधीजी राजनीतिक क्षमता में मानो विचारपूर्वक हटकर अन्तवारे के कारण जो हिन्दू और मुस्लिम सजाओं के बीच गहरा घाव बन गया था उसे उपचार में लग गये थे। अन्त में यह काम बुनियादी का था जहाँ में स्वयं राजनीति को आघात मितता है। यामकर अगर राजनीति को मानव नीति से स्वतंत्र न रहना हो युद्ध की विषमता से उसे उत्तीर्ण होना हो तो वह बुनियादी काम अनिवार्य ही हो जाना है। कहना चाहिए कि इस कट स्वराज्य के दुर्भाग के क्षण में ही गांधी जी उस स्वराज्य को सच्चा मयुक्त और सम्पूर्ण बनाने के जह के काम में जट गये थे। यह गति की राजनीति में दूर हटा हुआ काम मान्य होता था और स्वराज्य का प्रश्न अगर धूमधाम में दिल्ली में मनाया जा रहा था तो गांधी जी पाव पदम उस यवन दूर नोभास्वामी के धीरान में धूम रहे थे। हुकमते दो भले ही हो गई हों हिन्दू और मुस्लिम के नाम पर हृदय दो नहीं हुए है और नहीं हो पायेंगे इस अपने पाव को सच्चा करने में वे लग गये थे।

गांधीजी के बाद वह काम छूट गया और सन् १९४७ में १९६४ तक का नेहरूयुग गांधीजी के छूटे हुए अधूरे काम को आगे नहीं ले जा सका। वल्लि वह मुख्यता से उस समस्या में धिगा और अटका रहा। नेहरू का मन में हिन्दू मुस्लिम का कोई भेद न था। उनके लिए यह ध्यान की बात थी कि भारत दग और भारतीय शासन धम निरपेक्ष रहेगा और मुस्लिम का किसी भी विचार से यहा हिन्दू से दायम स्थान न होगा। लेकिन काग्रस विभाजन मान चकी थी और नेहरू विभवन राष्ट्र के प्रधान मंत्री बने हुए थे। इस तरह वह पाकिस्तान के लोकमत पर या उसकी शासन-नीति पर किसी प्रकार का प्रभाव डालने में मानों असमय हो गये थे। भारतीय स्वराज्य के सत्रह वर्षों का यह नेहरू-युग उस प्रश्न से परिणामतः निरन्तर इस प्रकार आनात बना रहा कि धाती के रूप में

वह भ्रान्तवाले उत्तराधिकारियों के समक्ष भी यह प्रश्न दीवार की तरह भंग नहीं हो पाया था। पूर्वी बंगाल से लगातार आने जान वाले विस्थापितों का सवाल है। इधर काश्मीर का सवाल भी खासकर नेहरू-मुन्शी साहब के बाहर आने पर दहकते भंगार के मानिष्ठ बन गया है। दो अलग कौमों के रूप में हिन्दू और मुस्लिम को न तो गांधीजी न माना था न नेहरू के मन में एक पल के लिए इसे स्वीकार किया। लेकिन नेहरू विभाजन के भ्रम में जब कि गांधीजी ने अपने का विभक्त नहीं होने दिया न किसी विभक्तता के साथ अपने को जुड़ने दिया। दूसरे शब्दों में हिन्दू-मुस्लिम-एक्य गांधीजी के लिए सत्य और कतव्य बना रहा। नेहरू के साथ उससे चलता हुआ। सफट बनकर यह हिन्दू मुस्लिम प्रश्न उनको घरे ही नहीं रहा उन पर महगता रहा और उनके सार चिन्तन और काम को चनौती देता रहा।

यह मूलभूत अंतर है और इसको पहचानने की जरूरत है। गांधीजी नीति और नतिकता की भूमिका से इस प्रश्न की ओर बढ़ते थे। इसलिए उस सम्बन्ध में उनका अधिकार अभूषण और अक्षण्ड रहता था। नेहरू की भूमिका राजनैतिक हो जाती थी और उसमें का दायित्व चाहे अनचाहे ही हो मल हो जाता था। उससे प्रश्न उत्पन्नता था और उसमें पंच पड़ जाते थे। हृदय की भूमिका रह नहीं जाती थी और अस्मिताओं की सतह पर सवाल उठने आता था। हृदय-परिवर्तन की जगह कुछ हार जीत का चासावरण बनता और परिणाम तनाव होता था।

नेहरू अपने जीवन के आरम्भ से ही मानीं गांधी के प्रभाव में आ गये थे। उन्हीं से उन्होंने सावजनिक प्रवृत्ति की शिक्षा और दीक्षा पाई। उनके मन पर गहरा प्रभाव पड़ा गांधीजी के अनोखे व्यक्तित्व और चरित्र का। लेकिन गांधी के ईश्वर बड़, प्रापना का और उनकी धर्म चिन्तना का स्थान वहां नहीं बन सका। मस्तिष्क का जो सस्कार उनकी विलापती गिना-पौला ने दिया था वह किसी तरह घुल नहीं सका। फिर भी उससे एकदम भिन्न प्रकार का आदर्शवाद गांधी के सम्पर्क के कारण उनमें घर कर बैठा। नतिक मूल्यों की आस्था और उनकी आवश्यकता के बारे में नेहरू उस तरह उदासीन फिर नहीं रह सकते थे और न ही यह कि जिने पद्विम के राजनेता रह जाते थे। किन्तु यह हृदय का प्रश्न था—मस्तिष्क को जो सस्कार पश्चिम से मिला वह तो रहता ही चला गया।

इन परस्पर विपरीत वृत्तियों के सामंजस्य और असामंजस्य के परिणामस्वरूप नेहरू-युग ने अपना निर्माण पाया। देश ने तरक्की की ओर बढ़े बांध और आरम्भ एत लड़ हुए कि एगिया में उनका सानी नहीं है। यथानिक और

गान्धी, नेहरू और हम

नेहरू अद्य नहीं रह। मन् १९४७ स अद्य (मन् १९६४) तक वे काल को नेहरू युग कहा जा सकता है। उसका आरम्भ उम मार्ग से हुआ जिसमें से पाकिस्तान कटकर अलग हो चुका था। भारत का बग स्वायत्त प्राया ही था। गांधीजी राज नीतिक क्षेत्र में मानों विचारपूर्वक हटकर अटवारे के कारण जो हिन्दू और मुस्लिम मज्राओं के बीच गहरा घाव बन गया था उसने उपचार में लग गये थे। असल में यह काम बुनियाद का था जहां में स्वयं राजनीति को आधार मिलता है। सामक्य अंगर राजनीति को मानव-नीति से स्वतंत्र न रहना हो युद्ध की बिबशता से उने उत्तीर्ण होना हो तो वह बुनियादी काम अविवाय ही हो जाता है। रहना चाहिए कि एस कते स्वराय क दुर्योग के क्षण स ही गांधी जी उस स्वराय की सच्चा सप्रवृत्त और सम्पूर्ण बनाने के जठ के काम में जुट गये थे। यह अविन की राजनीति से दूर हटा हुआ काम मालूम होता था और स्वराय का प्रश्न अंगर घूमघाम में लिहनी में मनाया जा रहा था तो गांधी जी पाव पल उस वकत दूर नामाखानी के घीरान में घूम रहे थे। हुकूमतें दो भल ही हो गईं हा हिन्दू और मुस्लिम क नाम पर हृदय दो नहीं हुए है और नहीं हो पायेंगे इस अने दाव की सच्चा करने में वे लग गये थे।

गांधीजी के बाद यह काम छूट गया और सन् १९४७ स १९६४ तक का नेहरूयुग गांधीजी के छूटे हुए अधूरे काम को आगे नहीं ले जा सका। वस्कि वह मुख्यता में उम समस्या में धिरा और अटका रहा। नेहरू के मन में हिन्दू मुस्लिम का कोई भेद न था। उनके लिए यह धान की बात थी कि भारत बग और भारतीय शासन धम निरपेक्ष रहेगा और मुस्लिम का किसी भी विचार से यहाँ हिन्दू से दोयम स्थान न होगा। लेकिन कांग्रेस विभाजन मान चुकी थी और नेहरू विमथन राष्ट्र के प्रधान मंत्री बन हुए थे। इस तरह वह पाकिस्तान के लोकमत पर या उसकी शासन-नीति पर किसी प्रकार का प्रभाव डालन में मानों असमथ हो गये थे। भारतीय स्वराय के सत्रह वर्षों का यह नेहरू-युग उस प्रश्न से परिणामतः निरंतर इस प्रकार आशत बना रहा कि शांती के रूप में

वह मानेवाले उत्तराधिकारियों के समक्ष भी यह प्रश्न दीवार की तरह खड़ा हुआ था। पूर्वी बंगाल से लगातार भ्रान्त जान वाला विस्थापिता का गठान है। इस वरमोर का समाप्त भी खासकर नेहरू दुल्ला माहब के बाहर भ्रान्त पर दहकते भ्रान्त के मानिंद बन गया है। दो भ्रान्त कौमो व रूप म हिंदू और मुस्लिम को न तो गांधीजी न माना था न नेहरू व मन ने एक पल के लिए इसे स्वीकार किया। लेकिन नेहरू विभाजन के भ्रान्त य जब कि गांधीजी न अपने को विभक्त नहीं होने दिया न किसी विभक्ता के साथ अपने को जुटन दिया। दूसरे हाथ में हिन्दू-मुस्लिम-लेवय गांधीजी के लिए सत्य और कतव्य बना रहा। नेहरू के साथ उससे उलटा हुआ। सकट बनवर यह हिंदू मुस्लिम प्रश्न उनको धरे ही नहीं रहा उन पर महराता रहा और उनके सारे चिंतन और काम को चुनौती देता रहा।

यह मूलभूत भ्रान्त है और इसको पहचानने को जरूरत है। गांधीजी नीति और नैतिकता की भूमिका से इस प्रश्न को और चर्चते थे। इसलिए उस सम्बंध में उनका अधिकार अक्षुण्ण और अखण्ड रहता था। नेहरू की भूमिका राजनैतिक हो जाती थी और उससे का शक्ति चाहे भ्रान्तवाहे ही हो मेल हो जाता था। उसमें प्रश्न उलभ्रता था और उसमें पेश पह जाने थे। हृदय की भूमिका रह नहीं जाती थी और अस्मिताओं की सतह पर सवाल उतर जाता था। हृदय-परिवर्तन का जगह कुछ हार जीत का वातावरण बनता और परिणाम सनाव होता था।

नेहरू अपने जीवन के आरम्भ से ही मानो गांधी के प्रभाव में आ गए थे। उन्हीं से उन्होंने सावजनिक प्रवृत्ति की शिक्षा और दीक्षा पाई। उनके मन पर गहरा प्रभाव पड़ा गांधीजी के अनोखे व्यक्तित्व और चरित्र का। लेकिन गांधी के ईश्वर का प्रार्थना का और उनकी घम चिंतना का स्थान कहा नहीं बन सका। मस्तिष्क को जो मस्कार उनकी विलासतो सिद्धांतों का न दिया था वह किसी तरह घुन नहीं सवा। फिर भी उससे एकत्र मिन प्रकार का आदेशवाद गांधी के सम्बंध के कारण उनमें घर कर बठा। नतिव मूल्य की आस्था और उनकी आवश्यकता के धारे में नेहरू उन तरह उदासीन फिर नहीं रह सकते थे और न ही रहे कि जितने पश्चिम के राजनेता रह जाते थे। किन्तु यह हृदय का प्रश्न था—मस्तिष्क को जो मस्कार पश्चिम से मिला वह ता रहता ही खला गया।

इन परस्पर विपरीत वृत्तियों के सामंजस्य और असामंजस्य के परिणाम स्वरूप नेहरू-युग ने अपना निर्माण पाया। देस ने तरकी की और कई बांध और कारणान एत मठ हुए कि एगिया में उनका सानी मूहा है। वैज्ञानिक और

प्रायिक प्रगति में वह एशिया में सबसे आगे आ गया। जापान का यह भ्रमवाद हो तो हा किन्तु जापानका औद्योगिक प्रगति का आरम्भ आधी सदी से भी अधिक पहले हो चुका था। इस सब प्रगति की शिगा म गांधी विचार नहीं जा सकता था। यह विरोधता थी तो नेहरूनाति की विरोधता थी कि इस सम्बन्ध में देश प्रायिक और औद्योगिक दृष्टि से एकदम पिछड़ी हुई अवस्था से मानो औद्योगिक प्रतिस्पर्धा के क्षय में आ गया। उसकी अन्तर्राष्ट्रीय साल वनी। अन्तर्राष्ट्रीय सत्रों और प्रवक्तियों में इससे अधिकारपूर्ण योग दिया और भाग लिया।

लेकिन दूसरी ओर नये प्रश्न भी पैदा होते चले गये। भारत हिमालय और तिब्बत में सुरक्षा का लेविन तिब्बत बोध में से एकाएक खत्म हो गया और हिमालय सुरक्षा का बजाय सन्कट का चिह्न बन गया। पाकिस्तान की ओर से उठने वाले सवाल बढ़ते ही चले गये। चीन की कीमतें बढ़ी और १ से २ गुनी तक पहुँच गई। अमीर-गरीब के बीच का फासना बहूद चौड़ा हो गया। शहरों में आलीशान भवनों वन और गाँव उजड़ते चल गये। रोजगार बढ़ उससे ज्यादा बेरोजगारी बढ़ गई। मरकरी मुलाजिमों की तादाद कई गुनी हो गई और इनजाम कई गुना ढीला होता चला गया। रुपये का चलन तेज हुआ और उसी परिमाण में अर्थशास्त्र बढ़ा। राजनीतिक दल उठने ही सिद्धान्त हीन और चरित्रहीन बनते गये कि जितना उनका ध्यान चुनाव पर केंद्रित हुआ।

नेहरू युग इन दोनों प्रकार की गतियों में सबसे विशिष्ट माना जायगा। मानना यह भी होगा कि नेहरू के व्यक्तित्व की ओर नेतृत्व की ही यह प्रतिच्छवि थी। निस्संदेह अत्यन्त कमठ और प्रखर वह व्यक्ति था। दिल से उदार उतना ही दिमाग से सम्पन्न लेकिन जस दिन और दिमाग के बीच कहीं कोई कड़ी बन चुकी रह गई हो। उनकी उदारता और सहृदयता का लाभ बाहर के मित्रों ने ही नहीं उठाया बल्कि देश के भीतर के मित्रों ने भी पूरा-पूरा उठाया। अपने काम में वे चौकस थे और अपने को खरा भी आराम नहीं देते थे लेकिन अपनी उदारता में दोष पर दुःख अवश्य कर जाते थे। ओर डालकर या आजिजी जताकर साक्षों करोड़ों को रकम उनसे मजूर करा ली जा सकती थी। वह मदा स्वयम् सुभीते को स्थिति में रहे थे इसलिए लगभग सबको वह सम्पन्न और सुनिश्चित स्थिति में देखना पसन्द कर सकते थे। चुनावों सामाजिक शालीनता का मूल्य उनसे बढ़ा सीधे-सादी साप्ती की कीमत किसी बच्चे की। मूल्य चीज से हटकर चतुर्धर पर आ गये और अन्तरग से बहिरग की अधिक पूछ होने लगी।

ऐसा लगता है कि हम और स्वयं की एकता गांधी नेहरू को नहीं दे पाये। परिणाम यह हुआ कि नेहरू-युग में धाम धाम खूब हुआ। जीवन में वेग धाया और एक-पर एक माने वाली पंचवर्षीय योजनाओं में उत्पादन बढ़ा और निर्यात बढ़ा लेकिन इस सब सफलता के साथ-साथ ऐसा भी लगा जैसे कि अपने स्वयं से देश दूर होता जा रहा है—डेमोक्रेसी है, सोशलिज्म भी हो रहा है, डेमोक्रेटिक सोशलिज्म की तरफ निश्चय ही बढ़ा जा रहा है। पर रामराय कहा है? क्या वह कहीं भास-पास दीखता है? निश्चय ही तरक्की है और सबको यह मानना पड़ता है। पर जस सवाल मन में बना रहता है कि यह सब तरक्की है तो उसकी दिशा क्या है? लक्ष्य क्या है? तरक्की जो की जा रही है वह भाविर क्या पाने के लिये?

और ठीक यही चीज थी जो लगता है, मन्त की ओर खुद नेहरू में चुभन देकर उठने लग गई थी। रह रहकर उन्हें नैतिक मूल्यों की ओर उन पर बल देने की आवश्यकता की याद आती रही। लेकिन नतिक के समक्ष निर्राधिकार जो वेग उठोने खोल दिया था मानों उसमें फुरसत नहीं मिल पाता थी। और बहाव खुल ही गया था—अपनी गति में सब-कुछ को डुबोता हुआ वह बढ़ता चला जा रहा था। आगा होनी थी कि प्रधान मंत्री नेहरू में क्या नता नेहरू कभी जगेगा—और प्रवाह को मूत्र से पकड़कर उस नया मांस नई जिंदा द सकेगा? शक्य नहीं कि उस मोड़ की आवश्यकता थी जिससे नया स्पष्ट हो और प्रवृत्तियों की विविधता में दिशा की एकता रहे। दिल और दिमाग दो तरफ न चल सकें दोनों आत्मा की एक भावाज को गुने और दोनों तदापोन होकर चलना स्वीकार करें।

किन्तु नेहरू अपना योग पूरा कर गये। निश्चय ही ऐतिहासिक उनका काम था और जिन्हें सफलता और परिष्पत्तियों से उह सामना करना पड़ा उनमें कोई भी दूसरा व्यक्ति टूट जा सकता था। नेहरू का यह पारदर्शी निमलता और निस्स्थापता थी कि वह देश की नायब को उन सब भंडारों में से पार गेत ले पाये। इतिहास के कम ही ऐसे नायब पुरुष हूँगे जिनको इतनी कठिन परीक्षा में से गुजरना पड़ा हो। पर की समस्याएँ कम न थी और दूसरा कोई होता तो उनमें घिर जाता। नेहरू की दृष्टि पार देखता रही और प्रणामन में घिरकर भी कविता उनमें मंद नहीं हुई। उनकी बसीयत कविता ही नहीं ता और क्या है? उसमें कहीं भी सोवावाक्षा की भाव नहीं है। अपने को भविष्य में समर कर जाने की साहसा नहीं है। उनमें सग्त साहसा है कि उनका भवशेष कुछ शेष न छोड़ा जाय—उनकी भाविरी राग को भारत के गेता में विभेर दिया

जाय कि उसकी मिट्टी में रचकर और सिंचकर वह यहाँ की हरियाली में लिसे और मरने। यह बहुत कुछ असम्भवनीय संयोग ही है। राजनता उद्दाम होता है। प्रेम सं अधिक उसमें प्रतिस्पर्धा का बन होता है। वह धरती पर प्रभुता का भाग करता है और समय के भायाम के लिए मानो खो जाता है। बारण कात को चुनौती देता हुआ जो जीता रहता है वह तो प्रम है—प्रम की धारणी, प्रम की कृति। शप ता नंबर है और क्षण क साथ बीत जाता है। नेहरू राजनेताओं म मानों अपवाद हैं। प्रम का स्वर उनम सबधा मन्द या भूच्छित नही हुआ और उनकी रचनामा म से उनकी भीठी महक मिले दिना न रहगी। राज के भगड़े भमलों के पार नेहरू की निगाह को कोई उधर से नही फर कि जहा मानव-जाति एक होगी और मनुष्य सब एक-दूसरे के लिए होंगे कोई किसी के लिए खतरा नही रहगा बल्कि भासवासन बनेगा।

भारत के तमाम इतिहास म स्तन विंगाल प्रदेश पर व्यवस्थित शासन करने वाले नेहरू के अलावा दो महापुरुषा क ही नाम आत हैं—एक अंगोक दूसरे अकबर। किन्तु ये दोना ही सम्राट थे। नेहरू वह हैं जिन्होंने सम्राट बनने से इन्कार किया और जो आग्रह पूर्वक अन्त तक एक इन्सान सामाय इन्सान की हैसियत म अपनको बनाये रहे।

उनका सानी दूसरा नहीं मिलेगा। क्या देग म क्या देश से बाहर। जैसे कि उन परिस्थितियों की समता और तुलना भी कही और नही मिल सकती। नेकिन जो आता है वह जाता है और पीछ की पीढ़ियों पर अपना भार और आभार छोड जाता है। भारत ने गांधी को पाया जिनके नेतृत्व म उमने एसी अनोखी पद्धति सं स्वराय प्राप्त किया कि सारा मानव-इतिहास उससे जगमगाता रहेगा। स्वतंत्र भारत विन्तन के मित्र क रूप म उठा ओ अत्र तक के इतिहास के अम को दखते सबधा अनहोनी घटना है। नेहरू स्वतंत्र भारत की ओर से विन्व का गांधीजी की ही देन थे। आशय यह नही कि वह गांधीजी की अनुकृति थ, उम रूप म वह सबधा मौलिक और स्वतंत्र व्यक्तित्व थ। किन्तु गांधीजी की भाति उनका लक्ष्य और उनका आत स्वभाव विन्वजनीन था और दाना का प्रभाव विन्वजाति की दिगा म था। इस विनिष् परम्परा की धाती अब आई है उम काग्रम-मस्या पर जिसके द्वारा इन दोनों विभूति-पुरुषों ने काम किया। यह सबके लिए विम्मय और सन्तोष की बात आई कि काग्रम ने एकमत सं अपने नेता का निर्वाचन किया है। यदि इनी कुशलता और उदारता का परिषय काग्रस ने अन्तदनीय क्षत्र में भी लिया तो देग म उस भावात्मक एकता का बीज पड सकेगा जिसकी बहुत भावश्यनता है। विनासपूर्वक हम निदलीय सोवतंत्र

सक भी पहुँच सकते हैं। ऐसा कुछ यदि भारतवर्ष सम्भव करके दिखा सका तो गांधीजी से धारम्भ हुई परम्परा सफल हुई मानी जा सकती है। आशा रखनी चाहिए कि कांग्रेस के मतिमान बन्धु उस ऊँचाई को बल्पना में लाने में समय हो सकेंगे। तभी अपने इन उस्लेखनीय पूर्वजों के प्रति उन्हें उन्नयता मिली मानी जा सकेगी।

जुलाई, '६४

■ ■ ■

